

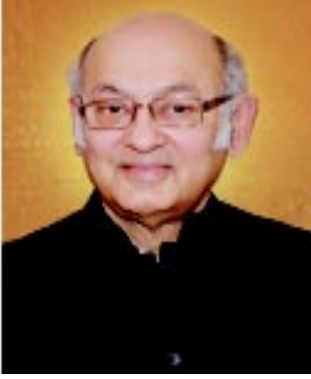
उन्मीलन

(शोध और सृजन)

अंक-8

वर्ष-2014

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
कन्या महाविद्यालय, जालन्धर।



संदेश

यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि हिन्दी विभाग के सद्प्रयत्नों के फलस्वरूप 'उन्मीलन : शोध और सृजन' अपनी रचनात्मक यात्रा के आगामी सोपान की ओर अग्रसर है। शोध यदि हमारी सर्जनात्मक क्षमताओं का मौलिक एवं रचनात्मक निकष है तो भाषा वह माध्यम है जो इसे संवेदना और चिंतन की गहराई देता है और सम्प्रेषण का कौशल भी। इसलिए स्वभाषा की रचनात्मक सम्भावनाओं से हमारी युवा पीढ़ी का परिचय उसके मानसिक, भावात्मक एवं बौद्धिक विकास की अनिवार्य शर्त है। हिन्दी भारतीय भावनाओं की भाषा है और भारत के सांस्कृतिक गौरव की संवाहिका है। अतः अपनी भाषा के गौरव के प्रति विद्यार्थियों को संवेदनशील बनाना कन्या महाविद्यालय की अविरोध परम्परा रही है। भूमण्डलीकरण के इस दौर में भाषा के अपसंस्करण एवं वैचारिक प्रदूषण के बढ़ रहे संकट के प्रति युवा पीढ़ी को सजग करते हुए उन्हें स्वभाषा की सामर्थ्य एवं सम्भावनाओं को समझने-बुझने के लिए प्रेरित करना शिक्षकों की नैतिक ज़िम्मेदारी है। 'उन्मीलन' के अनवरत प्रकाशन के द्वारा कन्या महाविद्यालय का हिन्दी विभाग भाषा एवं साहित्य-चिंतन के गहन-गम्भीर एवं व्यापक सामाजिक सरोकारों को समझने की दृष्टि देने के साथ-साथ उन्हें रचनात्मक साहित्य में नई राहों के अन्वेषण के लिए प्रेरित करने में सहयोग देता रहेगा, इसी विश्वास एवं शुभकामनाओं के साथ ...

-चन्द्रमोहन
अध्यक्ष, आर्य शिक्षा मण्डल

संदेश



भाषा मानव समाज की सबसे अमूल्य धरोहर है क्योंकि यही वह माध्यम है जो अलग-अलग मनुष्यों की भावनाओं में सांझ का पुल निर्मित करती है तथा संवाद एवं विचार-विनियम का आधार तैयार करती है। भाषा एवं साहित्य सदियों से अत्यन्त सुथरे और उदात्त रूप से मानव की पीढ़ियों को संवाद एवं सम्बन्ध में बांधने का पुनीत दायित्व निभा रहे हैं। इनसे सम्बन्धित चिन्तन मानव प्रकृति को सामान्य से उच्चतर की ओर अग्रसर करता है। भाषा के इसी महत्वपूर्ण भूमिका के कारण कन्या महाविद्यालय स्वभाषा शिक्षण एवं स्वभाषा में साहित्य सृजन के द्वारा कृति से सुकृति होने के संकल्प के प्रति समर्पित रहा है। हिन्दी विभाग की वार्षिक पत्रिका 'उन्मीलन: शोध और सृजन' का आठ वर्ष से निरन्तर प्रकाशन इस संकल्प की पूर्ति की दिशा में उल्लेखनीय कदम है। समसामयिक विषयों पर आधारित बुद्धिजीवियों, भाषा एवं साहित्य मर्मज्ञों के शोधालेखों एवं रचनाओं से सुसज्जित यह पत्रिका हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रति युवा विद्यार्थियों, साहित्य प्रेमियों एवं जिज्ञासु शोधार्थियों को जोड़ने के लिए उल्लेखनीय कार्य कर रही है। भाषा, भाव एवं सम्बन्ध की यह सरिता यूँ ही प्रवाहित होती रहे, इन्हीं शुभकामनाओं के साथ.....।

-डॉ. अतिमा शर्मा
(प्राचार्या)

साहित्यिक वैचारिकी

संरक्षक

डॉ. अतिमा शर्मा

(प्राचार्या, कन्या महाविद्यालय, जालंधर)

प्रेरक शक्तियां

- श्री चन्द्रमोहन (जालंधर)
- श्रीमती राजी सेठ (दिल्ली)
- श्रीमती चित्रा मुद्गल (दिल्ली)
- डॉ. सुनीता जैन (दिल्ली)
- डॉ. बलदेव वंशी (दिल्ली)
- डॉ. रमेश कुन्तल मेघ (पंचकूला)
- डॉ. पुष्पपाल तनेजा (चण्डीगढ़)
- डॉ. रमेश दवे (भोपाल)
- प्रो० कुमार कृष्ण (शिमला)
- श्री वीरेन्द्र मेंहदीरता (पंचकूला)

परामर्श मण्डल

- डॉ. हुकुम चंद राजपाल (पटियाला)
- डॉ. रमेश सोनी (इन्दौर)
- प्रो. सुरेश सेठ (जालंधर)
- प्रो. अवधेश कुमार सिंह (दिल्ली)
- प्रो. सूर्य प्रसाद दीक्षित (लखनऊ)
- प्रो. जय प्रकाश (चण्डीगढ़)
- प्रो. चमन लाल गुप्त (शिमला)
- प्रो. हरमहेन्द्र सिंह बेदी (अमृतसर)
- डॉ. महेश दिवाकर (मुरादाबाद)
- डॉ. विनोद शाही (जालंधर)

मुख्य सम्पादक

- डॉ. (श्रीमती) विनोद कालरा

सम्पादक द्वय

- डॉ. रूपिका भनोट
- डॉ. अनुशोभा

सम्पादन समिति

- डॉ. संतोष सूद
- सुश्री तजिन्दर
- श्रीमती ऋतु

मूल्यांकन समिति

- प्रो. पवन अग्रवाल (लखनऊ)
- डॉ. पूरन चंद टण्डन (दिल्ली)

- डॉ. हरीश सेठी (दिल्ली)
- डॉ. तरसेम गुजराल (जालंधर)
- डॉ. राकेश कुमार (दिल्ली)
- डॉ. सरस्वती भल्ला (शिमला)
- डॉ. भवानी सिंह (शिमला)

सम्पादकीय कार्यालय

मुख्य सम्पादक, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग

कन्या महाविद्यालय, विद्यालय मार्ग,

जालंधर- 144004 (पंजाब)

दूरभाष- 094175-22232

ई-मेल पता- vinod_kalra66@yahoo.com

मुखपृष्ठ सज्जा एवं प्रकाशक: नव प्रिंटरज

UNMEELAN (SHODH AUR SRIJAN)

ISSN- 2249-9121

A Literary yearly Research Journal

Language : Hindi

Published by: Nav Printers

प्रकाशन संबंधी महत्वपूर्ण निर्देश

- उन्मीलन (शोध और सृजन) प्रेरक शक्तियों, परामर्श मण्डल एवं विषय विशेषज्ञों के मार्गदर्शन व दिशा निर्देश से प्रेरित साहित्यिक वैचारिकी की वार्षिक पत्रिका है। मूल्यांकन- समिति द्वारा पारित शोध-पत्र ही इस पत्रिका में प्रकाशित होंगे।
- अपना शोधालेख/ रचना (संदर्भ सहित) ए 4 साइज के 5-6 पृष्ठों में सी. डी. के साथ चाणक्य फॉण्ट 13 साइज में भेजें।
- आलेख के साथ अपना नाम, पद, विभाग, संस्था का नाम व स्थायी पता अवश्य लिखें।
- रचना की मौलिकता की जिम्मेदारी पूर्णतया लेखक की होगी।
- रचना में प्रकाशित विचारों के साथ सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं है।
- सम्पादक के पास रचना सम्पादन के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं।
- अपना आलेख सम्पादकीय कार्यालय के पते पर अथवा unmeelan.hindi@gmail.com पर भेजें।
- रचना-शुल्क (रु.1000/- मात्र) का डिमांड ड्राफ्ट संरक्षक, उन्मीलन, कन्या महाविद्यालय, जालंधर के नाम भेजें।

सम्पादकीय

साहित्य संवेदन का अभिव्यक्ति कर्म है किन्तु साहित्य सृजन में विचारधारा की भूमिका भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। साहित्य की यह विचारधारा एक ओर साहित्य के प्रतिमानों का सृजन करती है तो दूसरी ओर विचारधारा का दर्शन, साहित्य को आधारभूमि प्रदान करता है। अतः कोई भी रचनाकार बिना विचार किए हुए महान सर्जक नहीं हो सकता।

हिन्दी का आधुनिक साहित्य विभिन्न विचारधाराओं से प्रभावित हुआ है। इनमें ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी जैसी अनेक विचारधाराओं को देखा जा सकता है। स्वाधीनता संग्राम के आन्दोलन के समानांतर ही समाज सुधार के अनेक ऐसे आंदोलन चलते रहे जिन्होंने भारतीय समाज को एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया। भारतीय साहित्य पर जहां स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानंद और अरविन्द जैसे दार्शनिकों का व्यापक प्रभाव पड़ा है वहीं महात्मा गांधी, बाल गंगाधर तिलक, नेता जी सुभाष चन्द्र बोस जैसे राजनेताओं से भी साहित्य रचना प्रभावित हुई है।

अब साहित्य किसी एक सन्दर्भ तक सीमित न हो कर राष्ट्रीय सन्दर्भ से ऊपर उठकर विश्व संदर्भ से जुड़ा है। जहां एक ओर मार्क्सवादी विचारधारा ने संसार के प्रगतिशील सृजन को एक नई दिशा दी वहीं मनोविश्लेषणवाद ने साहित्य सृजन के संसार की तस्वीर ही बदल दी। एक ओर अस्तित्ववाद ने साहित्य को प्रभावित किया तो समाज और राजनीति से भी यह अछूता न रह सका। किसी भी साहित्य को विचारधारा से अलग करके देखना, उसके अस्तित्व को नकारना है। क्योंकि अभिव्यक्ति के स्तर पर जब तक संवेदना अनुभव के संसार से नहीं जुड़ती तब तक साहित्य की रचना नहीं हो सकती पर एक सत्य यह भी है कि साहित्य सिर्फ विचारधाराओं का संकलन नहीं है, उसका जीवन मनुष्य के भीतर सांस ले रहे सौन्दर्यबोध पर भी निर्भर है क्योंकि यह सौन्दर्यबोध ही उसकी संवेदना का संसार है जो मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है। सुख और दुःख के भीतर पलते हुए स्वप्नों और यथार्थ को जो आकार देता है, जो आज के समाज को विद्रूपताओं को समाप्त करने का प्रण लिए उसके भीतर-बाहर को सुन्दरम् में रूपान्तरित करता है, जो ज्ञान और संवेदना को समन्वित कर साहित्य के रचना संसार को सौन्दर्य के अनुभव संसार से जोड़ता है वास्तव में वहीं साहित्य है।

उन्मीलन : 'शोध और सृजन' का आठवां अंक पाठकों, साहित्य प्रेमियों और समीक्षकों के हाथों में है। इस अंक का शोध पक्ष साधारण, असाधारण, सूक्ष्म दृष्टि और नवीन तथ्यों के सामूहिक आधार को लेकर चला है और सृजन पक्ष आत्मिक, जीवनव्यापी अनुभूति की भावमयी अनुगूँज को निरूपित करता है। यह शोध पत्रिका सब कुछ को समाहित करने का प्रयास तो नहीं है फिर भी इतने सारे लेखकों, विद्वानों के आलेख हमें

मिल सके, यह हमारे लिए गर्व की बात है। कुछ विद्वानों ने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर, कुछ ने व्यक्तिगत सम्बन्धों का वास्ता देकर, कुछ ने हिन्दी साहित्य के यज्ञ में अपनी आहुति सम्मिलित करने के कर्तव्य से हमें अपने आलेख एवं रचनाएं भेजीं। जहां तक संभव हो सका, इस पत्रिका में उनकी सामग्री को समाहित किया गया। यह अब आपकी और हिन्दी साहित्य संसार की धरोहर है।

आप सभी पाठकों के सूचनार्थ 'उन्मील : शोध और सृजन' का आगामी अंक से रेफरीड शोध पत्रिका के रूप से प्रकाशित किए जाने की योजना है और इसे ऑन लाईन कर देने के लिए भी पूरा प्रयास किया जा रहा है। मुझे विश्वास है कि इस प्रकार का प्रयास आगामी पीढ़ी के शोधार्थियों, रचनाकारों और समीक्षकों को मौलिक सृजन के लिए प्रेरित होगा।

इस शोध पत्रिका को सामने लाने में विद्यालय प्रबन्धकर्तृ समिति, प्राचार्या व हिन्दी विभाग के प्राध्यापकों ने दित रात कठिन साधना की है, तभी यह अंक सीमित समय में विविध विषयों से युक्त, भव्य आकार में आपके समक्ष आ सका है। इस अंक के लिए अपना साहित्यिक योगदान देने वाले सभी विद्वानों के प्रति आभारनत हूँ। मेरे प्रति अपनी सतत् प्रश्नाकुल दृष्टि से मेरी संकल्पात्मक शक्ति को और अधिक सुदृढ़ बनाने वाले विद्यालय प्रबन्धकर्तृ सभा के अध्यक्ष माननीय श्री चन्द्रमोहन जी एवं साहित्यिक कर्म हेतु मेरी प्रतिबद्धता में असीम विश्वास रखने वाली विद्यालय प्राचार्या प्रो. डॉ. अतिमा शर्मा द्विवेदी जी को मेरी प्रणति।

विशेष आभार श्री सतविन्दर सिंह जी (नव प्रिंटरज़) के प्रति, इनके निरन्तर प्रयासों से ही इस अंक का प्रकाशन संभव हो सका है।

- विनोद कालरा

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग



अनुक्रम

शोधालेख

आचार्य शुक्ल की काव्यभाषा: चिंतन से 'नव्य' प्राच्यवाद तक	9
डॉ. विनोद शाही	
समय की पदचाप की आकुल पहचान (मय्यादास की माड़ी)	14
डॉ. तरसेम गुजराल	
हिन्दी की पहली गज़ल - एक विश्लेषण	20
डॉ. राजेन्द्र टोकी	
साहित्य और मानवीय मूल्य	26
डॉ पूरनचंद टंडन	
' भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का अद्भुत आख्यान- 'अरुण सतसई'	34
डॉ. (श्रीमती) विनोद कालरा	
विश्व की समस्त भाषाओं के सह-अस्तित्व का मंच : यूनिकोड	40
डॉ. हरीश कुमार सेठी	
हिन्दी साहित्य, सिनेमा और समाज : एक विश्लेषण	47
डॉ. भवानी सिंह	
हिन्दी नाटक : काम परिकल्पना का सन्दर्भ	54
डॉ० संतोष सूद	
जावेद अख्तर के 'तरकश' में कविता	60
डा० संजीव डार	
सन्त रविदास के काव्य में युगबोध तथा प्रगतिशील चेतना	66
डॉ० रामनिवास 'मानव', डी० लिट्	
प्रेमचन्द के उपन्यास : प्रतिबद्धता एवं प्रासंगिकता	72
डॉ० सरबजीत कौर राय	
नाट्य की अवधारणा-कुछ विचार कुछ व्याख्याएं	79
डॉ. रूपिका भनोट	
धर्मवीर भारती और उनकी कनुप्रिया	83
डॉ० अनुशोभा	
समकालीन कविता और बाज़ारवाद	85
डॉ. गोपीराम शर्मा	
हिन्दी भाषा : वैश्विक परिपृच्छा परिदर्शन में विश्वस्तरीय	
भूमिका और उपयोगिता की विशद परिभावना	89
डॉ० लीम चन्द	
हिन्दी अभिव्यक्ति पद्धतियों में छटा बिखेरता वनस्पति जगत : सन्दर्भ-मुहावरे / लोकोक्तियां	95
डॉ. नीरू मेहता	

हिन्दी कहानियों में दलित नारी विमर्श	101
डॉ. कंचन गोयल	
मनीषा कुलश्रेष्ठ के कहानी संग्रह 'बौनी होती परछाई' में व्यक्त सांस्कृतिक सन्दर्भ	106
डॉ. कंचन कुमारी	
मुंशी प्रेमचन्द कृत 'नशा' (कहानी) : संवेदना के धरातल पर	110
सुश्री तेजिन्दर कौर	
कालजयी जीवन मूल्य तथा भक्ति साहित्य	113
डॉ. अमरदीप दयोल	
रामचरितमानस में शरणागत वत्सलता की घोषणा	116
डॉ. सुनीता कोहली	
कालजयी रचना 'रामचरितमानस' - प्रतीकार्थ विवेचन	121
पवन कुमारी	
भीष्म साहनी की कहानियों में नारीवादी अवधारणा	126
श्रीमती ऋतु अनमोल चंद्र	
कवि एवं साहित्यकार : हरमहेन्द्र सिंह बेदी	131
डॉ० भावना	
रणेन्द्र के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासी विमर्श (विशेष सन्दर्भ : भूमण्डलीकरण)	136
निशा चौहान	
गीतांजलि श्री के कथा साहित्य में चित्रित नारी समस्याएं	144
कल्पना रानी	
कुल्लू जनपद में प्रचलित पौराणिक लोकगाथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन	151
प्रकाश चन्द	
वैश्विक परिदृश्य और हिन्दी भाषा	
डॉ कुसुम	
कहानी	
'बिरजू तो मारा ही जाएगा'	157
राकेश वत्स	
देवता	165
डॉ० प्रदीप शर्मा स्नेही	
मेरा मनकू	168
धर्मपाल साहिल	
कविता	
एक बूँद	170
डॉ. संतोष सूद	
तुम एक बार आना फिर	174
डॉ० प्रदीप शर्मा स्नेही	
निर्भया सभी को जगाकर तुम स्वयं सौ गयी	175
डॉ० प्रदीप शर्मा स्नेही	

आचार्य शुक्ल की काव्यभाषा: चिंतन से 'नव्य'

प्राच्यवाद तक

डॉ. विनोद शाही

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्य (साहित्य) - चिंतन तत्कालीन औपनिवेशिक दौर में मुक्ति पाने के हमारे प्रयासों का एक अहम संस्कृति-विमर्श था। इस लिहाज से वे हमारे नवजागरण के चिंतकों के सिलसिले की आखिरी मौलिक एवं अतिगहन कड़ी प्रतीत होते हैं। ठीक से रेखांकित करना चाहें तो कह सकते हैं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती और रामकृष्ण परमहंस से आरंभ हुए मुक्ति-प्रसंग की ज्ञानयोगमूलक परिणतियों का शिखर विवेकानन्द में प्रकट होता है और जो आगे चल कर अरविंद और कृष्णमूर्ति से होता हुआ अपने उत्तरकाल में धीरे धीरे बिखरता चला जाता है। इसी प्रकार राममोहन राय, गोखले और तिलक से होता हुआ इस मुक्ति प्रसंग का कर्मयोगमूलक पक्ष गांधी के रूप में अपने शिखर पुरुष को उपलब्ध होता है और फिर उत्तरकालीन नेहरू, लोहिया और जयप्रकाश नारायण से होता हुआ अंततः अपने सारतत्व से रहित होने की गवाही देने लगता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जब साहित्य को ज्ञानयोग और कर्मयोग के विभेद-धरातलों को समंजित करने वाले भावयोग के रूप में देखने और व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं, तो दरअसल वे उसी नवजागरण की नववेदान्तिक अंतर्भूमि का साहित्य में अंतर्विकास करने का प्रयास करते हैं। इस गहन और अति अर्थपूर्ण धरातल पर वे जैसे अकेले ही खड़े दिखाई देते हैं, क्योंकि उनसे पूर्व इस दिशा में एक उथला उत्साह भर नज़र आता है और उसके बाद इस 'भावसमाधि' की गहराई भंग हो कर गांधीवाद और मार्क्सवाद के विमर्शमूलक सामंजस्य-समीकरण तलाशने की कोशिश करती हुई इसे आगे तो बढ़ाती है, परन्तु इस व्यापक मानव मुक्ति वाली डुबकी से चूकती रहती है।

शुक्ल जी ने औपनिवेशिक दौर के बुनियादी संकट को काव्य के धरातल पर इस रूप में देखा कि अब "काव्यवस्तु का सारा रूपविधान कल्पना की क्रिया से होता है, आजकल तो भाव की बात दब-सी गयी है" इससे होता यह है कि 'कार्य-कारण विवेचनपूर्वक वस्तु-व्यंजना का टेढ़ा रास्ता पकड़ा जाता है' जिस से 'वैचित्र्य ही वैचित्र्य रह जाता है' और 'बोधपक्ष के अतिशय विस्तार' के सामने "हृदय पक्ष दब कर रह जाता है" अतः 'हृदय की मुक्ति' का सवाल ही हमारे समय का बुनियादी संकट है। यह तभी हो सकता है, अगर 'बोध के महान विकास-विस्तार' के मुकाबले में 'हृदय का भी उसी अनुपात में उत्कर्ष और विकास' हो, कविता भाषा की मार्फत एक ऐसे 'भावयोग का विधान' करती है, जिससे हमारी 'संकुचित मनोवृत्तियां' समुचित अभिव्यक्ति पाकर 'सृष्टि में तादात्म्य 'वाली रसदशा' को उपलब्ध होती है। सृष्टि से तादात्म्य की दशा का भेद अन्यत्र खोलते हुए शुक्ल जी एक महत्त्वपूर्ण सूत्र यह खोजते हैं कि यह कविता के द्वारा 'मानुषी प्रकृति के जाग्रत' होने की ऐसी दशा है, जिसमें हमारी अन्तः प्रकृति बाहरी प्रकृति के साथ सामंजस्य 'या तालमेल की स्थिति में आ जाती है' शुक्ल जी के विवेचन में ऐसे बहुत से सूत्र बहुत स्थलों पर प्रचुर मात्रा में मौजूद हैं, जिन्हें दोहराने की बजाय बेहतर होगा कि हम उनकी इन ऐसी कुछ मूल धारणाओं की तह में जाने का प्रयास करें, ताकि हमें उनके ऐसे चिंतन के प्रयोजनों और पृष्ठभूमियों की पहचान हो सके।

शुक्ल जी का चिंतन भारत के उस औपनिवेशिक दौर से मुखातिब है, जब हमारे यहां अंग्रेज अपने विज्ञानवाद (कार्यकारणवाद), साम्राज्यवादी पूंजीवाद और प्रजातांत्रिक मानववाद से जुड़े दर्शनों के आधार पर हमारे सामने एक जटिल एवं व्यापक बोधमूलक चुनौती प्रस्तुत कर रहे थे। शुक्ल जी से पूर्व ज्ञानयोग और कर्मयोग के दर्शनों से जुड़े विकल्पों पर कार्य हो रहा था, परन्तु शुक्ल जी को लग रहा था कि ये विकल्प अपने आपको खड़ा करने के लिये चाहे जो दावे प्रस्तुत कर रहे हों, परन्तु वे हमारे भावपक्ष को पूरी तरह संभालने और प्रेरित करने में असमर्थ थे। शुक्ल जी की यह पीड़ा-भरी बेचैनी उन्हें “भक्ति” जैसे सशक्त चिंतन और भावभूमि की भी ‘नैराश्य मूलक’ और ‘पराजयवादी’ व्याख्या की ओर ले गयी थी, हालांकि इस निराशामूलक पराजयबोध से उबरने के लिये उनके पास भी तुलसी के भावबोध के अलावा और कोई बड़ा विकल्प-मौजूद नहीं था, हालांकि तुलसी उसी ‘भक्ति’ की उपज और उसी के साधक थे। शुक्ल जी के मुक्ति चिंतन को ठीक से समझो तो कह सकते हैं कि वे भारतीय मानस के ही पुनर्निमाण कर महान गुरुतर कार्य करने के लिये संकल्पवान थे। वे भारत के ‘दब से गये हृदय’ को उबारना चाहते थे। इसके लिये उन्हें उस विज्ञानवादी बोधपक्ष की आलोचना करने की, उसके अंतर्विरोधों को उजागर करने की, ज़रूरत महसूस होती थी। यह कार्य वे साम्राज्यवादी पूंजीवाद के शोषक-पक्षों की, और अमानवीय रूपों की सीधी आलोचना न करके उसके कारण-रूप विज्ञानवाद के बोधपक्ष की आलोचना द्वारा करना चाहते थे। इससे वे ‘काव्य’ को एक प्रतिरोधी मुक्ति-विधायिनी भूमिका में ले जाने में समर्थ हो सकते थे। यही वजह थी कि वे विज्ञानवादी कर्मकारणवादी चिंतन को ‘वैचित्र्य ही वैचित्र्य’ फैलाने वाला ऐसा सांस्कृतिक कर्म मानते हैं, जो हृदय से रहित, उसके मार्मिक पक्षों को छूने में असमर्थ और केवल ‘आश्चर्य भाव’ या ‘विस्मय भाव’ तक सीमित रह जाने वाला हुआ करता है। तथापि वे यह भी देखते हैं कि संस्कृति-विमर्शों में उसी का बोलबाला है - जिसने हृदय को दबा लिया है। शुक्ल जी इस हृदय-दमन की काव्य में भाव-व्यंजना द्वारा मुक्ति चाहते हैं।

बड़े खेद का विषय है कि हमारे उस औपनिवेशिक दौर के साहित्य और साहित्यचिंतन को हमारे ही सुधी आलोचकों ने पश्चिमी स्वच्छतावाद का अनुकर्ता मान और समझ कर व्याख्यायित किया है। क्या ऐसा वाकई संभव है कि वर्चस्वी, आक्रामक और साम्राज्यवादी चेहरे को छिपाने वाला पश्चिमी स्वच्छंदतावाद जिस ‘कल्पना-वैभव’ की, जिस ‘हृदय-पक्ष’ की और जिस तरह के ‘विरोधों के समन्वय’ की बात करता है, ठीक उसी अर्थ में हमारा ‘उपनिवेशित समाज’ उन्हें ग्रहण कर सकता है? शुक्ल जी में ‘कल्पना’ के काव्य-प्रकार्यों को लेकर गहरा संशयभाव ही नहीं, उनके प्रति स्पष्ट विरोध का भाव भी है, अपने छायावादी साहित्य की पुनर्व्याख्या के लिये इस विवेचन द्वारा जो जमीन खुलती है, वह एकदम से नज़रअंदाज करने वाली वस्तु नहीं है, इस ओर हमारे आलोचकों का ध्यान गया अवश्य है, परन्तु इसे उन्होंने हमारे छायावाद की व्याख्या की बुनियादी जमीन कभी नहीं बनाया। उन्होंने इसका इस्तेमाल केवल यह दिखाने के लिये किया कि हमारा छायावाद पश्चिमी स्वच्छंदतावाद के अनुकरण में आया, बहुत दूर तक यह भी वैसा ही है, परन्तु इसमें ‘कुछ’ अपना भी है, जो मौलिक है और औपनिवेशिकता प्रतिरोधी-सा भी जान पड़ता है।

आश्चर्य है कि हम ‘तुमुल कोलाहल कलह में, मैं हृदय की बात रे मन।’ जैसी सीधी पंक्तियों की व्याख्या भी अमानवीय साम्राज्यवादी औपनिवेशिक ‘कलह’ में दमित हुए ‘हृदय की बात’ की अभिव्यक्ति के रूप में करते हिचकिचाते हैं ‘कलह’ में हृदय ही खंडित, विभाजित और दमित हुआ है और हमारी मुक्ति का आधार भी उसी ‘हृदय की बात’ के अतिरिक्त और कहीं नहीं है।

शुक्ल जी को और अपने तत्कालीन छायावादी साहित्य को ठीक से संभालने के लिये हम ऐसी पुनर्व्याख्याओं के लिये प्रस्तुत देरिदा, चौम्स्की और एडवर्ड सईद के भाषा-चिंतन पर एक संक्षिप्त नज़रसानी करने को किंचित उपयोगी पा सकते हैं।

देरिदा ने अपनी भाषाविखण्डन की प्रक्रियाओं के द्वारा हमें साहित्यिक कृतियों के पाठ में वर्चस्वी या मुख्य-अर्थ के पीछे छिपे या उसके द्वारा छिपाये गये 'अन्य' अर्थों में वास्तविक अर्थ खोजने की दिशा दिखायी। चौम्स्की ने इसे भाषा की 'गहन संरचनाओं' के 'पढ़ने' का नाम दिया। इस दिशा में आगे बढ़ते हुए एडवर्ड सईद ने कोशिश भी की कि वे औपनिवेशिक दौर के साहित्य का पुनः अध्ययन करके वहां मौजूद वर्चस्वी विमर्शों के द्वारा दमित विमर्शों को खोजें। इस प्रकार वे पश्चिम की वर्चस्वी मानसिकता के आक्रान्ता होने की उस स्थिति को सप्रमाण रेखांकित कर पाये, जो पूर्वी राष्ट्रों के प्रति उपनिवेशों जैसा रवैया रखती हुई उनसे सम्बद्ध व्यवहारों-विमर्शों-मूल्यों को दोगम, अतार्किक और असभ्य-बर्बर मानती है। पश्चिमी जगत के साहित्य का इस रूप में किया गया विखण्डन अगर हमारी मदद वहां छिपे सत्य को पहचानने में करता है, तो इसका अर्थ यह है कि अगर हम उसके समानांतर अपने औपनिवेशिक दौर के साहित्य की गहरी अर्थ-व्यंजनाओं पर निगाह केंद्रित करें तो हमारे निष्कर्ष भिन्न हो सकते हैं।

'पश्चिम' को अगर हम एक भाषा-पाठ की तरह ग्रहण करें, और पूर्व को दूसरे, तो एडवर्ड सईद के भाषाचिंतक का अपनी जरूरतों के मुताबिक विकास-विस्तार करते हुए हम भाषा-विश्लेषण की भी दो पद्धतियों तक पहुंच सकते हैं, एक पद्धति जो 'पश्चिम' के भाषापाठ के अध्ययन के लिये आधार बनी है - वह मूलतः देरिदायी विखण्डनवादी पद्धति है, जिसके तहत वर्चस्वी भाषापाठ और वर्चस्वी विमर्श का विखण्डन किया जाता है। यह पद्धति साम्राज्यवादी-वर्चस्ववादी भाषापाठ के वास्तविक अर्थ को उपनिवेशित-दमित भाषापाठ की तरह वहां पीछे छिपा हुआ-व्यंजित होता हुआ पाती है।

परन्तु उपनिवेशितों का भाषापाठ उक्त संरचना एवं विश्लेषण-पद्धति के द्वारा व्याख्यायित नहीं हो सकता, क्योंकि यहां वर्चस्वी पाठ 'रूपविधान' के तल पर है, न कि 'अर्थ' के तल पर, अतः वह 'पश्चिम' के भाषापाठ की तरह 'संरचना' में अथवा 'उसके पार' नहीं है, और इसीलिये उसके 'विखण्डन' की भी कोई जरूरत नहीं है। हमारे यहां भाषा का रूपविधानात्मक ढांचा 'अनुकरण' मूलक है, जो इस अनुकरण के सहारे पश्चिमी भाषा-पाठ जैसा होने-दिखने का भ्रम पैदा करते हैं। 'पश्चिमी' का वर्चस्वी- दमनकारी ध्रुवायन हमारे यहां इतना गहरा या ध्रुवायित नहीं है। यहां 'अर्थ' के तल पर साफ-साफ हमारी उपनिवेशित-दमित चेतना 'अनुकरण के भ्रम' को लगातार बनाये रखती हुई भी उसे तोड़ती रहती है। हमारा भाषापाठ जैसे किसी भय से आक्रान्त है और एक तरह की सुरक्षात्मक तरकीब (डिफेंस मैकेनिज़्म) अपना कर पश्चिम के भाषापाठ की नकल करता है, परन्तु साथ ही अपनी तलाश के लिये, आत्माभिव्यक्ति के लिये कुलबुलाहट और पीड़ा से भी भरा रहता है।

छायावादी भाषापाठ को लीजिये, वहां ऊपरी तौर पर पश्चिमी रोमैंटिक काव्य के 'रूपविधान' का पूरा अनुकरण नज़र आता है। शुक्ल जी इसे देख कर तत्कालीन काव्यभाषा के बारे में निष्कर्ष निकालते हैं कि अब हमारे यहां भी 'कल्पना' की स्वतंत्रता हमें वैचित्र्य की अभिव्यक्ति की ओर ले जा रही है। यह वैचित्र्य कहां से आता है? यह हमारी भाषा के रूपविधानात्मक पक्ष का अजनबीकरण है, जो पश्चिम के भाषापाठ के अनुकरण में वहां आकर मौजूद हो गया है। परन्तु यह रूपविधान, यह कल्पना का वैभव अभिव्यक्त किसे करता है? वह भाव की, हृदय की, आत्मा की, रहस्य की पुकार है, जो 'भेद में अभेद' को तलाश रही है, उस अंतः प्रकृति को खोज रही है - जो बाह्य प्रकृति या सृष्टि के साथ खोयी

हुई समरसता को फिर से पा सके। इस तरह ध्यान से देखें तो हमारे यहां 'विरोधों के बीच सामंजस्य' की तलाश की बात नहीं है, विरोधों पर विरुद्धों के पार जा कर किसी अभेदभूमि को तलाश लेने की बात अधिकतर नुमायां है। इस फर्क को समझना जरूरी है।

पश्चिम में पूंजीवादी विकास के साथ-साथ औद्योगीकरण और शहरीकरण के द्वारा प्रकृति के संसाधनों का ऐसा दोहन किया गया कि वहां 'प्रकृति में वापसी' की बात, 'गांव' या 'पैस्टोरल' और 'एथनिक' या 'नेटिव' में लौटने की बात एक अनिवार्य संकट की तरह उपस्थित हो गयी। इसलिये विरोधों या विरुद्धों का सामंजस्य वहां सामाजिक व्यवस्था और विकास के लिये एक प्रजातांत्रिक जरूरत बन कर उभरा, जिसके तहत विरुद्धों के सामंजस्य का मतलब था, एक तरह का सह-अस्तित्व, गांव या नेटिव के अधिकारों या मानवधिकारों के स्वीकृति और प्रकृति के भयानक विनाश को रोकने का प्रयास, परन्तु वहां की वर्चस्वी व्यवस्था द्वारा दमित-शोषित का यह नियोजन जहां वहां के भाषापाठ में मानववाद के अर्थों की तरह उभरता है, वैसा इसी पूंजीवाद के साम्राज्यवादी चेहरे के पीछे दिखायी नहीं देता। भारत जैसे उपनिवेशों में गांवों का, वहां के असभ्य-जनों का दमन-शोषण, प्रकृति का अमानवीय दोहन और विनाश आदि किसी तरह के 'सामंजस्य' के लिये कोई गुंजायश नहीं छोड़ता। वहां बचाव का एक ही रास्ता है-वर्चस्वी की भाषा बोलो, उस जैसा होने दिखने की कोशिश करो। लेकिन चूंकि इतना पर्याप्त नहीं, अतः परोक्ष रूप में उसका प्रतिरोध करो, अपने आपको खोजो, अपने आप को उनका विकल्प बनाने का प्रयास करो, तो यह पूर्व का या कहे कि हमारा भाषापाठ है हम भाषा पश्चिम-जैसी बोलने लगे हैं, परन्तु 'अर्थ' उनके नहीं, हमारे हैं, इस तरह हमारी अर्थों की दुनिया वहीं अराजक हो जाती है। वहां भेद ही भेद हैं, वैचित्र्य ही वैचित्र्य है, विरोध ही विरोध है; परन्तु प्रयोजन है 'भेदों में अभेद' की तलाश, जो कभी ज्ञानयोग के रूप में, कभी कर्मयोग की तरह तो कभी भावयोग की तरह विकसित हो कर प्रकट होती है। यह अभेद अमूर्त है, आत्मिक है, चेतना के तल पर घटित है- क्योंकि इसकी यथार्थ के तल पर वास्तविक ठोस अभिव्यक्ति संभव नहीं रहने दी गयी है। परन्तु यह भेदों और विरोधों की दुनिया सही रूप में क्या है-यह साम्राज्यवादी, पूंजीवादी यथार्थ की सृष्टि होने के कारण उसकी घोर अलोचना है और अभेद-भूमि यथार्थ से पलायन नहीं है, विकल्प को परोक्ष रूप में खोजने और कहने का प्रयास है।

आप देख सकते हैं कि आज्ञादी मिलते ही हमारी अभिव्यक्ति अपनी अमूर्तता और रहस्यात्मकता से एकदम बाहर आ जाती है, उसमें पश्चिम के भाषापाठ के अनुकरण वाली प्रवृत्ति यथावत् बनी रहती है परन्तु अर्थों की दुनिया पश्चिमी भाषापाठों और उसके अर्थों से एकदम मेल नहीं खाती।

इस अंतर के कारण हमारे यहां गहन पर दमित भाषा संरचनाओं की तलाश उतनी अर्थपूर्ण नहीं है, जितनी कि रूपविधानात्मक अनुकरण के विखण्डन की और अर्थगत व्यंजना-संसार के मूर्त-वास्तविक-ठोस धरातल पर यथार्थ को रेखांकित करने की।

शुक्ल जी की पुनर्व्याख्या करते हुए हम उनके द्वारा की गयी वैचित्र्यवाद की आलोचना को उनकी सजगता का-पश्चिम के अनुकरण की प्रवृत्ति के विरोध का-लक्षण मान सकते हैं, परन्तु उनका भावयोग अगर उनका वास्तविक अर्थ प्रयोजन है तो हमें उसकी साम्राज्यवाद विरोधी एवं आत्मान्वेषी भूमियों की ओर देखना होगा ताकि इसकी सही रूप से व्याख्या हो सके।

शुक्ल जी के लिये काव्य का 'बोधपक्ष' विरोधात्मक, आक्रान्ता, विपथगामी और हृदय को दबाने वाला है। हृदय की

भावभूमि परस्पर-विरोधी भावों से भरी पड़ी है। वह हमारी ज़मीन का यथार्थ है, जिसके विरुद्धों, विभेदों को परे हटाने के लिये ज़रूरी है, अपनी अंतः प्रकृति का साक्षात्कार-जो प्रेम, सौंदर्य, मंगल और आनंद से युक्त है। इस आनंद की उपलब्धि के लिये उपेक्षित-दमित-शोषित-पीड़ित के साथ खड़े हो कर संघर्ष करते हुए उस 'साधनावस्था' से हो कर गुज़रना पड़ता है, जिसकी मंजिल आनंद है, भाषा की अमूर्तता के पर्दे ज़रा-सा उठा कर देखिये तो सही-क्या यह भारत की साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षभूमि का ही भिन्न भाषापाठ के आवरण में अभिव्यक्त होना नहीं है?

अगर शुक्ल जी की सलाह मानें तो हमें पूर्व के भाषापाठ को 'भाव-संरचनाओं' के रूप में देखना-पढ़ना होगा। भाव के द्वारा बोधपक्ष की अराजक अनन्तार्थकता को संभालना और उसका समाधान पाना संभव है। पश्चिमी भाषाचिंतन उस अनन्तार्थक अराजकता में फंसता जा रहा है, जहां से वापिस लौट कर मनुष्य अपनी प्रकृति को खोज पाने में असमर्थ हो जायेगा। भाषा को बाज़ार-वस्तु की तरह देखने का अंततः यही नतीजा होगा, तथापि भाववस्तु को बेचना उसके 'वासनात्मक' पक्ष को बेचने तक सीमित रह जाता है। इस समाधान को शुक्ल जी की भाषा में पढ़ें, वे कहते हैं कि रागात्मिका वृत्ति को काव्य 'राग' से 'अनुराग' में, वासनात्मक पक्ष से भावपक्ष में रूपांतरित करता है, अनंतार्थी बोधपक्ष अंततः भाषा के उसे राग-पक्ष को ही तो बेचता है-जिसके रूपांतरण का एक उपाय है- जो शुक्ल जी की इस पुनर्व्याख्या के द्वारा हमें उपलब्ध हो सकता है।



समय की पद्चाप की आकुल पहचान (मय्यादास की माड़ी)

- डा. तरसेम गुजराल

भीष्म साहनी हिन्दी साहित्य जगत के गिने-चुने समर्थ कथाकारों में से एक हैं। एक ऐसे कथाकार जो प्रगतिशील विचारधारा के समर्थक होने अथवा जीवन-संघर्ष से जांबाज होकर निकलने के दावे नहीं करते अपितु साहित्य जगत में प्रगतिशील विचारधारा का आह्वान सबल तरीके से और विधा के सूत्रों में बंध कर करते हैं। वह चीजों को वैचारिक स्तर पर स्वीकार जरूर करते हैं परन्तु उनकी अभिव्यक्ति कथा के विभिन्न पड़ावों में इतनी गुंथी और मिली-जुली हुई होती है कि आपको दूसरे दमगजे मारने वाले कथाकारों की तरह कथा में घोषणाएं करती हुई नज़र नहीं आती। यही बात उनकी कथा कहने की कला का एक सिद्धहस्त सूत्र बनकर समस्याओं और मान्यताओं का सहज निरूपण कर जाती है और उनकी संरचनात्मक प्रक्रिया जीवन के सहज स्वीकृत से अलग, घुटते हुए जीवन की अन्दरूनी हलचलों की थाह लेते हुए जीवन मूल्यों की चाहत और जीवन की कठोर हकीकत के अन्त और अन्तराल के बीच अपनी बात उठा जाते हैं। 'हानूश' नाटक हो या 'अमृतसर आ गया है' और 'चीफ की दावत' जैसी कहानियाँ, 'तमस' उपन्यास हो या यथार्थ सम्बन्धी कोई वर्णन, वह जटिल यथार्थ को जीवन की धड़कनों की मार्फत सहजता से बयान कर जाते हैं। वह देश के संकटों को महसूस करते हुए कुछ ऐसी आशा का एहसास रखते हैं जिसके रहते इंसान की उम्मीद टूटती नहीं क्योंकि सबसे बड़ी उम्मीद देने वाली चीज उन्हें जन साधारण लगा- 'देश की जनता है, जिसने हमारी संस्कृति ने खोज की है, विवेक दिया है, आत्मविश्वास भी दिया है। आज जब बहुत कुछ निराशाजनक नज़र आता है, आशा की किरणें लोगों के दिलों में फूटती हुई जरूर नज़र आती हैं।'

'मय्यादास की माड़ी' उपन्यास उस कालखण्ड की कथा है, जब पंजाब की धरती से सिख अमलदारी के खंभे उखड़ रहे थे और ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपनी हकूमत को विस्तार दे रहा था। यह वह समय है जब परम्परागत विश्वासों और आस्थाओं को धक्का पहुँच रहा है।

औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ धीरे-धीरे भारत की उम्मीदें आकाश पर फैला रहा है और लोग हैरत के साथ अपने हाथों से कुछ छूटता हुआ और सामने के चित्रपट पर कुछ बदलता हुआ देख रहे हैं। जीवन मूल्यों का बदलाव इतना आसान कहां होता है। पहले भीतर से कुछ हिल जाता है जिसका दर्द रह-रह कर टीसता है फिर धीरे-धीरे अंकुर आने लगता है।

'मय्यादास की माड़ी' सामन्तवाद की ढपोरशंखिया शान के बनने-बिगड़ने की कहानी है। पूंजी के विस्तार और छल की कहानी है। देशभक्ति के ठाठे मारते जज्बे और पीठ में घोंपे छुरे की कहानी है। औरत के सुलगते दर्द, गहरे अन्धकार और जागने की सुगबुगाहट की कहानी है। नयी तकनीक की पताका और धड़धड़ाती मशीन की कहानी है। पीढ़ियों की जड़ता और बदलाव की कहानी है।

आदमी सदा सत्य का अन्वेषी रहा है। कथा लेखक अपना अन्वेषण पात्रों को रचते हुए करता है। इस मामले में वह बड़ा निःसंग और अकेला होता है। ईश्वर के बारे में कहा जाता है कि उसने भी शायद अकेलेपन से घबरा कर सृष्टि की

रचना की थी। जीवन चक्र विराट और विविध है। कथाकार अपने पात्र की रचना कर उसके जीवन के जरिये सत्य का साक्षात्कार करवाता है। गंवार का गंवारुपन उस सत्य को अवहेलना में खो देता है। बौद्धिकता का आग्रह उसे खराद पर इतना चढ़ा देता है कि उसका भीतर भुरभुरा जाता है। परन्तु कथाकार का काम बीच का होता है वह न तो सत्य की ज़रा भी अवहेलना कर पाता है न ही उसकी लपट को ठंडा होने देता है। कथा उसके कथन का विस्तार है। घटनाएं वह तंत्र है जिनके बीच बारीक तार-सा सत्य छुपा हुआ होता है जो लेखक की जागरूकता के विद्युत केन्द्र से संचालित होता है। भीष्म साहनी कुछ ऐसे ही अन्वेषी उपन्यासकार हैं। 'तमस' की तकलीफ लाखों लोगों की तकलीफ होगी परन्तु वह विद्युत केन्द्र भीष्म साहनी का था, जिसे कहने का मंटो के पास एक तरीका था भीष्म साहनी का दूसरा।

'मय्यादास की माड़ी' उपन्यास का आरम्भ मय्यादास की माड़ी के मौजूदा मालिक दीवान धनपतराय के व्यक्तित्व की गिरह खुलने के साथ होता है। उसकी जीवन शैली सामंतवाद का तलछट भाग है। मानवीय समाज के विकास से पैदा हुआ विवेक, धीरज, सत्य का अन्वेषण, अपनी माड़ी से लगाव, देशभक्ति और उत्तरदायित्व की अनुभूति जैसे गुणों की उसे बिल्कुल ज़रूरत नहीं। ये या ऐसे अन्य गुण मय्यादास को मुबारक मय्यादास जोकि अपनी माड़ी के सम्मान का प्रतीक माना जाता है। सिक्ख जो अमलदारी के प्रति अपनी निष्ठा की वजह से बर्बाद हो जाते हैं, उससे बिल्कुल भिन्न प्रकृति के इन्सान हैं।

दीवान धनपत बड़प्पन के लिए, हैसियत के लिए, प्रदर्शन के लिए और लोगों में अपनी चर्चा के लिए अजीब-अजीब हरकतें करता है। कस्बे में वह सनकी स्वभाव के लिए जाना जाता है इसीलिए उसका नाम भी 'सनकी दीवान' हो गया है। उसने अपना पहरावा और चालढाल भी अलग-सी बनायी हुई है। अब उम्र गुजर चली है परन्तु जवानी के दिनों से ही उसका नाम 'सनकी दीवान' पड़ गया था। दीवानों के पूरे कस्बे में वह सदा पीले रंग का अंगरखा पहनता रहा, सिर पर पगड़ी सजाये रहता। अंग्रेजों की व्यवस्था के आरम्भ के साथ अंगरखा पहनने का रिवाज हटता चला गया था और केसरी पगड़ी सिर्फ ब्याह-शादी के दिनों सर पर बांधी जाती। पीला अंगरखा पहन कर, आँखों में सुरमे की लकीर खींच, कानों में बालियां लटका कर छोटे से मरियल हट्टू पर सवार होकर गलियों में घूमता है या आराम कुर्सी पर दोनों टांगें चढ़ाए बैठकर सुड़गुड़ी के कश लेता है।

उसका यह पहरावा और चालढाल की इस तरतीब का मतलब है 'यह आदमी अंदर से तृप्त है, मनचाहा व्यवहार कर सकता है, उसे किसी की परवाह नहीं।' यह बेखबरपान, मिलिकयत और खुद को दूसरों से अलग और ऊपर समझने की वजह से है, जो मानवीय गुणों को हर लेता है फिर उसके किस व्यवहार से किसी को कितना धक्का पहुँचता है, इसकी लेशमात्र भी चिंता उसे नहीं होती। प्रभुसत्ता सम्पन्न होने की गर्मायश उसे इन मानवीय एहसासों से अलग हटा देती है।

दीवान धनपत के पुत्र की शादी के वक्त भोजन करते हुए एक बाराती ने दूल्हे से शरारत में कहा कि वह दूल्हा है और उसे कोई पूछ ही नहीं रहा। यतीमों की तरह वहां बैठा है। अभी जो आदमी पापड़ बांटने आया था उसने उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा।

अब उसको प्रमाणित करना था कि वह दूल्हा है। दूल्हा, जो खास होता है तैश में आकर उसने कहा-पापड़। बारात का यह मंजर है कि दूल्हा खड़ा होकर चिल्ला रहा है- पापड़ पापड़।

लड़की वालों की ओर से खूब पापड़ बांट दिये जाने पर शरारत में बाराती चिल्लाने लगे- महा!

तनाव और खींचातानी में सारी की सारी पंगत बिना ठीक से भोजन किये उठ गई।

लड़की के पिता मलिक मंसाराम क्षुब्ध थे परन्तु लड़की वाले ठहरे। वक्त की नजाकत समझते हुए हाथ जोड़ कर कहा-हमसे ख़ता हो गई है। इस मामले को यहीं ख़त्म कर दें।

लोग महसूस करते हैं कि अगर बाराती बाराती होने के ग़रूर में बदतमीज़ी पर उतर आयेंगे तो लड़की वालों की इज़्जत का क्या बचेगा और यह भी कि दीवान पैसों की धौंस दिखा रहा है। मुरब्बे मिल जाने की वजह से हवा में है। सो लड़की वालों ने कह दिया कि अब आगे से दीवानों के यहाँ लड़की नहीं देंगे।

दीवान डोली लेकर घर नहीं गये थे। बीच राहटीले पर रुके थे। जब पुरोहित और लड़की के मामा दहेज की बाकी चीज़ें पहुँचाने आये उन्हें बता दिया गया कि वे दुल्हन की डोली वापिस ले जायें।

पैसे की ऐंट में एक नव विवाहित लड़की को अपने ग़रूर के दांव पर लगा दिया गया। लोग हतप्रभ थे। वहाँ ऐसा कभी हुआ नहीं था कि लावां फेरे के बाद कोई दुल्हन को ले जाने से इन्कार कर दे।

अब बड़े दीवान ने समझौते की शर्त यह रखी कि उनकी सद्यः विवाहित बेटी उनके घर में तभी पाँव रखेगी जब उनके घर, बिरादरी की एक और लड़की उनके एक किसी लड़के के साथ उसी दिन ही ब्याह कर जायेगी।

दीवान अपमान का बदला लेना जानते हैं। बदले का मतलब है ज्यादा अपमान करो। कठोर सज़ा दो। ऐसी कि अगले की बोलती बंद हो जाये। समाज में सर उठा कर चलने लायक न रहे। मुरब्बे वाले होने का रुतबा यही कुछ करवाता है। दूल्हे का बड़ा भाई या कल्ला, मिरगी का मरीज। दिमाग से कुछ कमजोर। जीभ अपेक्षाकृत छोटी। बोलता तो तुतलाकर। दीवानों ने नई व्याहता की डोली लौटा दी। अलहड़ लड़की ज्यादा कुछ नहीं जानती डोली लौट आने पर पूछती है- मैं घर लौट आई हूँ क्या? मैं तो समझे बैठी थी।

गरीब हरनारायण की विधवा बेटी वीरांवाली की बारह-तेरह साल की रुकमणी सलीब पर चढ़ा दी गई। मिरगी का मरीज कल्ला इस ऐतिहासिक घटना क्रम में दूल्हा बना कर ब्याह दिया गया।

भीष्म साहनी उपन्यास की मूलकथा के बीच लोक कथा अथवा लोक रीति का, कथा का प्रभाव गहरा करने के लिए उपयोग करते हैं। टीले पर सभी बारातियों के बीच मनचले लोगों द्वारा डंबा मारने की रीत का अच्छा उपयोग हुआ है।

‘तमस’ उपन्यास में सूअर मारने वाला नहीं जानता था कि इसका मतलब क्या है? इससे क्या और कैसा नुकसान हो रहा है। डंबा मारने वाले खेल केवल समय काटने के लिए और मनोरंजन जैसा लुत्फ (जस्ट फन) उठाने के लिए खेल रहे हैं। परन्तु इससे उपन्यास की कथा के उस खास मुकाम की निदर्यता, क्रूरता रेखांकित हो रही है। दूल्हा डंबे को तान कर घूँसा मारता है। ‘दूल्हे का घूँसा सचमुच मर्दाना घूँसा था, मरदाना और निर्णायक।’ बालमुकंद दूल्हे की पीठ थपथपाते हुए कहता है-तेरे में सचमुच बड़ा दम है। घरवाली को काबू में रखेगा। पुरुष की बहादुरी से स्त्री को नियन्त्रण में रखने का सबब सामन्ती है।

उपन्यासकार ने लेखराज के चरित्र का निर्माण, मातृभूमि के प्रति उसके पवित्र जज़्बे, जंग और अपने मुनाफे अथवा स्वार्थ के लिए कौम की पीठ में छुरा घोंपने के क्रम को कथा के प्रवाह और बहुसूत्रता के बीच बड़े सधे हाथों से रखा है।

शिवाजी मराठा के भीतर वीरता का जज़्बा जीजाबाई ने बचपन से ही महान पुरुषों की कहानियाँ सुना-सुना कर भरा था। लेखराज को दादी माँ हर शाम कहानियाँ सुनाया करती थीं। उन कहानियों का एक-एक शब्द जैसे एक-एक चित्र बनकर निकलता था। लेखराज के सामने चित्रमाला सी बन जाती, जिसमें वह अपनी कल्पना के रंग भरता रहता। दादी गुरु गोबिन्द सिंह के सिख साजना और पाँच प्यारों को अमृत छकाने वाले गौरवमयी इतिहास का पृष्ठ इस तरह बखान

करतीं कि लेखराज भाव विह्वल हो उठता है। (काश! आज की नई पीढ़ी के ज्यादातर बच्चे इस कथा रस से वंचित न रह पाते)।

जब मीरासी का भाई जलाल धारीदार कुर्ता और तुर्रेदार पगड़ी पहन मुनादी करता है कि खतक खुदा दा, हुक्म बादशाह दा, हर खास-ओ-आम को इतला किया जाता है कि फिरंगी की सरकार सल्तनत-ए-खालसा की तरफ बढ़ते आ रहे हैं। कल शाम को शीशमहल में भरती शुरु हो जायेगी, तो जंग सम्बंधी अफवाहें पूरे कस्बे में फैल गईं।

जंग जिन्दगी का नुहार बदल देने वाली खबर थी। दीवान मय्यादास ने लाहौर दरबार की जरूरत को दिलोजान से समझते हुए अपना खजाना सिख अमलदारी के हक में खाली कर दिया। रायजादा मोहनलाल ने बीस हजार की थैली दी। लेखराज अपने दोस्त के साथ शीशमहल जाकर फिरंगियों के विरुद्ध लड़ने वाली फौज में अपना नाम लिखवा आया।

लेखराज चुप-चुपीता सा, कम बोलने वाला, भावुक हृदय वाला लड़का, आज्ञाकारी होने के नाते मय्यादास की पैड़ी पर काम करने वाला सामाजिक राजनीतिक बदलाव की खबरों से चौंक जाता है। जंग की कोई मुकम्मल तस्वीर उसके सामने न थी, यौवन सुलभ भावुकता थी, जिससे अब वह पीछे नहीं हटना चाहता था। दादी से सुनी आत्मबलिदान की कहानियां इस जनून को बदलने नहीं दे रही थीं। माँ का बिलखना, चिल्लाना उसका फैसला न बदल सका, दोस्ती की लाज रखता मनोहर उसके साथ चल दिया।

जंग की पहली खूंखार नज़र भावुक आदमी का कितना कुछ हर लेती है, यह उन दोनों में से कोई नहीं जानता था। जंग की कहानियाँ और वास्तविक जंग में उतना ही फर्क होता है जितना शब्द 'तलवार' और सामने लहराती खून की प्यासी नंगी तलवार में। कड़े प्रशिक्षण के बाद दोनों युवकों को एक ही टुकड़ी में कभी एक छावनी से दूसरी छावनी तक भागना पड़ा तो मनोहर की बोलती बंद हो गई। लेखराज के लिए सलामती की मन्त मांगने वाली दूर पीछे रह गई थी।

जंग का चेहरा तब और भी बदसूरत हो जाता है जब दुश्मन पर बिजली की चमक की तरह टूट पड़ने वाले सैनिकों के हौंसले बुलंद हों परन्तु दिशा-निर्देश देने वालों के हाथ अशरफियों, वजीफों और पैशननों से बांध दिये जाएं।

सरदार लाल सिंह के नेतृत्व में उनकी सेना ने सतलुज नदी को पार किया था। लंबे मैदान में जहाँ वे रुके थे वहाँ से एक मील के लगभग दूरी पर फिरंगी फौज की छावनी थी।

झाड़ियों के पीछे मोर्चा बांध दिया गया। लेखराज भी इसी टुकड़ी में था। फिरंगी की छावनी की तरफ एकटक देख रहा था। अचानक खालसा फौज को गोलाबारी का हुक्म मिलता है। तोपें गोले बरसाने लगती हैं। गोले बरसाने के बाद अचानक खामोश हो जाती हैं।

सैनिकों के लिए यह स्थिति बड़ी बेचैन करने वाली लगती है। खामोशी जानलेवा होने लगती है क्योंकि इस तरह की लड़ाई में होता यह है कि गोलीबारी के बाद फौज को आगे बढ़ना होता है। नगाड़ों की आवाज के साथ, खालसा सैनिकों को अच्छी नागदार लगती है बार-बार पीछे मुड़कर देखते हैं कि कब आदेश मिले और ललकारते हुए दुश्मन पर धावा बोल सकें, परन्तु चुप्पी टूटती नहीं। हमला जंग में बड़ी अहमियत रखता है। इस अवसर से चूक जाना बड़ा नुकसान करवा सकता है। खालसा फौज यह अवसर खो चुकी थी। फिरंगी तोपें दनदना रही हैं और खालसा फौज की गोलाबारी भरपूर जवाब नहीं देती और फिर जब तने हुए युद्धस्थल में यह आवाज़ सुनाई पड़े कि फौज के बड़े सरकार युद्धस्थल पर नहीं है। पिछली रात की मुठभेड़ से पहले वह अपने मुकाम से गायब है तब सैनिकों की दशा क्या होगी ?

यहाँ कथाकार की इतिहास सम्मत टिप्पणी अर्थपूर्ण है कि तथ्यों की जाँच पड़ताल के बाद फिरंगी इतिहासकार ने

बीसियों बरस बाद लिखा कि जंग से दो दिन पहले सरदार ने अपने गुप्तचर शम्मुद्दीन के साथ, फिरंगी मेजर लॉरेंस को पूरा-पूरा ब्यौरा दिया था। इस ब्यौरे में फौज की तैनाती, फौज की ताकत और फौज के कमजोर हिस्से का सब कुछ बता दिया गया था।

इस खुफिया सूचना के पूरे दाम मिले। शम्मुद्दीन को फिरंगी लाट से पाँच हजार रुपये इनाम मिले। अढ़ाई हजार महीना की पेंशन।

शायद प्रियंवद ने कहीं कहा है कि भारत का इतिहास पराजित नायकों का इतिहास है। भारत का इतिहास लाक्षागृहों, जयचंदों, और शम्सुद्दीनों का इतिहास भी है। युद्ध में अनेक भेद हुए हैं। भेदों की आगे पर्ते हैं। जवानों में जोश और मातृभूमि के लिए कुर्बान होने की जज्बे में कहीं कमी नहीं परन्तु कमी है उनमें जिनका काम देश के चप्पे-चप्पे की जमीन को अपना संरक्षण देना है। वे फौज की कमर तोड़ने के लिए दुश्मन को संदेशा भेज रहे हैं। अपनी फौज को ईंधन बनवा रहे हैं ताकि दुश्मन के विजयी होने पर दुश्मन की सरपरस्ती में ऊँचा औहदा मिल जाये। कोई सोच भी नहीं सकता था कि हजारों सैनिकों को मरवाने के लिए षडयन्त्र रचा जा सकता है। इतिहास की व्याख्या की कितनी परतें होती हैं और उन परतों में कितने साहस, कितनी दलेरी और कितनी साजिशें छुपी होती हैं।

इतिहास राजाओं, राजवंशों और राजगदियों की कहानियाँ नुमायां तरीके से सुनाता है। साजिशों की वजह से राह भटके सिपाहियों की कहानियों के लिए वहां जगह बहुत कम होती है।

जिस सैनिक ने जीवन का पूरा जोश, हिम्मत और लक्ष्य एक संग्राम से बांध दिया हो, पराजित होकर लौटने पर उसकी जो दशा होती है वह व्यथा से भरी तो रहती है परन्तु भटकाव की राह भी खोल देती है।

नक्सलवादी आन्दोलन के टूटकर बिखरने पर हमने लड़ाकू लोगों को भटकते देखा है। खालसा फौज की हार के साथ लेखराज भटक रहा है। जगदीशचन्द्र के उपन्यास 'टुंडा लाट' और 'लाट की वापसी' का नायक कैप्टन सुनील कपूर जिस हाथ से वायलिन बजाने का सपना देखता था, वह हाथ खोकर अनबहे आँसुओं के साथ भटक रहा है। (बेशक सुनील कपूर पराजित सेना का नायक नहीं है परन्तु नौकरी खोकर उसका भटकाव युद्ध के ज़ख्मी नायक का भटकाव है।)

लेखराज के दोस्त मनोहर की छाती में संगीन धंसी है। खून बह रहा है परन्तु वह फिर भी तलवार चला रहा है। और भटकते लेखराज की नींद टूटती है जब वह मुचड़ा हुआ अंगरखा पहने घनपत से सुनता है 'मैंने कहा था या नहीं'? कि अमलदारी बदल जायेगी, कि मेरी जीत होगी... कुटिल, मतलबपरस्त और कायर सच्चे बहादुरों और सच्चा लक्ष्य लेकर लड़ने वालों पर कटाक्ष कस रहे हैं।

'अमलदारी बदल जाने का अर्थ होता है कि कल जो दुश्मन थे, वे दोस्त बन जाते हैं, कल तक जो भगोड़े थे, वे सिपहसालार बन जाते हैं। जो काला था वह उजला लगने लगता है, और सैनिक? सैनिक नहीं बदलता। वह केवल लड़ता है, मरता है, जान हथेली पर रखकर जंग के मैदान में उतरता है, अपने जौहर दिखाता है, क्योंकि वह अपने सरकार के हुक्म पर मर मिटने की कसम खाए होता है।' (पृ. १३८, १३७)

उपन्यासकार कथा कहते-कहते बुनियादी बदलाव की कथा कहते हैं। अमलदारी के जाने के साथ दीवान मय्यादास की माड़ी पर साये फैल गये। उनका दिवाला पिट गया था। खालसा राज को बचाने के लिए सभी कुछ दे डाला था। पराजय के साथ उनकी सारी दौलत बह गई। वक्त के तूफान ने उन्हें बूढ़ा और अशक्त कर दिया।

'नई अमलदारी, अपनी कदरें-कीमतेँ लेकर, अपने नए किरदार, तौर-तरीके लेकर कस्बे की ओर बढ़ती आ रही थी।

उसके अपने आग्रह थे, दबाव थे.... इसे भी जीवन की विडम्बना ही मानिए कि जिस ओर सत्ता का पलड़ा भारी होता है, उसी ओर प्रजा की मान्यतायें भी झुकने लगती हैं'... (144)

मय्यादास की आबरू में फीकापन सा आने लगा। लोग कहने लगे कि अपनी अक्कड़ में सारा रुपया-पैसा खालसा दरबार को दे आये। यह नहीं जानते थे कि फिरंगी का सितारा बुलंदी पर है।

फिरंगी सरकार का नया कानून बना कि काश्तकार अपनी जमीन गिरवी रखकर कर्ज ले सकता है। साहूकार चल निकला। कर्जदार को विलायती माल बेचा जाने लगा। एक-एक तीर से दो-दो शिकार होने लगे। काश्तकार को अनाज का दाम कम लग रहा है पर विलायती माल मँहगे दामों बिक रहा है।

ऐसे दिनों में स्वाभाविक था कि मय्यादास जैसे लोग बाहर की दुनिया से कहने लगे मुरब्बे बँटते हैं तो घनपत जैसे विदूषक दीवान को तीन गाँव मिल जाते हैं। लोग लपककर मदद लेने आये परन्तु मय्यादास अपनी नमक हलाली की हद से बाहर नहीं आ पाये।

बदलाव रियासत और सियासत तक ही सीमित नहीं है। उम्मीदें कस्बे के इतिहास को चिंघाड़ती हुई रेलगाड़ी पार कर रही है। लोगों को समझ नहीं आ रहा कि इसे फिरंगी की दरियादिली समझें या कोई चाल? 'गोल चपटा गूंगा-बहरा देंत, सीधा बिना देखे आगे बढ़ता जा रहा था।'

दीवान मय्यादास जो कभी नहीं झुके। हार कर फिरंगी गार्ड को फर्जी सलाम कर इन्साफ मांग रहे हैं। यही उनका अंत है। प्रशासन ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथों से निकल गया, अंग्रेज सरकार सीधे चला रही थी। लोग नहीं जानते थे कि रेलगाड़ी उनके लिए है या भारत से कच्चा माल ढोने के लिए। औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी और विज्ञान के अनुसंधान से अवाम नहीं, एकाधिकारी लाभान्वित हो रहे थे।

उनकी दिलचस्पी थी भारत को पिछड़ा हुआ कृषि प्रधान मुल्क बनाये रखने में, औद्योगिक देश की छवि उन्हें अपने स्वार्थ के तहत पसन्द नहीं थी। व्यापार और केवल व्यापार जिसका किसी नैतिकता से कोई रिश्ता नहीं होता। आज फिर विश्व बैंक, डब्ल्यू टी. ओ आदि की मार्फत तीसरी दुनिया के मुल्कों में धन लगाने की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की तैयारी इससे कहीं चालाक और ज्यादा स्वार्थी है।

उपन्यास में इसके बीच निराशा नहीं होती। भारत एक दिन अपना भाग्य बदल पायेगा, इसके संकेत मिलने लगते हैं। यहाँ वानप्रस्थी जैसे लोग हैं, जो शिक्षा के प्रसार-प्रचार और खास कर भारत की महिलाओं में शिक्षा की ज्योति प्रकाशित करने के काम में लगे हैं। रुक्मणी जैसी महिलायें हैं जो तमाम बाधाओं को पार कर वानप्रस्थी के स्कूल में पढ़ने के लिए पहुँच जाती हैं। आज एक औरत का इस काम के लिए निकलना जितना सहज है उतना सहज तब नहीं था। अलबत्ता सामाजिक वर्जनाओं को तोड़कर निकलने जैसा था।

'मय्यादास की माड़ी' बदलते समय की हर पदचाप को पहचानने और रचनात्मक स्तर पर कथा में सफलता के साथ ढालने में पूरी तरह सफल कथाकृति है।



हिन्दी की पहली गज़ल - एक विश्लेषण

-डॉ. राजेन्द्र टोकी

हिन्दी गज़ल पर दो चार आलोचकों या गज़लकारों को छोड़कर किसी ने गम्भीरता से चिन्तन मनन नहीं किया है। हिन्दी गज़ल के प्रारम्भ को लेकर बिना सोचे-समझे कभी अमीर खुसरो तो कभी कबीर को पहला गज़लकार कहने की परम्परा सी चल पड़ी है, जिस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। 'दूर की कौड़ी' लाने की झोंक में ऐसा हुआ है।

अमीर खुसरो ने एक मिसरा फ़ारसी में और एक हिन्दी में लिखकर जो नया प्रयोग किया, उसी को आधार बनाकर उन्हें हिन्दी का गज़लकार स्वीकार कर लिया गया। प्रायः सभी गज़ल आलोचक इसे स्वीकार करके बैठ गये हैं। सरदार मुजावर ने तो यह तक कहा, "आदिकाल के एक नामवर कवि अमीर खुसरो हिन्दी गज़ल के जनक माने जाते हैं। तेरहवीं सदी में उन्होंने पहली गज़ल कही। अमीर खुसरो ने खड़ी बोली में गज़लें कही हैं। उनकी गज़लों का एक संग्रह भी है जिसमें गज़लों की संख्या एक हजार के आस-पास मानी गई है। खुसरो की एक गज़ल ऐसी है जिसकी एक पंक्ति फ़ारसी में और दूसरी हिन्दी में, फ़ारसी एवं खड़ी बोली के मिलाप से उनकी गज़लों में नया रंग खिलता हुआ दिखाई देता है।" मुजावर साहब के इस वक्तव्य में सबसे बड़ी दिक्कत प्रामाणिकता की है। खुसरो का अभी तक कोई गज़ल संग्रह देखने में नहीं आया। सुनी-सुनाई बातों से इतिहास नहीं बनता। अतः एक हजार गज़लों वाली बात अत्यंत भ्रांतिपूर्ण है। रही फ़ारसी हिन्दी मिश्रित गज़ल की बात सो इसे डॉ. हरिमोहन (और कुछ दूसरे आलोचक भी) हिन्दी की पहली गज़ल मानते हुए जो उदाहरण देते हैं वह बड़ा दिलचस्प है।

जहाल मिस्कीं मकुन तगाफुल दुराये नैना बनाये बतियाँ,
किताबे हिज़ां न दारम-ए-दिल न लीह काहे लगाये छतियाँ।²

इसे किस दृष्टि से हिन्दी का शेर माना जाये यह तो मुजावर साहब, हरिमोहन साहब या इनके समर्थक आलोचक ही बता सकते हैं। क्या फ़ारसी मिश्रित हिन्दी को हिन्दी का पहला रूप माना जा सकता है? उल्लेखनीय है कि भोलानाथ तिवारी ने अपनी पुस्तक 'अमीर खुसरो और उनका हिन्दी साहित्य' में ऐसी किसी गज़ल को शामिल नहीं किया है। गोपीनाथ 'अमन' इस फ़ारसी ब्रज मिश्रित गज़ल के बारे में कहते हैं, "इन शेरों में उर्दू भाषा के प्रथम चिह्न पाए जाते हैं-आधी फ़ारसी और आधी हिन्दी-इसे अमीर खुसरो का प्रथम प्रयास समझना चाहिए।"³ ये प्रथम प्रयास किसका है - फ़ारसी का या हिन्दी का? फिर ये प्रयोग है तो हिन्दी में या फ़ारसी में? यह भी स्पष्ट नहीं। हिन्दी की अभी तक प्राप्त गज़लों में किसी में भी फ़ारसी का इस धड़ल्ले से प्रयोग देखने को नहीं मिलता। अतः यह गज़ल हिन्दी की पहली गज़ल होने का कोई तर्कसंगत आधार प्राप्त नहीं करती। भोलानाथ तिवारी ने इस रचना को 'फ़ारसी हिन्दी मिश्रित छंद' के अन्तर्गत रखा है।⁴

खुसरो की एक अन्य गज़ल भी उद्धृत की जाती है। 'सापेक्ष-32' के गज़ल विशेषांक में इसे शामिल किया गया है और भोलानाथ तिवारी ने 'अमीर खुसरो और उनका हिन्दी साहित्य' में इसके बारे में लिखा है, "उसके नाम से हिन्दी में एक गज़ल भी मिलती है जो यदि सचमुच उनकी है तो हिन्दी की प्राचीन गज़ल कहलाने की अधिकारिणी है।"⁵

वह ग़ज़ल है -

जब यार देखा नैन भर, दिल की गयी चिन्ता उतर ।
ऐसा नहीं कोई अजब, राखे इसे समझाय कर ।
जब आँख से ओझल भया, तड़पन लगा मेरा जिया ।
हक्का इलाही क्या किया, आँसू चले भर लाय कर ।
तूँ तो हमारा यार है, तुझ पर हमारा प्यार है ।
तुझ दोस्ती बिस्तार है, इक शब मिलो तुम आय कर ।
जानाँ तलब तेरी करूँ, दीगर तलब किसकी करूँ ।
तेरी जो चिन्ता दिल धरूँ, इक दिन मिलो तुम आय कर ।
मेरा जो मन तुमने लिया, तुमने उठा गम को दिया ।
तुम ने मुझे ऐसा किया, जैसा पतिंगा आग पर ।
'खुसरो' कहे बातों गजब, दिल में न लावे कुछ अजब ।
कुदरत खुदा की है अजब, जब जिव दिया गुल लाय कर ।

पहली बात तो यह है कि भोलानाथ तिवारी स्वयं इसे 'यदि सचमुच' लिखते हुए इसकी प्रामाणिकता में संदेह व्यक्त करते हैं। अब जो ग़ज़ल प्रामाणिक ही नहीं है उसे पहली ग़ज़ल कैसे कहा जाये, क्यों कहा जाये। दूसरी बात यह कि दूसरी ग़ज़ल कबीर की मानी जाती है। (इस पर आगे विस्तार से बात करेंगे)। खुसरो (1253 - 1325 ई.) और कबीर (1499 - 1535 ई.) के बीच पौने दो सौ साल का अन्तर है। क्या कबीर खुसरो से केवल एक ग़ज़ल की ही प्रेरणा ग्रहण कर सके। एक बात और भी है - खुसरो से हिन्दी ग़ज़ल का प्रारम्भ मानने पर हमें उर्दू ग़ज़ल का प्रारम्भ भी खुसरो से मानना होगा जो कि सरासर ग़लत है। डॉ. परमानन्द पांचाल ने तो फ़ारसी मिश्रित ग़ज़ल का उदाहरण देते हुए यहाँ तक लिख दिया है, "हिन्दी में ग़ज़ल एक प्रकार से उर्दू की अपेक्षा पहले लिखी गई क्योंकि उस समय तक उर्दू शब्द की उत्पत्ति नहीं हुई थी।"⁷ हिन्दी ग़ज़ल का प्रारम्भ खुसरो से मानना एक ऐसी ज़िद है जिसका कोई क्या जवाब दे। खुसरो का हिन्दी साहित्य लिखित में नहीं है। खुद पांचाल साहब मानते हैं कि "खुसरो का कोई लिखित काव्य उपलब्ध नहीं है।"⁸ फिर सवाल यह भी है कि खुसरो के बाद भारतेन्दु तक क्या केवल कबीर की एक ग़ज़ल से संतोष कर लिया जाये? क्या खुसरो ने जहाँ हिन्दी में अन्य ढेर सारी रचनाएँ की, वहाँ ग़ज़ल केवल एक ही कही।

अब ज़रा खुसरो की दूसरी ग़ज़ल पर भी नज़रसानी कर लें। इस ग़ज़ल के बारे में सफ़दर आह का वक्तव्य महत्वपूर्ण भी है, पर्याप्त भी - "यह ग़ज़ल भी शीरनी साहब ने प्रोफेसर सिराजुद्दीन 'आजर' की किसी ऐसी पाकेटबुक से अनुकरण किया है, जिसके लिखने का समय उनके कथनानुसार तेरहवीं सदी हिज़्री के प्रारम्भिक वर्ष हैं। यहाँ भी 'कातिब' पाकेटबुक की भाषा से इतना अनभिज्ञ है कि किसी प्राचीन दक्षिणी कवि की ग़लत 'तुकबंदी' को अमीर खुसरो की 'ग़ज़ल' बता रहा है। 'जब यार देखा नैन भर', 'ऐसा नहीं कोई अजब', 'ओझल भया लाय कर', 'हक्का इलाही क्या किया' तथा 'बातों गजब' इत्यादि ये सब दक्षिणी बोली के अंश हैं, जो आज भी दक्षिणी मुसलमानों के घरों में बोले जाते हैं। यह 'ग़ज़ल' बिलकुल अमीर खुसरो की नहीं हो सकती।"⁹ खुसरो की इन दोनों ग़ज़लों पर विवाद अभी तक थमा नहीं है। ऐसे में खुसरो को पहला हिन्दी का ग़ज़लकार कहना उचित नहीं है। प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि उर्दू के प्रसिद्ध शोधकर्ता और आलोचक गोपीचन्द नारंग ने अपनी किताब 'अमीर खुसरो का

हिन्दवी काव्य' में पहली ग़ज़ल का उल्लेख तो किया है लेकिन कहीं दूसरी ग़ज़ल का उल्लेख नहीं है।¹⁰ ब्रजरत्न दास द्वारा संकलित और सम्पादित पुस्तक 'खुसरो की हिन्दी कविता' में दोनों का ही वर्णन नहीं है।

कुछ ऐसी ही स्थिति कबीर की एकमात्र ग़ज़ल के साथ है। दरअसल कुछ आलोचकों ने कबीर के एक पद को ग़ज़ल के रूप में प्रस्तुत करके कबीर को भी ग़ज़लकार बना दिया है और यूँ शून्य काल को पाटने की कोशिश की है। केवल मतला, रदीफ और काफिये के प्रयोग से कबीर ग़ज़लकार नहीं हो जाते। रोहताश्व तो अपने शोध प्रबंध में 'अमीर खुसरो' के साथ-साथ कबीर की एक ग़ज़ल उद्धृत करके उनकी 'ग़ज़लों' का विश्लेषण करते हैं मगर किसी और ग़ज़ल या शेर को उद्धृत नहीं करते। कबीर की एक ग़ज़ल को जो वस्तुतः पद है, और ग़ज़ल की पद्धति पर है, प्रायः सभी ने उद्धृत करके अपने कार्य की इतिश्री कर ली है। कबीर की इस तथाकथित ग़ज़ल का उदाहरण इसलिये दे रहा हूँ ताकि अमीर खुसरो की ग़ज़ल से इसकी तुलना करके ग़ज़ल के मूल मिजाज़ को पकड़ा जा सके-

हमन है इश्क़ मस्ताना हमन को होशियारी क्या?
 रहें आज़ाद या जग में, हमन दुनिया से यारी क्या?
 जो बिछुड़े है प्यारे से, भटकते दर ब दर फिरते,
 हमारा यार है हममें हमन को इंतजारी क्या?
 खलक सब नाम अपने को, बहुत कर सिर पटकनां है
 हमन हरिनाम रांचा है, हमन दुनिया से यारी क्या?
 न पल बिछुड़े पिया हमसे, न हम बिछुड़े प्यारे से,
 उन्ही से नेह लागा है, हमन को बेकरारी क्या?
 कबीरा इश्क़ का माता, दुई को दूर कर दिल से,
 जो चलना राह नाजुक है, हमन सर बोझ भारी क्या?¹¹

कबीर की इस तथाकथित ग़ज़ल के बारे में कुछ बातें स्पष्टीकरण मांगती हैं। कबीर की प्रामाणिक रचनाओं में यह ग़ज़ल संकलित नहीं है। 'बीजक' और श्यामसुंदर दास, पिताम्बर बड़थवाल द्वारा सम्पादित ग्रंथों में ये नहीं है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी जैसे अद्वितीय विद्वान की विडम्बना देखिये कि अपनी पुस्तक 'कबीर' में जहाँ उपर्युक्त पद (ग़ज़ल) को व्यक्तित्व विश्लेषण के प्रसंग में 'शब्दावली, कबीर साहब की' से उद्धृत करते हैं,¹² वही 'बीजक' और श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रंथावली' को प्रामाणिक मानते हैं।¹³ वे परिशिष्ट -2 में संकलित 'कबीर वाणी' में इसे संकलित भी नहीं करते। यही नहीं भानुमति के पिटारे की भांति सब कुछ संकलित करने वाले डॉ. युगेश्वर ने भी इसे 'कबीर समग्र - भाग - 2 में 'ज्ञान और भक्ति' के पदों के अन्तर्गत रखा है।¹⁴ कबीर वाणी का अध्ययन करने पर यह बात भी स्पष्ट है कि ये 'पद' कबीर के शेष पदों से रंग, रूप में भिन्न हैं। क्या कबीर केवल एक ग़ज़ल लिखने वाले संत कवि हैं? फिर कबीर के पास तो 'दोहा, पद, चौपाई' जैसी अद्भुत क्षमता वाले अस्त्र मौजूद हैं, इन्हें केवल एक ग़ज़ल की आवश्यकता क्यों पड़ी। कबीर अनपढ़ थे। उर्दू ग़ज़ल अभी शुरु भी नहीं हुई थी - कोई मुसलमान इसे लिखता भी नहीं था, तब कबीर के हाथ उर्दू में यह विधा कैसे लगी? यह चिन्तन का विषय है। यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि उर्दू ग़ज़ल का वास्तविक प्रारम्भ कुली कुतुबशाह से माना जाता है जिसका शासनकाल 1580 ई. से 1611 ई. तक माना जाता है। कबीर की मृत्यु 1535 ई. में हो जाती है। कुली कुतुबशाह से पहले, बकौल उर्दू के श्रेष्ठ आलोचक और शायर फ़िराक गोरखपुरी, "इससे पहले जो उर्दू कविताएँ मिलती हैं, वे सूफ़ी सिद्धान्तों का प्रतिपादन मात्र

है, उनमें न स्वाधीन अभिव्यक्ति है, न विषयबाहुल्य। इसलिये उनका केवल ऐतिहासिक महत्व है। इसके विपरीत सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुबशाह की रचनाओं को वास्तविक अर्थों में साहित्यिक कोटि में रखा जा सकता है।”¹⁵ अब ऐसे में कबीर की ग़ज़ल कहाँ ठहरती है – यह सुविज्ञ पाठक स्वयं अंदाज़ लगा लें। क्या उर्दू वाले कबीर को पहला ग़ज़लकार मानने को तैयार हैं? कबीर की इस तथाकथित ग़ज़ल को प्रामाणिक मानने पर भी कई प्रश्न अनुत्तरित रहेंगे। अतः तर्क और प्रमाणों की कसौटी पर अमीर खुसरो की भांति कबीर भी पहले ग़ज़लकार सिद्ध नहीं होते। कबीर और भारतेन्दु के बीच के अन्तराल को पाटना संभव नहीं है। यदि इससे विद्वानों को कोई फ़र्क न पड़ता हो तो रीतिकाल को केशवदास से मानने में (जबकि वहाँ अन्तराल इसकी तुलना में कम है) क्या आपत्ति है? नचिकेता ने ठीक कहा है, “यह निर्विवाद है कि हिन्दी ग़ज़ल का जन्म उर्दू ग़ज़ल के गर्भ से हुआ है, इसलिये अन्य विधाओं की तुलना में इसमें उर्दू के शब्दों, प्रतीकों, मुहावरों, छंदों और रूढ़ियों का असर अधिक पाया जाता है।”¹⁶ यहाँ यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर साहित्य की परख में काव्य की इस विधा का उल्लेख नहीं किया है, न ही इस पद का।¹⁷

इससे पहले कि मैं भारतेन्दु युग तक आऊँ एक शंका का निवारण करता चलूँ जो बिना किसी पुष्ट प्रमाण के सूर्यप्रकाश शर्मा ने अपनी पुस्तक ‘ग़ज़ल: एक यात्रा’ में पैदा कर दी है। यूँ हिन्दी में प्रकाशित अधिकांश पुस्तकों की यही स्थिति है। शर्मा ने लिखा है, “यद्यपि हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काफ़ी संख्या में ग़ज़लें कही हैं, और हम हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम ग़ज़लकार भी उन्हीं को मानते हैं तथापि उनके पूर्व भी भक्तिकाल, रीतिकाल आदि में भी कवियों ने अपनी कविताओं में ग़ज़ल शैली का प्रयोग किया है।”¹⁸ इसके बाद उन्होंने पहले कबीर के उस पद को उद्धृत किया है। इसके बाद ये टिप्पणी “भारतेन्दु से पूर्व भी अन्य कवियों ने ग़ज़लें लिखी हैं, जिन्हें हिन्दी की ग़ज़लें कह सकते हैं।”¹⁹ इसके बाद उन्होंने ‘रघुनाथ बन्दीजन’ और ‘किशोरी लाल’ की एक – एक तथाकथित ग़ज़ल उद्धृत कर दी है। अब शर्मा साहब यदि भारतेन्दु को पहला ग़ज़लकार मानते हैं तो इन दो बेचारे कवियों को क्यों उद्धृत किया। क्या इनकी ग़ज़लों के ‘ग़ज़ल’ होने में कोई संदेह है। यदि है तो उल्लेख क्यों नहीं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि ये ग़ज़लें पं. गिरिजा दत्त शुक्ल ‘गिरीश’ जी की 1957 में प्रकाशित ‘उर्दू के कवि और उनका काव्य’ पुस्तक से उद्धृत की गई हैं – यानी शर्मा साहब का अपना कोई मूल स्रोत नहीं है। अब ज़रा ‘गिरीश’ जी की पुस्तक का अवलोकन कर लिया जाये। ‘गिरीश’ जी उर्दू को एक शैली ही नहीं मानते हैं, इसे विदेशी भी सिद्ध करते हैं, “जो आर्य सस्कृति के विरोधी हैं।”²⁰ उसकी पूरी किताब का निचोड़ यही है। उन्होंने ये तथाकथित पद कहाँ से प्राप्त किये, इसका कहीं उल्लेख नहीं है। सबसे मज़ेदार बात यह है कि ‘गिरीश’ जी ने जो उदाहरण दिये हैं वे उर्दू का प्रभाव सिद्ध करने के लिये दिये हैं, ये पद हैं कि ग़ज़ल इस पर कहीं कुछ नहीं कहा है उन्होंने। शर्मा जी ने अपनी ‘ग़ज़ल’ की समझ का परिचय देते हुए रीतिकाल के रघुनाथ बन्दीजन के कवित्त को ‘ग़ज़ल’ के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। अपनी बात को सिद्ध करने के लिये ये उदाहरण देना ही पड़ेगा। पाठक इसे ‘कवित्त’ के ढंग से पढ़ेंगे तो अधिक आनन्द आयेगा – ‘गिरीश’ जी ने तो इसे प्रकाशित ही कवित्त के ढंग से किया है –

आप दरियाव पास नदियों के जाना नहीं

दरियाव पास नहीं होयगी सो धवैगी

दरखत बेलि आसरे को कभी राखत ना

दरखत ही के आसरे को बेलि पावैगी

लायक हमारे जो था कहना कहा सो मैंने

रघुनाथ मेरी मति न्याय ही को गावैगी
वह मुहताज आपकी है आप उसके न
आप कैसे चलो वह आप पास आवैगी।²¹

शर्मा ने जिस दूसरे कवि 'किशोरी लाल' का उदाहरण 'गिरीश' की किताब से दिया है, वह एक तो 'किशोरीलाल' नहीं 'किशोरी लाल गोस्वामी' है, दूसरे उनका उल्लेख भारतेन्दु के बाद प्रेमधन, प्रतापनारायण मिश्र, नाथूराम शंकर, हरिऔध के बाद किया गया है। वे 'रीतिकाल' के हैं ही नहीं। अब ऐसी भ्रांतियाँ हिन्दी ग़ज़ल पर छाई धुंध को बढ़ाने का ही काम करेंगी।

अब सवाल यह है कि हिन्दी की पहली ग़ज़ल या ग़ज़लकार किसे कहा जाए? इन पंक्तियों का लेखक, बिना किसी दावे के, पूरी विनम्रता के साथ, यह स्पष्ट करना चाहता है कि भारतेन्दु से ज़रा पहले प्रामाणिक रूप से केवल एक ग़ज़ल उसकी दृष्टि में आई है जिसका नोटिस नहीं लिया गया। संभवतः वह लोगों तक कम पहुँची है हिन्दी के कम ख्यात लेखक और कवि श्रद्धाराम फिल्लौरी की ग़ज़ल। यदि केवल एक ग़ज़ल हिन्दी ग़ज़ल का प्रारम्भ बताने के लिये पर्याप्त हो तो श्रद्धाराम फिल्लौरी को पहला ग़ज़लकार कहा जा सकता है। 'फिल्लौरी' के 'सत्यधर्म मुक्तावली' काव्य संग्रह में 'रेल की ग़ज़ल' शीर्षक के अन्तर्गत यह ग़ज़ल संकलित है -

सटेशन जिसम है मेरा नफस की रेल चलती है।
पकड़ सकता नहीं कोई कि जब फारम निकलती हैं।
नहीं आती है जब तक तार धुर से लेन कलियर की।
करो दिल की सफाई फिर जरा फुरसत न मिलती है।
टिकट नेकी का हो लिस पास बुह अंदर पहुँचता है।
वगैरज टिकट के दुनिया खड़ी ही हाथ मलती है।
बजा करती है सीटी रात दिन या मौत की लोगो।
बेदों के वास्ते हर दम पुलिस दर पै टहलती है।
करे नेकी अगर जायद तो पावे दरजहे अब्वल।
टिकट लेली अभी कुछ देर है इंजन बदलती है।
गया बचपन जवानी ने बजाई दूसरी घंटी।
चलो जलदी नहीं तो तीसरी घंटी उठलती हैं।
उठा असवाव अपना हक शनासी का चड़ो जल्दी।
नहीं तो पछड़ जावोगे घड़ी इसकी न टलती है।
खड़े रह जायेंगे चुपचाप फाटक पर जो गाफिल हैं।
वुह जलदी देर 'श्रद्धा' अब भला क्या पेशचलती है।²²

इस ग़ज़ल को 'मुसल्लल' ग़ज़ल भी कहा जा सकता है क्योंकि रेलगाड़ी का प्रतीक लेकर सम्पूर्ण ग़ज़ल कही गई है। फिल्लौरी का यह काव्य - संग्रह सन् 1875 में पहली बार प्रकाशित हुआ था। अतः स्पष्ट है कि यह ग़ज़ल भारतेन्दु युग की है और इसी युग से हिन्दी ग़ज़ल का प्रारम्भ माना जाना चाहिए। मुझे पूरा यकीन है कि कुछ लोग इस प्रामाणिक ग़ज़ल पर नाक - भौं चढ़ाएंगे, अजीब - अजीब तर्क भी देंगे। लेकिन मुझे यहाँ केवल इतना ही कहना है कि यदि

अमीर खुसरो या कबीर की अप्रामाणिक एक गज़ल से काम चल सकता है – विद्वानों ने बिना सोचे- समझे चलाया भी है – तो फिल्लौरी की इस प्रामाणिक गज़ल से क्यों नहीं चलाया जा सकता? फिर भी यदि उन्हें पहला गज़लकार न मानने की ज़िद ही हो तो सिवाए आगे बढ़ने के और कोई रास्ता नहीं क्योंकि पीछे तो लौटा ही नहीं जा सकता।

अतः अब हम भारतेन्दु की बात कर सकते हैं। निसंदेह भारतेन्दु ने 25 के लगभग गज़लें कही हैं और वे पहले गज़लकार कहे जा सकते हैं। उनकी ये प्रारम्भिक गज़लें हैं और यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भारतेन्दु मूलतः गज़लकार नहीं हैं। उनके बाद के गज़लकारों के बारे में भी यही कहा जा सकता है। नचिकेता ने इस संदर्भ में ठीक ही कहा है, “दुष्यंत कुमार से पहले गज़ल हिन्दी की एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्वीकृत होने के रूपगत प्रयोग के रूप में ही स्वीकृत थी।”²³ इस सच्चाई को स्वीकार करते हुए यदि ऐतिहासिक काल क्रम से देखने की आवश्यकता हो तो ‘भारतेन्दु युग’ को ही आधार बनाया जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. सरदार मुजावर : हिन्दी गज़ल गज़लकारों की नज़र में, सं. 2001, पृ. 17
2. हरिमोहन : साहित्यिक विधाएं : पुनर्विचार, सं. 1997, पृ.
3. गोपीनाथ ‘अमन’ : उर्दू और उसका साहित्य, पृ. 12
4. श्री भोलानाथ तिवारी : अमीर खुसरो और उनका हिन्दी साहित्य, सं. 1985, पृ. 128, पृ. 43
5. वही, पृ. 43
6. सापेक्ष 32, पृ. 13
7. डॉ. परमानन्द पांचाल : भारत की महान विभूति अमीर खुसरो, हिन्दी बुक सेंटर, सं. 2001, पृ. 47
8. वही, पृ. 44
9. सफ़दरआह : महाकवि खुसरो, उत्तर प्रदेश संस्थान, लखनऊ, द्वि. सं. 1996, पृ. 31
10. गोपीचन्द नारंग : अमीर खुसरो का हिन्दी काव्य, सं. दूसरा, 2002, पृ. 91
11. सापेक्ष 32, पृ. 14
12. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर : सं. तीसरा 1976, पृ. 166
13. वही, पृ. 32 - 34
14. डॉ. योगेश्वर : कबीर समग्र - भाग 2, हिन्दी प्रचारक संस्थान, से. , पृ. 1370
15. फिराक गोरखपुरी : उर्दू भाषा और साहित्य : उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वि. सं. 1979, पृ. 4
16. रमेश नीलकमल (सं.) : दर्द अभी तक हम साए हैं, सं. 1992, पृ. भूमिका 12
17. परशुराम चतुर्वेदी : कबीर साहित्य की परख, सं.तृ. 1972, पृ. 182 - 204
18. सूर्य प्रकाश शर्मा : गज़ल एक यात्रा, सं. 1988, पृ. 34
19. वही, पृ. 35
20. पंडित गिरिजा दत्त शुक्ल गिरीश : उर्दू के कवि और उनका काव्य, सं. 1957, पृ. 167
21. वही
22. सरनदास भनोट (सं.) : श्रद्धाराम ग्रंथावली
23. रमेश नीलकमल (सं.) : दर्द अभी तक हम साए हैं, सं. 1992, पृ. 14



साहित्य और मानवीय मूल्य

-डॉ पूनचंद टंडन

उत्तर आधुनिक घटाटोप से चतुर्दिक घिरे हुए समय में जब साहित्य और मानवीय मूल्य कहीं गहरे अवमूल्यन के दुर्दम में हों तथा 'पॉपुलर कल्चर' की पैरवी कर साहित्य को मनोरंजन का एक माध्यम मात्र मान लिया गया हो और जिस आधुनिक समाज से उसका पड़ोस और अपना परिवार तक छूटता जा रहा हो तब साहित्य और मानवीय मूल्यों की बात करना एक नज़र में मूढ़ता प्रतीत हो रही है, पर आज आप सब सुधीजनों के बीच इस चुनौती को स्वीकार कर कुछ कहने का दुस्साहस कर रहा हूँ तो इसके पीछे साहित्य और मानवीय मूल्यों के प्रति मेरी अप्रतिहत आस्था ही प्रमुख है। निजी तौर पर मेरे लिए साहित्य खंड-खंड में बंटी कोई वस्तु नहीं है और मानव मात्र की एकात्मकता भी मन में कहीं ऐसे गहरी धंसी है कि राष्ट्र, राज्य, समाज, जाति वर्ण के आधार पर मानव-मानव के बीच खड़ी की गई दीवारें साहित्य का सजग पाठक होने के नाते मुझे बराबर व्यर्थ लगती रहीं हैं। मुझे साहित्य प्राचीन, मध्ययुगीन और नवीन रूपों में अलग-अलग नहीं दिखता, बल्कि अपनी संश्लिष्टता में वह मुझे और आप सबको भी भीतर तक डूबोता-मथता रहा है और अपने 'सहित' भाव के साथ हमें मानव-मात्र के प्रति, समग्र मानवीय मूल्यों को आत्मसात करने के प्रति निरंतर प्रेरित-प्रबोधित भी करता चलता है। मोटे तौर पर सच्चा, साहित्य, मानवीय अनुभूतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति है। न पशु और न ही देवता-साहित्य दोनों के पल्ले नहीं पड़ता, दोनों से सरोकार नहीं रखता। साहित्य का विशुद्ध सरोकार मानव-मात्र से है। इसलिए साहित्य को किसी भी युग और काल में प्रयासपूर्वक मानव-मूल्यों का प्रवक्ता घोषित करने का कोई तुक नहीं है, बल्कि सच यह है कि शुरु से मानवीय मूल्यों का संश्लिष्ट भाव ही 'सत्यं शिवं सुंदरं' के रूप में साहित्य के तत्व, सत्व और मूल स्वरूप को विनिर्मित करता रहा है।

दरअसल मानव को सच्चे अर्थों में मानव बनाने का श्रेय जिस तरह उदात्त मानवीय मूल्यों को है, उसी तरह साहित्य को सबके लिए विनिर्मित और प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी मानवीय मूल्यों को ही है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि "मैं अपने कवित्व को बादलों में से फूटकर बाहर आने वाली पावस की धारा समझता हूँ।" इस तरह पावस की धारा की तरह निर्बाध और वेगपूर्ण साहित्य वह संगीत है जो कि मानव के अंतर्मन से उद्भूत होता है। आचार्य भर्तृहरि ने 'साहित्य, संगीत, कला विहीनः, साक्षात्पशुः पुच्छ विषाण हीनः कहकर वस्तुतः साहित्य का गौरवगान ही नहीं किया है, बल्कि साहित्य को मानव से अनिवार्यतः सम्बद्ध भी बताया है। गौरतलब है कि मूल्य ऊपर से थोपे नहीं जा सकते, बल्कि मूल्य तो मनुष्य की अंतश्चेतना में बसे संस्कारों की चेतना धारा के रूप में अंतर्व्याप्त रहते हैं। इस तरह जीवन में श्रेष्ठता गुणवत्ता व महत्ता की दृष्टि से जो आवश्यक व उपयोगी है, वही मूल्य है। भारतीय संस्कृति व जीवन-दर्शन में चार पुरुषार्थ- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-जीवन के लक्ष्य माने गए हैं, जिनमें से प्रथम तीन को 'मूल्य' माना गया है। दयानंद सरस्वती के चिंतन व दर्शन से प्रस्तुत मूल्य 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धांत पर आधारित था। डॉ. नगेन्द्र ने 'आनंद' और 'कल्याण' को मानव जीवन के दो व्यापक मूल्य माना। 'अज्ञेय' मानव-मूल्यों की व्यावहारिकता और अर्थवत्ता सिद्ध करते हुए उन्हें 'योगः कर्मषु कौशलम्' का ही प्रतिरूप मानते हैं। महादेवी वर्मा ने नैतिकता और मानवीय मूल्यों को एक ही माना है क्योंकि विकास जीवन का धर्म है और विकास के इस क्रम में मनुष्य ने कुछ जीवन-मूल्यों का आविष्कार किया

है। ये सिद्धांत में नैतिक मूल्य कहे जाते हैं और व्यवहार में हम उन्हें मानवीय मूल्य कहते हैं, परन्तु वे व्यापक रूप से जीवन मूल्य ही हैं।' (चिंतन के क्षण-महादेवी वर्मा, पृ. 63)

पाश्चात्य विचारकों में प्लेटो ने मानव जीवन में मूल्यों को सर्वोच्च स्थान दिया है। मार्क्सवादी धारणा के अनुसार मूल्य समाज-सापेक्ष हैं, क्योंकि मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के कारण उसके जीवन में 'अर्थ' का महत्व असंदिग्ध है और उसके जीवन के समस्त मानवीय मूल्य अर्थ से सम्बद्ध होकर सर्वहारा वर्ग की समस्याओं और उनके समाधान से जाकर जुड़ जाते हैं। वर्ग-भेद रहित समाज की कल्पना स्वयं में समस्त मानवीय जीवन मूल्यों की आधार भूमि के रूप में सिद्ध होती है। क्रोचे जीवन में सौंदर्यात्मक, धार्मिक व बौद्धिक मूल्यों के अतिरिक्त नैतिक व आर्थिक मूल्यों को भी महती स्थान देते हैं। अज्ञेय ने भी स्वतंत्रता को मानव संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण मूल्य माना है, क्योंकि यही उसे पशुत्व से मुक्ति दिलाती है। कतिपय विचारकों के अनुसार मानवता सभी मानवीय मूल्यों की समष्टि है। मानव अपने जीवन में जो कुछ भी कार्य करता है, उन सबके पीछे मानवता उद्देश्य रूप में निहित रहती है, यही मानवता समस्त मानवीय मूल्यों का आधार भी है। यह मानव एवं मूल्यों के बीच एक अदृश्य कड़ी के रूप में कार्यरत है, क्योंकि जब मनुष्य में किसी अन्य मनुष्य के प्रति मंगल की या हित की भावना जागृत होती है तो यह अवस्था मानवता कही जाएगी और बाद में वह अपने उद्देश्य को जब व्यवहार में लाएगा तो वह 'मूल्य' कहे जाएंगे। डॉ धर्मवीर भारती के अनुसार सार्थकता का पहलू सबसे बड़ा मानव मूल्य है। डॉ जगदीश गुप्त की धारणा है कि बिना मानवीय संवेदनाओं को केन्द्र में रखे 'मूल्य' की कल्पना नहीं की जा सकती।

दरअसल, मानव जीवन मूल्यों की प्रयोगशाला के समान है, जहाँ नए मूल्यों के आविष्कार, प्राप्त मूल्यों के परिष्कार तथा अप्रासंगिक मूल्यों के बहिष्कार की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। दूसरे, यह बात महत्वपूर्ण है कि आज के चिंतन ने उन पुरानी धारणाओं को खारिज कर दिया है, जिनके अनुसार समस्त मूल्यों का स्रोत एक मनुष्येतर सत्ता, ईश्वर को माना जाता था। आज मूल्यों का स्रोत मनुष्य है। मूल्य मानव सापेक्ष होते हैं और उनका महत्व मात्र मनुष्य के संदर्भ में ही है। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। वह अपनी विवेक शक्ति के कारण ही मूल्यों को निर्धारित करता रहता है। मूल्यों का बोध वस्तुतः उसकी विकासशील दृष्टि का ही परिचायक है।

जहाँ तक साहित्य और मानवीय मूल्यों का सवाल है, तो यह सर्वज्ञात है कि साहित्य पर सभ्यता का दबाव पुराना है। समाज में हमारे आस-पास और मूल्यों की दुनिया में जो कुछ होता है, उसका सीधा असर रचना पर पड़ता है। इनमें होने वाले परिवर्तन के प्रति उसकी एक अनंत हिस्सेदारी रहती है। निर्मल वर्मा के अनुसार अंततः सारे बाह्य परिवर्तन मनुष्य के निजी जीवन और मानव संबंधों के वृत्त में ही फलित होते हैं। हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने तो एक लेख ही लिखा है - 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है।'

हम देखते हैं कि जिस 'आदिकाल' को स्वतोव्याधानों का युग कहा गया, जिस दौर में सामाजिक, राजनीतिक या बाह्य अंतर्विरोधों की सर्वाधिक जटिल भूमिका थी, उस काव्य के कवि इन बाह्य जटिलताओं तक ही केंद्रित नहीं रहे, बल्कि मनुष्य के भीतर उसके विकल मन में जो उत्थान-पतन का द्वंद्व चल रहा था, उसे पकड़ने की कोशिश इस युग की रचनाएँ करती रहीं। आदिकालीन राजकीय संरक्षण में राजा की वीरता और विलास दोनों कवि के उपजीव्य थे। हिन्दी के इस आरंभिक साहित्य में धार्मिक और ऐहिक तत्व एक-दूसरे से घुले-मिले हैं और यहाँ मानव-मूल्यों का बहुत गहरा अंतर्विरोध है, जिसे आदिकाल के पहले कवि सरहपा और आखिरी कवि विद्यापति में देखा जा सकता है। 'शरीर नष्ट हो जाने वाला है'- सरहपा इस बात की चेतावनी देने वाला कवि है, वहीं विद्यापति एक ऐसी दुनिया की सृष्टि करते हैं जो

रंग-बिरंगे गुलाबों से भरी हुई है। मादक प्रेम की तन्मयता से भरे हुए इस कवि की राधा रात भर जागती है और आकांक्षा करती है कि इस रात की सुबह न हो।

इस तरह, आदिकाल में जो लोकाश्रित साहित्य रचा गया, उसका धर्म और राजदरबार से कुछ लेना-देना नहीं था। संदेश रासक, बसंत विकास, ढोल-मारू-रा-दूहा, विद्यापति की पदावली और अमीर खुसरो की पहेलियाँ-मुकरिया - ये सभी रचनाएँ जनता के बीच और जनता की बोली-वाणी तथा परिस्थितियों के संदर्भ में लिखी गईं और इनकी सामग्री युग परिवेश के भीतर मानव-मूल्यों की विराटता के बीच विनिर्मित हुई है। पृथ्वीराज रासो में मानव मूल्यों की प्रभूत अभिव्यक्ति मिलती है। पृथ्वीराज के चरित्र में धर्मनिरपेक्षता, दया, क्षमा आदि मानव-मूल्यों का दिग्दर्शन होता है यथा-

का काया मायाति का, का ग्रहनी ग्रह कौन।
अप्यों अंख्यौ मिध्यते, जो देखियौ सुलौन।

मानव मूल्यों की दृष्टि से आदिकालीन साहित्य की देन यह है कि इस युग के कवियों ने लौकिक ऐषणाओं को काम्य माना है, त्याज्य नहीं तथा राजा अथवा स्वामी की उद्देश्य सिद्धि के लिए हँसते-हँसते प्राण उत्सर्ग करने की प्रेरणा आदिकालीन साहित्य ही प्रदान करता है। निरंतर विराट को लघु के आगे पराजित करने वाला साहित्य ही होता है। अपभ्रंश का एक दोहा जो मानव मूल्य की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है, इस प्रकार-

जा पुच्छुहु बडुहि घर तो बडु घर ओहि,
बिब्यालजन अव्युद्धरण कन्त कुडीरई जोइ।

(तुम बड़े घर की बात पूछते हो कि गाँव में बड़ा घर कौन, तो बड़ा घर तो वही है, जिसमें छोटी-सी कुटिया में बैठा व्यक्ति दूसरों के दुःख, दूसरों को दुर्बल देखकर सहायता के लिए चल पड़ता है, उसके पास कुछ नहीं है।)

भक्तिकाल की रचनाएँ वस्तुतः गहरे आत्ममंथन की प्रक्रिया से निकली रचनाएँ हैं। भक्ति कविता को जो लोग गिड़गिड़ाहट समझते हैं, वे भक्तिकाल की अधूरी व्याख्या करते हैं। सौम्यता एवं आत्मनिरीहता के भाव के साथ निर्णय का अद्भुत विवेक इस कविता में दिखाई पड़ता है। भक्ति में धर्म, साधना का विषय नहीं है, भावना का विषय है। गौरतलब है कि मूलतः समग्रता की चिंता के भीतर से मूल्य का जन्म होता है। भक्ति आंदोलन इसी समग्रता की चिंता से जुड़कर भक्ति को चरम मूल्य के रूप में प्रस्तावित करता है। कबीर कहते हैं कि 'हरि भगति जाने बिना बूड़ि मुआ संसार।' तुलसीदास ईश्वर से वरदान मांगते हैं - 'केहुं भगति तिहुं पाप नसावनि।' वस्तुतः मध्यकालीन भक्ति का एक भावात्मक, सौंदर्यात्मक और भावनात्मक मूल्य है।

मानवीय मूल्यों की एक लंबी सूची है राम के पावन चरित्र में। वे मर्यादापुरूषोत्तम हैं, प्रेम, करुणा, दया, शरणागत वत्सलता, सत्यनिष्ठा आदि गुण उनके चरित्र की पूंजी हैं और सच्चे प्रेम के द्वारा उन्हें पाया जा सकता है - 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रकट होय भगवाना।'

प्रेम ही परमात्मा है - 'प्रेम हरि को रूप है'। जैसे गांधी जी ने सत्य को ईश्वर माना, उसी प्रकार तुलसी ने प्रेम को ईश्वर माना और वह प्रेम ही सत्य है, शील है, सुंदर है, शक्ति है, धर्म है - वह सभी कुछ है जो शाश्वत है, अलौकिक है। अतः राम ही जीवन-मूल्य है और उन्हें पाने के लिए भक्त परम पवित्र प्रेम को माध्यम बना सकता है।

कबीर ज्ञान-मार्गी थे, परंतु प्रेम को उन्होंने भी परम तत्व माना- 'ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय' परंतु वे सत्य और प्रेम को व्यक्तित्व न दे सके। सूर ने प्रेम को व्यक्तित्व दिया कृष्ण के रूप में, मीरा ने प्रेम के स्वरूप गोविंद

को अपने पति रूप में स्वीकार किया अपना संपूर्ण वर्चस्व, लोकलाज, पद-प्रतिष्ठा, पूरा जीवन दिया और तोलकर लिया इन मूल्यों के परम मूल्य- प्रेम स्वरूप गोविंद को -

माई रही, मैं तो गोविंद लीनो मोल ।

कोई कहै हलकौ, कोई कहै भारी, मैं लीनों तराजू तोल ।

जीवन देकर भी प्रेम मोल लिया जाए तो यह जीवन मूल्य ही तो हुआ। मीरा ने इस जीवन-मूल्य में अमरत्व पा लिया।

तुलसी ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के ऊपर राम-पद प्रीति को ही जीवन मूल्य माना

अरथ न धर्म न काम रूचि, गति न चहऊँ निरवान

जनम जनम रति-राम पद यह वरदान न आन ।

राम 'व्यक्ति चरित्र' नहीं 'मूल्य-चरित्र' हैं, जीवन मूल्यों के साकार विग्रह हैं। तुलसी ने रामराज्य का जो वर्णन किया है - 'दैहिक, दैविक, भौतिक तापा। रामराज्य काहुहिं नहिं व्यापा।' वस्तुतः वह मानव-जाति के लिए आदर्श की परिकल्पना है। तुलसी के काव्य में सर्वत्र लोकमंगल की भावना विद्यमान है।

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अबस नरक अधिकारी।'

जैसी उक्तियाँ तुलसी के चिंतन के मूल्यों का ही परिणाम हैं। तुलसी वेदमत, साधुमत और लोकमत - तीनों का समन्वय करने के पक्षपाती थे। लोकमत को उन्होंने सर्वाधिक महत्व दिया। तुलसी का काव्य स्वांतः सुखाय की प्रतिज्ञा से लिखा गया, फिर भी उनके 'स्व' में 'पर' भी पूर्ण रूपेण समाहित है। उनकी मान्यता कितनी उदात्त है -

'कीरति भानिति भूति भली सोई। सुरसिर सम सब कह हित होई, कीर्ति, कविता और संपत्ति वही उत्तम है, जो गंगा की तरह सबका हित करने वाली हो।

तुलसी का साहित्य सबकी चिंता का उद्देश्य लेकर रचित है। उनकी मूल्य चेतना के केंद्र में मनुष्य है, उसके सपने, उसकी आकांक्षाएँ हैं। दरअसल, हर बड़ा कवि मानवीय संवेदनाओं का ही चितेरा होता है।

कबीर ने बाहरी आडंबरों पर जो कड़ी चोट की, वह वस्तुतः मानवीय मूल्यों को समग्रतः स्थापित रहने के उपक्रम का ही हिस्सा था। मानव-मात्र में एक ही सत्ता संचारित है, विभेद की सारी कोशिशें व्यर्थ हैं। 'इश्क मस्ताना' कबीर इसे समझकर फिर सबको समझाना चाहते हैं -

जौ रे खुदाइ मसीति बसतु है और मुलुक किए केश।

तीरथि मूरति राम निवासी दुहु महिं किनहुं न हेरा।

दरअसल, कबीर के ऐसे सारे सवाल मानवीय मूल्यों को जगाने के ही बड़े प्रयास हैं। कबीर अपने अंतर्जगत का वैविध्य संधान करते हैं और उसी से जीवन की विराटता का सृजन करते हैं।

जायसी मानवीयता की पृष्ठभूमि पर कविता रचते हैं- 'हिंदू तुरक दुबौ रन गाने' उनके यहाँ दोनों पक्षों का पूरे आदर और आत्मीयता से उल्लेख हुआ है। पद्मावत में प्रेम को अपार विशिष्टता देकर जायसी अपने साहित्य को मानवीय मूल्यों की आधारभूमि पर खड़ा करते हैं -

मानुष प्रेम भयहु बैकुंठी नाहिं तो साहकार भी मुट्ठी।

इसी तरह सूरदास गृहस्थ जीवन और परिवार की पृष्ठभूमि पर प्रेम और वात्सल्य भाव का सघन-तन्मय चित्र रचकर मानवीय मूल्यों का सहज आलोक भर देते हैं। रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 'इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी।' दरअसल, विषम परिस्थितियों के बीच किसी जाति की जीवनेच्छा को बनाए रखना सबसे बड़ा मानवीय मूल्य है।

सूफी कवियों ने भी प्रेममार्गी काव्य धारा का विधान रचकर प्रेम को सर्वश्रेष्ठ मानव-मूल्य के रूप में प्रस्तावित किया। इस तरह कह सकते हैं कि समग्र भक्ति कविता अखंडता एवं समन्वय का काव्य है। कबीर, जायसी, तुलसी, सूर आदि यद्यपि भिन्न-भिन्न काव्यधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं तथापि इन सभी कवियों के मूल्य बोध एक हैं। प्रेम, भक्ति, परोपकार, करुणा आदि मानव-मूल्यों की स्थापना का विरोध कर मानव जीवन के प्रति जिजीविषा को भी प्रबल बनाया है।

इसी तरह मानव मूल्यों के निकष पर अब्दुरहीम खानखाजा का साहित्य और व्यक्तित्व सचमुच अपूर्व रहा है। उनके संबंध में एक बेमिसाल दोहा इस प्रकार है —

खानखाना नवाब हो मोहि अचंभो एह।
आयो किम गिरि मेरू मन, साढत्र तिहस्यी देह ॥

(मुझे यह आश्चर्य है कि खानखाना का मेरू पर्वत जैसा मन साढ़े तीन हाथ की देह में कैसे समाया है।)

रहीम को सच्चा हिंदुस्तानी बताते हुए विद्यानिवास मिश्र जी लिखते हैं कि — 'सारा जीवन राजाश्रय में बीता और बात उसने की आम आदमी के जीवन की।'

रहीम ने अपने उदार, संवेदनशील और सहिष्णु हृदय को वास्तविक अनुभवों के बीच रखकर जिस मार्मिकता का परिचय दिया, वही अबाध गति से उनके दोहों में प्रवाहित हुआ। रहीम के अनुसार वही परोपकार सच्चा परोपकार है, जिसे जोखिम उठाकर किया जाए। घोड़ा अपने गले को रस्सी से बंधवाता है, कुएँ से जल भरता है और अपने अस्तित्व को जोखिम में डालकर प्यासों की प्यास बुझाता है —

रहिमन रीति सराहिये, जो घट गुन सम होय।
भीति आप पै डारि कै, सबै पियावै तोय।

मनुष्य का मनुष्य के साथ संबंध महत्वपूर्ण है, यह सबसे बड़ा मूल्य है। रहीम का अद्भुत दोहा है —

रूठे सुजन मनाइए जो रूठे सौ बार। रहिमन फिरि फिरि पोहियत टुटे मुकता हार।

यूँ तो रीतिकालीन साहित्य शृंगार प्रधान है, जहाँ नैतिकता लगातार चेरी की भूमिका में है, पर ऐसे समय में भी वृंद, बिहारी, गिरिधर, कविराय, दीनदयाल सरीखे नीति कवियों ने वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक मूल्यों को स्थापित किया। उन्होंने नीतिपरक पदों के द्वारा जन-सामान्य और शासन दोनों को ही उचित दिशा प्रदान की है। एक कथा प्रसिद्ध है — राजा जय सिंह नवोढ़ा नायिका के प्रेमपाश में इस तरह लिप्त हो गए थे कि उन्हें राजकाज की सुध-बुध जाती रही —

नहिं पराग नहीं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल
अली कली ही सौं बंध्यो, आगे कौन हवाल।

एक कवि, एक क्रांतदर्शी तथा एक राष्ट्रभक्त की भूमिका में बिहारी ने राष्ट्र के शासक को कर्तव्यबोध जैसे अमूल्य

मानवीय मूल्य का अहसास कराया। 'धर्म, राजनीति, समाज, व्यवहार, व्यापार, भक्ति, वैराग्य, सत्संग, स्त्री, कपट, आडंबर, धन आदि से सम्बद्ध बिहारी के ऐसे सैकड़ों दोहे हैं जो साहित्य और मानवीय मूल्यों के बीच निकट संबंध को रेखांकित करते हैं।

रीतियुगीन कवियों ने शृंगार, वीर एवं नीति के साथ-साथ धर्म और दर्शन पर भी आंशिक रूप से प्रकाश डाला है। रीतिकालीन कवि मानव और मानव में अभेदता को स्वीकार करता है। जीवन के प्रति ऐहिकतामूलक दृष्टिकोण, शृंगार भाव तथा कलात्मक प्रवृत्ति के बावजूद भूषण, वृंद तथा गिरिधर कविराय आदि कवियों ने वीरता, भक्ति, नीति तथा जीवन के प्रत्येक पहलू पर विचार रखते हुए समाज को लोकहित के भाव से विमुख नहीं होने दिया।

आधुनिक काल में साहित्य का चहुँमुखी विकास हुआ। अनेक नए गद्य रूपों का प्रस्फुटन हुआ और इनमें जीवन के परंपरागत मूल्यों के साथ-साथ नवीन मूल्यों का भी सूत्रपात मिलता है। भारतेंदु 'अंधेर नगरी' 'विषस्य विषमौषधम्' 'भारत दुर्दशा' आदि नाटकों में युगीन समस्याओं को भली-भांति प्रतिबिंबित करने के साथ ही जनता और समाज से जुड़ाव को स्थापित करके मूल्य विवृत भी करते हैं। भारतेंदुयुगीन साहित्य में सत्य, न्याय, त्याग, उदारता आदि मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने, प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम जगाने पर अधिक बल दिया गया है। प्रसाद ने अपने नाटकों में ऐतिहासिक कथानकों के परिवेश में नए मूल्यों को संजोया है।

आधुनिक युग में 'उपन्यास', मानव मूल्यों का समावेश व्यापक फलक पर करते हैं। प्रेमचंद ने उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र यून ही नहीं कहा है। भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, सरदार पूर्ण सिंह, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र के निबंध मानव-मूल्यों की प्रस्थापना के बड़े आयामों को उद्घाटित करते हैं। रामचंद्र शुक्ल की आलोचना जिस 'सभ्यता समीक्षा' का आधार रचती है, वह वस्तुतः मूल्य समीक्षा ही है। इसी तरह महादेवी के रेखाचित्र और संस्मरण मार्मिक मानवीय आख्यान की तरह पढ़े जाने को विवश करते हैं। आधुनिक काल की मिशनरी पत्रकारिता बलिदान और कर्तव्यपालन का बृहत् मूल्य विनिर्मित करती है।

गद्य की तरह आधुनिक काल का प्रत्येक पद्य—चरण—भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, छायावादी काव्य, राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता—मानवीय मूल्यों के जाग्रत बोध को ही परिलक्षित करता है। आधुनिक युग के अंतर्गत भारतेंदु युग की राष्ट्रीयता, द्विवेदी युग की नैतिकता, छायावादी तथा राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा के प्रणेताओं की सांस्कृतिक चेतना और प्रगतिवाद के समर्थकों द्वारा वर्गभेद मिटाने के आंदोलन की पृष्ठभूमि में लोक कल्याण की भावना ही सक्रिय रही है।

भारतेंदु सहित उनके मंडल के सभी रचनाकारों ने राष्ट्रीय भावना का जाग्रत मूल्यबोध स्थापित किया —

अंग्रेज राज सुख साज सब भारी

पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।।

भारतेंदुयुगीन कविता में जिन नवीन प्रवृत्तियों का उद्गम हुआ, द्विवेदी युग में वे क्रियात्मक रूप में विकसित हुईं। मानवीय मूल्यों के प्रति द्विवेदी युग के कवियों का दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, श्री हरिऔध, रामनरेश त्रिपाठी जैसे कवियों ने अतीत के गौरव-गान के साथ-साथ पौराणिक पात्रों का मानवीय स्वरूप भी अंकित किया। प्रियप्रवास, वैदेही-वनवास, जयद्रथ वध, पंचवटी, साकेत, रामचरित—चिंतामणि आदि द्विवेदी युगीन काव्यों में स्वार्थ से परमार्थ की, संग्रह से त्याग की, स्वहित से जातीय एवं देश-हित की महत्ता सिद्ध करके अंततः मानव मूल्यों एवं भारतीय संस्कृति के पुनीत आदर्शों की स्थापना की गई है।

द्विवेदी युग की कविता का सबसे प्रमुख स्वर मानवीय मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा मानी जाना चाहिए —

यही पशु प्रवृत्ति है कि आप-आप ही चरे
मनुष्य है वही जो कि मनुष्य के लिए मरे।

दूसरी और राष्ट्रभक्ति को भी इस युग की कविता प्रेरणा मूल्य बतलाती है —

जिसे न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है
वह नर नहीं निरा पशु है और मृतक समान है।

X X X X

जहाँ देश हित प्रश्न सामने आ जाता है।
लाखों सिर अर्पित हो मरना सिखलाता है।

इसी तरह, जयशंकर प्रसाद ने विश्वबंधुत्व, कर्मण्यता, साहस, नैतिकता, संयम, त्याग, बलिदान, राष्ट्रीयता आदि मानवीय मूल्यों का प्रकाश फैलाया है। 'कामायनी' जहाँ मानवीय संस्कृति का प्रसारक-प्रस्थानक ग्रंथ है, वहीं 'चंद्रगुप्त' नाटक में प्रसाद राष्ट्रीय भावधारा का स्रोत जगाते हैं।

'कुकुरमुत्ता', 'सरोज-स्मृति', 'भिक्षुक', 'वह तोड़ती पत्थर', 'विधवा' जैसी निराला की कविताएँ छायावाद की रोमानी चेतना से अलग मानव-मूल्यों की मार्मिक चेतना जगाती हैं। साहित्य में दुःख अकेला होते हुए भी अकेला नहीं होता, निराला की कविताएँ इसका प्रमाण हैं।

पंत ने 'वीणा', 'ग्रंथि', 'पल्लव', 'गुंजन', 'स्वर्ण-किरण' आदि रचनाओं में आस्था, सौंदर्य, प्रेम, आनंद, संयम आदि जीवन मूल्यों को उजागर करते हुए प्रेम को जीवन का श्रेष्ठ मूल्य माना है —

मन को विराट की आत्मा से कर सर्वयुक्त
तुम प्यार करो, सुंदरता में रहना सीखो
जो अपने ही में पूर्ण स्वयं है लक्ष्य स्वयं
कवि यही महत्तर ध्येय मनुज के जीवन का।

प्रगतिवादी काव्य मानवतावाद को उच्चादर्श के रूप में प्रतिष्ठित करता है। विषमता, पद दलन, शोषण का विरोध कर प्रगतिवादी कविता समता, कर्मण्यता, आशावादिता का संदेश देती है। प्रयोगवाद में लघुमानव के बहाने लघु परिवेश को केंद्रीभूत करने का प्रयास है। गिरिजा कुमार माथुर भावी उज्वल मानवता का आशा लोक रचते हैं —

अब युग की अंधियारी रजनी मिटने को है,
जन रवि का अग्र प्रकाश चरण
अंकित हो रहा है, धरा के कैसे आंचल पर
जिस में मानवता छिपी धूप बन सोती है।

नई कविता में जहाँ मानव स्वातंत्र्य, मानव स्वाभिमान, मानव विशिष्टता, मानव विवेक, मानव निष्ठा तथा आत्मविश्वास जैसे मूल्यों का क्षय जब-जब होता है, वह नए कवि की चिंता का सबसे बड़ा कारण बनता है। विशेष रूप से 'अंधायुग', 'संशय की एक रात', 'एक कंठ विषपायी' आदि रचनाओं में युद्ध और मानव-मूल्यों का संघर्ष एक विशिष्ट धरातल पर विश्लेषित हुआ है।

मानव स्वातंत्र्य को एक अहम् मूल्य मानते हुए इसकी रक्षा हेतु नया कवि शांति का हामी है इस संदर्भ में सर्वेश्वर की कविताओं — 'कथाकार और सिपाही', 'सिपाहियों के गीत' का उल्लेख किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त अज्ञेय, लक्ष्मीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त की कविताओं में भी मानव स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति हुई है।

नया कवि मानव स्वाभिमान को बचाना चाहता है, फलतः 'संशय की एक रात' का राम, युद्ध न चाहते हुए भी स्वाभिमान की रक्षा करना चाहता है। नए कवि की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति विशिष्ट है, वह भीड़ नहीं है। मानव विशिष्टता में जो व्यापकता है, वह भवानी प्रसाद मिश्र, शमशेर, सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय तथा धर्मवीर भारती आदि कवियों में मिलती है। 'कनुप्रिया' के कनु का नाम भी इस संदर्भ में लिया जा सकता है।

छायावादी दृष्टि, वेदना को अक्षय दया के रूप में देखती है, जबकि नया कवि वेदना को मानवता के स्तर पर पहचान कर अभिव्यक्ति देता है।

दुःख सबको मांजता है और चाहे स्वयं सभी को मुक्ति देना वह न जाने, किंतु जिन्हें मांजता है उन्हें यह, सीख देता है कि सब को मुक्त रखें।

मानव में नए कवि की आस्था इतनी है कि वह कहता है —

'आस्था न कांपे, मानव, फिर मिट्टी का भी देवता हो जाता है।' (धर्मवीर भारती)

नई सदी में जागा आत्मविश्वास भी मानव मूल्य के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। जितनी ईमानदारी से नया कवि अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है, वह उसके आत्मविश्वास का ही परिणाम है। शमशेर की पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं — बात बोलेगी/ हम नहीं/ भेद खोलेगी/ बात ही/ सत्य का मुख।

आज उपभोक्तावादी संस्कृति के अंधाधुंध प्रसार के दौर में मानव चेतना खंडित दिख रही है, लेकिन समकालीन रचना जगत के कई नए हस्ताक्षर निरंतर खंडित मानव चेतना और खंडित व्यक्तित्व को सार्थकता प्रदान कर रहे हैं। निश्चय ही आधुनिक साहित्य की दृष्टि उदार, व्यापक और मानवतावादी है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने साहित्य में स्थान-स्थान पर साहित्य के मूल्यों की बात की है। उनकी स्पष्ट धारणा है कि मनुष्य को केन्द्र में रखकर ही हमें साहित्य के मूल्य स्थापित करने होंगे। हमें साहित्य में उन मूल्यों की रक्षा करनी होगी जिसके कारण मनुष्य ने कभी स्वयं को पशुता से भिन्न और श्रेष्ठ सिद्ध किया था। परस्पर मैत्री-भाव और समस्त प्रकार के भेदों की समाप्ति ही, मनुष्यता के उपयुक्त मूल्य है। साहित्य ही इनका प्रेषण कर सकता है। सब मूल्यों के केन्द्र में मनुष्य ही विद्यमान है। अतः उसी के लिए हमें नए सिरे से सब कुछ गढ़ना है, तोड़ना नहीं, टूटे को जोड़ना है। भेदभाव की जयमाला से हम पार नहीं उतर सकते। मनुष्य एक है, उसके सुख-दुख को समझना, उसे मनुष्यता के पवित्र आसन पर बैठाना ही हमारा कर्तव्य है।



‘भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का अद्भुत आख्यान-अरुण सतसई’

- डॉ. (श्रीमती) विनोद कालरा

प्रसिद्ध दार्शनिक नीलो अपनी चर्चित कृति ‘दस स्पोक जरयुस्त्र’ के प्रथम भाग में एक स्थल पर लिखते हैं- “ अपनी श्रेष्ठतम बुद्धि से बेहतर है आपकी देह और यह कौन जानता है कि आपकी देह को भी बुद्धिमता की आवश्यकता होती है।”

कोई भी संवेदना किसी कवि के मन में कैसे घटित होती है, कैसे आकार लेती है और अपने समग्र में कविता बन कर कैसे प्रकट होती है, इसके लिए कवि की अग्निपरीक्षा होती है-उसकी अपनी ही स्मृतियों के सामने, अपनी परम्परा के सामने, अपने अतीत और व्यतीत के सामने और अन्ततः अपने उस वर्तमान के सामने भी जो सतत रूप से कवि के साथ-साथ चल रहा है- कभी स्मृति बनकर, कभी अनुभव बनकर और कभी विचार बनकर। कवि का अन्तरंग, उसका संवेदन जिस प्रकार उसकी कविता में अभिव्यक्त होता है उसे किसी स्थिति, सूचना अथवा घटना की तरह पढ़ा नहीं जा सकता, बल्कि उसे पढ़ना होता है-सम्पूर्ण सृजन बोध के साथ, समस्त कलाबोध और शिल्पाबोध के साथ। उसे आत्मसात् करना होता है समूची संवेदना के साथ। एक संवेदनशील कवि का मन तो स्वयं से भी गोपनीय रहता है, उस क्षण तक, जब तक उसका कविता में रूपान्तरण नहीं हो जाता।

अरुण दिवाकर नाथ वाजपेयी कविता का गोपनीय मन जिस अंतरंगता के साथ खोलते हैं उससे दोस्तो ए वस्की के ‘नोट्स फ्रॉम अण्डर ग्रांऊड’ के निम्नांकित शब्द एक सीमा तक उनकी कवि प्रकृति को प्रस्तुत करते हैं- “ प्रत्येक व्यक्ति में ऐसी स्मृतियां होती हैं जो वह, कुछ अन्तरंग मित्रों को छोड़कर अन्य किसी से नहीं कह सकता। इसके अतिरिक्त एक कवि के भीतर कुछ और भी होता है जो वह मित्र को भी नहीं बताता। बल्कि स्वयं को ही बताता है और वह भी अत्यन्त गोपनीय ढंग से। लेकिन कुछ बातें और भी हैं जो वह स्वयं को भी बताने से डरता है। प्रत्येक अच्छे मनुष्य के अन्तर्जगत में ऐसी बातों का खजाना भरा रहता है। अधिक से अधिक ऐसी स्मृतिपूर्ण बातों का जो उसे अधिक से अधिक अच्छा बनाती हैं।”

अरुण दिवाकर जी का कवि व्यक्तित्व अधिकाधिक स्मृतियों से बना एक उदात्त व्यक्तित्व है इसलिए कि वह कविता में, दोहों में जीवन जीता है, नैतिकता दर्शाता है, लोक कल्याण की चिरन्तन साधना में लीन दिखाई देता है। यही कारण है कि अरुण दिवाकर जी ‘अरुणोदय’ से प्रारंभ कर ‘मंगलाचरण’ में आत्मिक शान्ति अनुभव करता है, ‘एक सतनामः ओंकार’ से ऊँ को दृश्य-अदृश्य सृष्टि का सूक्ष्म सार बताता हुआ, सर्वभाषा जननी “संस्कृत भाषा” को संस्कृति के प्रतिमान के रूप में उसके महात्म्य को दर्शाता है।

‘अभिस्वीकृति’ के माध्यम से हिन्दी साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्रों-दोहा रचयिताओं के प्रति प्रणाम निवेदित कर उनकी शिक्षा को शिरोधार्य करता हुआ ‘तुलसी, बिहारी, मीरा, कबीर, रहीम के प्रति प्रणति भाव अभिव्यक्त करता है, ‘प्रति’, ‘नीति-रीति की’ त्रिवेणी में स्नात् हो भेद-भाव की संकीर्णता से ऊपर उठ कर भाषा में दीप्त दर्शन से

साक्षात्कार करता है और अन्ततः 'ढाई आखर प्रेम के' दिव्य रथ पर आरुढ़ होकर 'आह्लादित' होता है। इसलिए अब अरुण दिवाकर जी के कवि मन से पूछना होगा कि असंख्य दीप्त रश्मियों रूपी स्मृतियों को अपने आप से, अपने मित्रों से गोपनीय रखकर वे कविता में किस श्रेष्ठतम की खोज करते रहते हैं? इतना तो स्पष्ट है कि यहां अरुण दिवाकर जी के कवि मन से दो तत्व एक साथ प्रकट होते हैं—एक स्मृतियों का भण्डार और दूसरा अभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य एक उदात्त हृदय। हृदय वास्तव में क्या है? हृदय ही कवि की कविता है। स्मृति क्या है? स्मृति ही कविता का सृजन है। अनुभव क्या है? अनुभव ही कवि का कवि जीवन है और विचार क्या है? विचार ही कवि की काव्य प्रज्ञा है, काव्य चेतना है जो कविता के प्रति, उसकी उदात्तता के प्रति निरन्तर चिन्तित और चौकन्नी है।

'पहला कुछ' सदा कविता में अभिव्यक्त होता है। अरुण जी भी इसके अपवाद नहीं है। एक आन्तरिक लय जो सदा भीतर होती है उसे अपने रूपबंध सहित ही अभिव्यक्त होना होता है। कविता में शब्दों के अरेंजमेंट में भी एक निहित संगीत होता है जो मन से कागज़ तक पहुँचाने की क्रमिकता को संचालित करता है और वही उसके अरेंजमेंट का कारक भी है। अतः एकदम, अनायास, कुछ-कुछ निष्प्रयोजन रूप से कविता को ही पहले लिखा जाना होता है। 'निष्प्रयोजन' शब्द यहां इसलिए प्रयुक्त किया गया है क्योंकि मनोगत प्रयोजन के बारे में तभी पता चलता है जब कविता कागज़ पर उतर जाती है। उससे पहले तक तो वह भीतर ही कहीं तैरता अमूर्तन ही होता है। स्वयं अरुण दिवाकर 'अन्तर्मन' में लिखते हैं—“कविता तो आत्मस्फूर्त प्रवाह है जो हृदय से होकर आँखों तक और आँखों से कलम के माध्यम से बहता है। कभी-कभी तो यह भी प्रतीत होता है कि कवि तो मात्र माध्यम है, कविता साक्षात् स्वयं उसके माध्यम से अवतरित होती है।”

कवि अरुण दिवाकर जी की विशेष एवं उल्लेखनीय बात यह है कि वे दोहों को एक पेंटिंग की तरह उभारते हैं। रंगों का जो संयोजन वे करते हैं, उनसे उनके दोहों को एक कैनवस के रूप में देखा जा सकता है जिन पर स्मृतियों, अनुभवों और विचारों के कोलाज हैं और उस कैनवस की ज़मीन उनके कलात्मक बिम्बों से रची गई है। 'अरुणोदय' एक ज़मीन है जिस पर मंगलाचरण और उसके बाद के सभी सर्ग कोलाज हैं। इन सभी सर्गों/खण्डों में संवेदन का उत्कर्ष दिखाई देता है क्योंकि वह भौतिक से कहीं अधिक आध्यात्मिक, मानसिक और कलात्मक है।

डी.एच. लॉरेंस अपनी एक कविता में लिखते हैं—“अगर शब्द सब कुछ कह देते हैं तो फिर शब्द कुछ नहीं हैं क्योंकि हम जानते हैं कि जब भी हम गाते हैं वह सतत् गाना नहीं होता बल्कि लगता है गीत मौन भंग करके फूट पड़ा हो। जब वृक्ष झूमते हैं और टहनियां झूलती हैं तो लगता है वे संगीत रच रही हैं लेकिन उस संगीत को थामे रखता है वह मौन जो धरती के पास है। इसलिए मेरे मित्र, मेरे प्रिय तुम्हारे प्यार में बंधकर ऐसा लगता है जैसे मैं जब भी गाता हूँ, मेरा दिल मौन धारण कर लेता है।”

एक उत्कृष्ट कवि के भीतर मौन और संगीत जिस प्रकार की क्रियाएं करते हैं उन्हें देखकर लगता है कि कवि अरुण दिवाकर के दोहे बोलते हैं, पर परिवेश चुप है, शब्द संगीत रचते हैं लेकिन संवेदन चुप है, भाषा गुंजन करती है पर भाव चुप है। मौन और चीत्कार दोनों ऐसे लगते हैं जैसे एक संगीत हो और दूसरा श्वास तो लगता है कि कविता ने अपना उत्कृष्ट पा लिया हो। अरुण जी ने अपने दोहों में संगीत और मौन की जुगलबंदी की है।

फिर भी अरुण दिवाकर जी के दोहों को लेकर सब कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि सब कुछ कहने का अर्थ लॉरेंस के शब्दों में 'कुछ न कहना' है। कवि के पास दोहा रचने की एक व्यापक संवेदन झलक है, अनुभव आलोक है। वे भाषा महात्म्य, दर्शन-साक्षात्कार, ईश्वर, प्रेम, प्रेम से उपजे त्याग, मोहे, समर्पण, तुलसी प्रणति, प्रीति, रीति-नीति पर ही क्यों मोहित हैं? क्यों वे लोकमंगल के घोर को ही पकड़े हुए हैं? अन्यथा वे यथार्थ लिखने के ही पक्षधर हैं और

भारतीय संस्कृति की ओर पुनः मुड़ते हैं, पुनः जुड़ते हैं कि उनके आगे उनका कलात्मक शिल्प खण्डित न हो जाए? कवि के पास भाषा गढ़ने की अद्भुत क्षमता है, प्रतिभा है। कवि के रूप में अरुण जी ने जिस अस्तित्व और व्यक्तित्व को अर्जित किया है, वह आत्म संस्कार का ही सर्जनात्मक विस्फोट है।

कवि के शब्दों में, “इस सतसई में लगभग तीन दशकों की साधना निहित है और यह साक्षी है मेरे जीवन के उच्चावचनों की, सफलता-असफलताओं की, श्रेय और अपश्रेय की अनुरक्ति और विरक्ति की आह्लाद और विषाद की।” बावजूद इसके ‘अरुण सतसई’ कवि के अन्तस की गाथा के साथ-साथ उसकी संस्कृति के प्रति गहरी आस्था, साहित्य के प्रति अनुरक्ति, दर्शन के प्रति औदात्य की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। ‘अरुणोदय’ के उद्भव से लेकर आह्लादानुभूति तक ले जाने वाले इस काव्य ग्रंथ में सात सौ दोहे कवि की पूर्ण परिपक्वता के साथ गुंथित हैं। प्रथम सात शीर्षकों के अन्तर्गत कवि का इष्ट एवं अभीष्ट सत्ता के प्रति वन्दन है, उस असीम सत्ता के प्रति अभिनन्दन और भावात्मक प्रणति है जबकि ‘प्रीति’, ‘रीति-नीति’ के अन्तर्गत कवि के’ और आह्लाद सत्-चित्त आनंद स्वरूप परमानंद की अनुभूति प्रदान करता है। यही कवि के सृजन का चरम है, उत्कर्ष है और कवि की मेधा का प्रतीक है।

‘गंगा, जमुना, गोमती, गोदावरि, कावेरी सरस्वती मां, नर्मदा कृपा करो मन हेरि’ जैसे दोहों में कवि के हृदय में आशीष की प्रबल आकांक्षा है। प्रकृति के किसी भी रूप को इस प्रकार रचना में एकाकार कर देना कि रचना के शब्दों से रचयिता अदृश्य हो जाए और दृश्य, समय, नदियों का कल कल बहना, झर-झर झरना, दृश्यमान हो उठे तो लगता है कि कवि अपने आप को अनुपस्थित कर रचना में अपने संवेदन, अपनी श्रद्धा और अपनी निष्ठा को जब व्यक्त करता है तो वह पाठक की अनुभूति का क्षण, स्मृति का क्षण और जीवन का क्षण बन जाता है। ऐसा नहीं है कि कवि किसी निराकार में उतर कर ऐसा अमूर्तन कर रहा हो जो भौतिक सत्यों का निषेध करे अपितु वह जीवन के सत्य से साक्षात्कार करता है-

अनुशासित जीवन जिए, मर्यादा के साथ।

उसका जीवन सर्वथा सफल कर रघुनाथ।।

गद्यगीत, कथा-कहानी, उपन्यास और गद्य की नवीन अनेक विधाओं के आकर्षण में न बंधकर कवि ने दोहों की रचना करके रचनाजगत में अपना एक पृथकत्व कायम किया है। कविता हो या गद्य-रागवृत्तियां दोनों ही एक हो सकती हैं परन्तु वस्तुतः ये दोनों भिन्न हैं। संवेदन समान हो सकते हैं किन्तु शिल्प भिन्न हैं। आकार अथवा रूप में लेखक कवि समानता कर लेते हैं किन्तु प्रकार भिन्न हैं। ऐसी भिन्नताओं के बावजूद भी कवि दोहों की रचना करते समय तनावयुक्त दिखाई नहीं देता। क्योंकि दोहा कवि के लिए उसके निजी उद्वेलन, एक प्रकार की हाइड्रेंट सेंसेबिलिटी की तुरन्त त्वरित अभिव्यक्ति है। कवि ने लिखा भी है-“दोहा लिखना मुझे सबसे सरल, स्वयं में सम्पूर्ण तथा सबसे कम समय लेने वाला छन्द लगा। साथ ही भावार्थ- समाविष्टि में अद्वितीय.... 1996 में बड़े भाई साहब की अकाल मृत्यु ने मुझे झकझोर दिया और उस समय हृदय चीत्कार करता रहा था, आँखों से अश्रुधारा बहती रहती थी और कलम से दोहे अवतरित होते रहते थे।”

‘अरुण सतसई’ स्वाभाविकता के विभिन्न सोपानों को छूती चलती है किन्तु भीतर ही भीतर इसकी जड़ें अत्यन्त गहरी हैं। सतसई परम्परा में ‘अरुण सतसई’ अपनी भाव प्रवणता, प्रभावातिरेक, उदात्तता और विलक्षणता के साथ अपनी एक अलग पहचान बनाती है और सतसई की ऐतिहासिक परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी सिद्ध होती है। इस कृति में सहज स्वाभाविक सात्विक भाव है। जो पाठक को एक परम सटीक लक्ष्य की ओर प्रेरित करता है।

सारा मंगल ऊँ से ही होता प्रारंभ।

मन प्रसन्न, तन स्वस्थ हो आत्मा का स्तम्भ ।।
जितना दृश्य अदृश्य है, सृष्टि का यह प्रक्षेप ।
ऊँ उसी का सूक्ष्म है ऊँ वही संक्षेप ।।

यहां कवि का चिंतन लोक मंगल और परोपकार की भावना से ओतप्रोत है। यही भावना कवि का चिरन्तन सूक्ष्म भाव एवं प्रथम लक्ष्य रहे-इसी हेतु यह ईश्वर से सद्विवेक की प्रार्थना करता है-
सात्विक, राजस, तामसी वैभव मिले अनेक ।
पर मुझको तो चाहिए, मात्र मराल विवेक ।।

अनुभवजन्य संवेदना सर्जनात्मकता की प्राण होती है और कवि का सम्पूर्ण लेखन अनुभवजन्य संवेदन ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि प्रारंभ से ही उस विगलित संवेदना को अपने भीतर पहचानता था और उसे चैनेलाइज़ करना था किन्तु करने का अवसर पाना एक अलग बात थी। कवि मन जानता था कि लिखने के लिए प्रेरणा, स्रोत कोई व्यक्ति, कोई घटना या कोई स्थिति भर नहीं होती, लिखने के लिए प्रस्तावित सम्बोधित पूरा जीवन होता है। मुख्य बात तो यह है कि कवि का संवेदन तंत्र कब और किस परिस्थिति को कलात्मक नाम रूप देने में अपने को प्रेरित और सक्षम पाता है। यह क्षमता हर किसी के भीतरी रसायन में निहित होती है जो उसके चुनाव के ठिकानों पर रौशनी डालती है। संभवतः कवि के समक्ष एक विराट संवेदन भाव था जिसने उसे भीतर तक डुबो दिया। फिर भी उन्होंने कृति की भूमिका में अनेक प्रेरक शक्तियों के प्रति अपनी प्रणति व्यक्त की है और उनके प्रति कवि की श्रद्धा भावना इस रूप में अभिव्यक्त हुई है-
कविता में 'पंकज' रहे, गुरु मेरे आत्मीय ।
रंगी 'रंग' के रंग में फिर कविता कमनीय ।।

दोहों के जरिए कवि का चिन्तन अनेक समस्याओं की ओर इंगित करता है। प्राकृतिक असंतुलन, नेताओं और पूंजीपतियों की राजनीति, नष्ट होते नैतिक मूल्य, स्वार्थांधता, राष्ट्र के प्रति अराग जैसे अनेक विषयों पर कवि ने अपनी लेखनी की पैनी धार बनाई है। 'प्रकृति के संचरण में करे न हस्तक्षेप/प्रतिक्रिया में प्रकृति भी कर सकती विक्षेप' जैसे दोहे जहां मनुष्य को प्राकृतिक हरीतिमा से खिलवाड़ न करने के लिए सचेत करते हैं वही अप्रत्यक्ष रूप से केदारनाथ में हुई लोमहर्षक प्राकृतिक आपदा का संकेत करके प्रकृति के रोष की अभिव्यक्ति भी करते हैं ।
भेष, भोग, भाषा, भनिति डाले क्षणिक प्रभाव ।
दीर्घकाल तक विचरता मूल्याचरित प्रभाव ।।

कह कर कवि ने मानवीय मूल्यों की सार्थकता को वाणी प्रदान की है। 'देश-प्रेम, प्रतिबद्धता, निष्ठा, सेवा, त्याग/भाषण में अभिव्यक्त हो भाव समर्पण राग' के द्वारा एक ओर कवि ने कथनी और करनी में समानता रखने पर बल दिया है। दूसरी ओर 'विद्या से आती विनय दया, त्याग, विवेक/सहिष्णुता, गम्भीरता और क्षमा अतिरेक' 'विद्या ददाति विनयम' की सार्थकता को स्पष्ट करता है। 'बड़े बड़े प्रासाद थे, जो खण्डहर हैं आज/कल खण्डहर हो जाएंगे, जो प्रासाद हैं आज।' में कवि दूसरों को संसार की नश्वरता, असत्यता के प्रति सचेत करता है वहीं वे "मैं में जब तक मैं बहुत, मिलता नहीं विराट/मैं से मैं को भेद हो, पार सके तो पार" कहकर अहंकार व अहम् की भावना को अपने भीतर से मिटाने के लिए प्रेरित करता है। अरुण सतसई ऐसे दोहों में सतसई के परम्परा की दार्शनिकता के दर्शन होते हैं।

कवि ने अत्यन्त कलात्मकता से धर्म के व्याकरण, समीकरण और बीज गणित की व्याख्या की है-

धर्म, धुरी, त्रिज्या, परिधि, धर्म स्वयं में चक्र

चाल धर्म की ऋतु सदा, नहीं चले यह चक्र,
धर्म क्रिया कारक, काम कर्ता गति अरु चाल,
धर्म, देह और आत्मा, इसको रखे संभाल।

कवि ने इतिहास के गौरवमयी संतों-तुलसी, मीरा, कबीर, रहीम, सूर, बिहारी एवं उनकी पुण्य स्थलियों का स्मरण कर उनके प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है।

कुछ गुरुओं ने जगत का देकर गुरुतर ज्ञान,
जीवन को उज्वल किया, किया बहुत कल्याण।
दोहों की गति चल रही, अब भी है अविराम।
उन कवियों की कलम को बारम्बार प्रणाम।।

भाषा के संबंध में भी कवि सचेत और सतर्क है। कवि ने अपनी भाषा को अपने संवेदन तंत्र से बुना है। यह अवश्य है कि उनकी भाषा स्वाभाविकता के निकट की न होकर एक प्रकार का भाषायी अभिजात्य है। कोई भी रचनाकार यह तो चाहता है कि उसके रचना संसार में पाठक या आलोचक उतरे पर स्वयं यह नहीं कहता कि किस प्रकार से उतरा जाए। अरुण दिवाकर जी के दोहों में उतरने के लिए किसी राजमार्ग की अपेक्षा संवेदन, दर्शन व शिल्प की पगडण्डियों से गुजरते हुए उसके गर्भ के शिखर तक पहुँचना होगा, भले ही कवि ने अपने दोहों को अनुभव फल मानकर एक प्रकार की निष्कर्षणात्मक टिप्पणी कर दी हो परन्तु जब तक उनके भीतर कविता का रस है, दोहे निर्मित होते रहेंगे। तब तक वे अधूरे इत्यलम में है जोकि एक साधना भी है।

कवि की प्राथमिकता यह भी रही है कि भाषा कैसी भी हो उसमें भाव की मृत्यु नहीं होनी चाहिए। कवि का यह कर्तव्य भी है कि वह भाव को हर क्षण, हर शब्द, हर मुहावरे में जीवित रखे। भाषा में कितनी भी उताल तरंगे उठें किन्तु उसमें निरूपित अनुभव और संवेदन नष्ट नहीं होना चाहिए। अरुण जी ने अपने प्रत्येक दोहे में इन दोनों तत्वों की न केवल चिंता ही की है अपितु उनके प्रति अपने सर्जनात्मक संकल्प के निर्वेद भाव का काफी हद तक निर्वाह भी किया है।

सतसई परम्परा में 'अरुण सतसई' काल की कसौटी पर भी खरी उतरेगी क्योंकि इस सतसई के अधिकांश दोहों में कवि की मौलिक सोच, अध्यावसायी स्वभाव, अद्भुत तर्क शक्ति विचारशीलता के दर्शन होते हैं। यथार्थ की नई छवियों, अतीत की गौरव गाथा, कहने का नवीन अंदाज़, भाषा की नई त्वरा के कारण इस पुस्तक ने पाठकों-आलोचकों को चमत्कृत किया है। इसकी सर्ग योजना में, कवि ने अपने रचना कौशल से इसे महाकाव्यात्मक विस्तार दिया है। 'अरुण सतसई' जिन स्त्रोतों से उपजी है और जिस यथार्थ से इसका भाव जन्म लेता है उस यथार्थ से इसकी अन्तः प्रकृति और रूप रचना मिलाकर एक दीर्घ कलात्मक प्रभाव रचता है। इस काव्य में विभिन्न विचार कथा के रूप में गुम्फित होते हैं। जीवन का कर्म एक गहन आलाप की तरह उभरता है और पाठक के भीतर तक पसर जाता है। 'अरुण सतसई' वास्तव में सजग सचेत, प्रबुद्ध एवं संवेदनशील कवि की जागती आंखों से देखा गया एक स्वप्न है जो निर्विवाद रूप से भारतीय भाषाओं की एक श्रेष्ठ साहित्य-सम्पदा है।

विश्व की समस्त भाषाओं के सह-अस्तित्व का मंच :

‘यूनिकोड’

- डॉ. हरीश कुमार सेठी

मानव सभ्यता के विकासक्रम में कंप्यूटर रूपी सूचना प्रौद्योगिकी एक ऐसा महत्वपूर्ण अविष्कार रहा है जिसके प्रति आने वाली पीढ़ियाँ हमेशा उपकृत रहेंगी। कंप्यूटर ने सूचना और संचार तक जन-सामान्य की पहुँच को संभव किया है। चूँकि सूचना का आदान-प्रदान भाषा के जरिए ही संभव हो पाता है इसलिए यह प्रौद्योगिकी भाषा के साथ सीधे तौर पर संबंधित है। किंतु भाषा के साथ प्रौद्योगिकी का यह जुड़ाव और उसका अनुप्रयोग किसी भाषा-विशेष तक ही सीमित नहीं है। कंप्यूटर की अपनी कोई भाषा नहीं है।

कंप्यूटर मूलतः द्वि-अंकीय कूट (अर्थात् 0 और 1) भाषा से संबंधित प्रौद्योगिकी है। कंप्यूटर संचालन प्रणाली विकसित करने के दौरान भाषा-विशेष के प्रत्येक वर्ण और अन्य चिहनों आदि के लिए कोई संख्या विशेष निर्धारित की जाती है। कंप्यूटर उस संख्या विशेष को द्वि-अंकीय कूट के संदर्भ में स्वीकार करता है और उसके आधार पर भाषा के वर्ण आदि के रूप में प्रस्तुत कर देता है। यानी वह कंप्यूटर में प्रविष्ट किए गए सभी आँकड़ों को अपनी कूट भाषा-बाइनरी भाषा- में प्राप्त करता है, उन्हें संसाधित करता है और फिर प्राकृतिक भाषा विशेष में उसका आउटपुट दे देता है। इसके लिए आवश्यकता अपनी-अपनी भाषाओं के संदर्भ में फॉन्ट विकसित करने की होती है।

यूनिकोड की आवश्यकता क्यों ?

फॉन्ट विकसित करने की प्रक्रिया में प्रत्येक कंप्यूटर विकासकर्ता भाषा विशेष के संदर्भ में प्रत्येक अक्षर के लिए विशेष नंबर प्रदान करता था। यह जरूरी नहीं होता था कि वह विशेष नंबर अन्य कंप्यूटर प्रणालियों के समान ही हो। इसलिए विभिन्न प्रकार के एनकोडिंग सिस्टम थे। किसी भी एक एनकोडिंग के लिए पर्याप्त वर्ण आदि शामिल नहीं थे। उदाहरण के लिए, केवल यूरोपीय संघ को ही अपनी सभी भाषाओं को शामिल करने के लिए कई प्रकार की एनकोडिंग की जरूरत थी। अंग्रेजी जैसी भाषा तक के लिए भी सभी वर्णों, विरामादि चिहनों और आम तौर पर प्रयुक्त होने वाले विशिष्ट तकनीकी चिहनों के लिए एकल एनकोडिंग पर्याप्त नहीं थी। वहीं दूसरी ओर, ये एनकोडिंग सिस्टम परस्पर विरोधी भी थे। यानी दो एनकोडिंग दो विभिन्न वर्णों के लिए एक ही संख्या का इस्तेमाल कर सकते थे। या फिर ऐसा भी होता था कि एक ही वर्ण के लिए दो भिन्न-भिन्न संख्याओं का इस्तेमाल कर लेना। इस कारण तकनीकी रूप से एक-दूसरे से भिन्न कंप्यूटर प्रणाली अर्थात् दो भिन्न एनकोडिंग अथवा प्लेटफॉर्म के बीच डाटा के आदान-प्रदान से उनके खराब (corrupt) होने की आशंका रहती थी। इस प्रकार की स्थिति के परिणामस्वरूप एक सॉफ्टवेयर में टाइप की गई सामग्री का दूसरे सॉफ्टवेयर/कंप्यूटर प्रणाली में न खुल पाना, एक सॉफ्टवेयर में तैयार दस्तावेज़ का दूसरे में खोलने पर भिन्न वर्ण दिखाना (जिसके कारण सामग्री का बेतरतीब एवं बेमानी लगना), ई-मेल अथवा वेबसाइट सामग्री का पढ़ा न जा पाना जैसी समस्याएँ उठ खड़ी होती थीं। ये सभी पक्ष वस्तुतः सॉफ्टवेयरों की आपसी अननुकूलता को दर्शाते हैं। इसलिए डाटा के आदान-प्रदान में ऐसी कंप्यूटर प्रणालियों की आवश्यकता महसूस होती थी जो किसी भी प्रकार की उन्मीलन : शोध और सृजन, अंक-8 (वर्ष-2014) ISSN-2249-9121

एनकोडिंग के लिए समान रूप से उपयुक्त हों। सॉफ्टवेयरों की आपसी अननुकूलता की समस्या के समाधान के रूप में यूनिकोड फोंट को विकसित किया गया।

यूनिकोड क्या है ?

यूनिकोड शब्द “यूनिवर्सल+कोडिंग” से मिलकर बना शब्द है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि यह प्राकृतिक भाषा के प्रत्येक अक्षर के लिए कंप्यूटर को एक विशेष नंबर प्रदान करने वाली प्रणाली है। उल्लेखनीय है कि यह कोड देश-काल की सीमा से परे होता है, सर्वमान्य एवं सर्वस्वीकार्य होता है। यह ऐसी कोडिंग प्रणाली है जिसमें कंप्यूटर को वैश्विक स्तर पर मानकीकृत रूप में भाषाओं की लिपियों संबंधी निर्देश दिया गया है। इसमें विश्व की भाषाओं की लिपियों के लिए अलग-अलग कोड हैं। इसे “मानक कोडिंग प्रणाली” कहा जा सकता है, जो कंप्यूटर प्रौद्योगिकी के फोंट-मुक्त, प्लेटफॉर्म-मुक्त और ब्राउजर-मुक्त बनाती है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी प्लेटफॉर्म, प्रोग्राम अथवा कंप्यूटर भाषा पर एक ही प्रकार की कोडिंग का होना। यूनिकोड में प्रस्तुत सामग्री- भले ही कंप्यूटर पर हो अथवा वेबसाइट पर किसी भी प्रकार के प्लेटफॉर्म/भाषा में उसका बिना किसी परिवर्तन के उपयोग संभव हो पाता है। इससे डाटा का बिना किसी खराबी के आदान-प्रदान संभव हो पाता है।

यूनिकोड का तकनीकी पक्ष

यूनिकोड फोंट, प्रत्येक वर्ण (कैरेक्टर) के लिए एक विशिष्ट संख्या उपलब्ध कराता है। यह विश्व की विविध लिपियों के प्रत्येक वर्ण को विशिष्ट संकेतांक प्रदान करता है। इन वर्णों के साथ-साथ अलग-अलग भाषाओं के विराम चिह्नों, गणित के प्रतीकों-चिह्नों आदि के समान विशेष आकारों को और चलमुद्रा के प्रतीकों को भी शामिल किया गया है। उल्लेखनीय है कि यूनिकोड के लिए किसी भी भाषा अथवा किसी भी प्रोग्राम का कोई बंधन नहीं है। यह विश्व की लिखित भाषाओं के सभी वर्णों को एनकोड करने की क्षमता रखता है। यूनिकोड में प्रत्येक लिपि के लिए अलग-अलग कोड दिए गए हैं। यह अमूर्त कैरेक्टरों को विशिष्ट संख्याओं से परिभाषित करता है। इन विशिष्ट संख्याओं को “कोड प्वाइंट” के नाम से जाना जाता है। किसी भी भाषा के लिए कोड का निर्धारण उसकी भाषिक जरूरतों के आधार पर किया गया है। किंतु यहाँ यह उल्लेख करना भी अनुचित न होगा कि भिन्न-भिन्न भाषाओं के अक्षर अलग-अलग भाषाओं के संदर्भ में आम तौर पर अपने कोड के आधार पर तब तक पहचाने नहीं जा सकते जब तक कि उन्हें अपनी रेंज के कोड के लिए कोई विशिष्ट संख्यात्मक मान न दे दिया जाए।

यूनिकोड फोंट को ‘यू. सी. एस. फोंट’ अथवा ‘यूनिकोड टाइपफेस’ के नाम से भी जाना जाता है। यूनिकोड 16 बिट मशीनों के लिए बनाया गया है। 16 बिट मानक का उपयोग करते हुए यूनिकोड कुल 65536 कोड उपलब्ध कराता है जबकि पूर्व-विकसित 8 बिट मानक ‘आस्की’ कुल 256 कोड ही उपलब्ध कराता है। वहीं यह आई.एस.ओ. 10646 के साथ मिलकर UTF-16 नामक एक विस्तार तंत्र भी प्रदान कर देता है। इसकी सहायता से 11 लाख कोड प्वाइंट मिल जाते हैं, जिनपर विश्व की सभी लिपियों के वर्णों को एनकोड किया जा सकता है। कोड प्वाइंटों के इस विशाल सेट में विश्व की सभी अलग-अलग भाषाओं की लिपियों की वर्णमालाओं के वर्णों को शामिल किया गया है। इस विशाल रेंज में अलग-अलग भाषाओं की प्रत्येक लिपि के लिए न केवल 128 क्रमिक संख्याओं के वर्ग निर्धारित किए जाते हैं बल्कि उसमें विशेष प्रतीकों के समूह को भी शामिल किया जाता है यानी यूनिकोड में प्रत्येक भाषा के लिए 128 कोड दिए गए हैं। उनके भाषाओं की वर्णमाला में 50 से भी कम वर्ण होते हैं तो भी यह न्यूनतम रेंज (128 क्रमिक संख्याएँ) पर्याप्त मानी जाती हैं। इसके अलावा प्रतीकों, विरामादि चिह्नों आदि को भी शामिल कर लिया जाए तो 128

की न्यूनतम रेंज पर्याप्त है।

यूनिकोड कंसोर्शियम की संकल्पना

कंप्यूटर के क्षेत्र में विश्व में अग्रगण्य एप्पल, एच.पी. आई.बी.एम, जस्टिसिस्टम, माइक्रोसॉफ्ट, ओराकल लाइनेक्स, एसएसपी, सन, कॉम्पैक, साइबेस, बेल लैब्स, यूनिसिस, हैवलैट पैकर्ड, नेटस्केप, एरिक्सन, नॉवेल आदि अनेक कंपनियाँ यूनिकोड स्टैंडर्ड को अपना रही हैं। यह जावा, कॉमन लिस्प, पर्ल, एपीएल आदि कंप्यूटर प्रोग्रामिंग भाषाओं के साथ-साथ टी.टी.एफ, और ओ.टी.एफ जैसे फॉन्ट फॉर्मेटों आदि का आधारभूत कैरेक्टर सेट बन जाता है। यह विश्व-भर में क्रमशः एक मानक बनता जा रहा है। इसे आई. एस. ओ. 10646 (यूनिकोड) मानक के रूप में औपचारिक तौर पर अपनाया जा सकता है। इसलिए बहुभाषी विश्व में यूनिकोड मानक के विकास और प्रचार-प्रसार के साथ-साथ इसे सर्वमान्य मानक के रूप में स्थापित करने के लिए वैश्विक पटल पर प्रयास भी किया गया। यह प्रयास, “यूनिकोड कंसोर्शियम” के रूप में नज़र आता है, जिसकी स्थापना 1991 में की गई। यह एक अलाभकारी संगठन है। विश्व स्तर पर बड़े-बड़े कंप्यूटर निगम, सॉफ्टवेयर विकासकर्ता, डाटाबेस विक्रेता, अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियाँ और विभिन्न उपयोगकर्ता समूह इस कंसोर्शियम के सदस्य हैं। ये सभी कंप्यूटर और सूचना संसाधन के क्षेत्र का व्यापक प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत सरकार का सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय भी इस कंसोर्शियम का पूर्णकालिक सदस्य है। इस कंसोर्शियम ने अपने सभी सदस्य-देशों की भाषाओं के मानक कोडों को शामिल किया है।

यूनिकोड के संस्करण

आज यूनिकोड को बहु-प्लेटफॉर्म, फॉन्ट और ब्राउज़र संबंधी समस्याओं के आदर्श समाधान के रूप में देखा जाता है। यूनिकोड को सर्वमान्य मानक बनाने की दिशा में प्रयास करते हुए इसने 1992 में अंतर्राष्ट्रीय मानक संगठन (आई.एस.ओ.) से सहयोग स्थापित किया ताकि मानक संस्करण का अंतर्राष्ट्रीय मानक कोड निर्धारित किया जा सके और उसका विश्व-व्यापी प्रचार हो सके। तब इसके लिए ‘यूनिकोड मानक संस्करण’ 1.0 कोड निर्धारित किया गया। हालाँकि यह भी एक तथ्य है कि आई.एस.ओ. 10646 की तुलना में यूनिकोड मानक संस्करण के कुछ वर्णों के नाम थोड़े से भिन्न थे। इस भिन्नता को समाप्त करते हुए और मानक यूनिकोड विकास करने की दिशा में आगे बढ़ते हुए यूनिकोड संस्करण 2.0 में इन्हें आई.एस.ओ, 10646 के समान कर दिया गया। तपश्चात् फरवरी 2000 में संस्करण 3.0 प्रकाशित किया गया। आज यूनिकोड मानक और आई.एस.ओ. 10646 के सामानांतर है अर्थात् ये एक-दूसरे के प्रतिस्थापक हैं।

जहाँ तक विशेष पहला यूनिकोड फॉन्ट का संबंध है, यह लुसिडा सैन्स यूनिकोड (Lucida Sans Unicode) था। इसे चार्ल्स बिगलो और क्रिस होल्मस ने तैयार किया गया था। दूसरा यूनिकोड फॉन्ट रॉय पैटर्सन ने तैयार किया था और तीसरा माइकल एवर्सन ने विकसित किया था। इसे ‘एवरसन मोनो यूनिकोड’ के नाम से जाना जाता है।

यूनिकोड का महत्व

‘यूनिकोड’ फॉन्ट माइक्रोसॉफ्ट ऑफिस 2000 (एम.एस.2000) और एम.एस.एक्स.पी. अथवा उससे ऊपर के उन्नत संस्करणों में भली प्रकार से काम करता है। किंतु यह एम.एस.98 या उससे नीचे के किसी भी प्रकार के कंप्यूटर को सपोर्ट नहीं करता। यूनिकोड फॉन्ट में किए गए कार्य को किसी भी ऑपरेटिंग सिस्टम में डाला जा सकता है, उसे स्क्रीन पर पढ़ा जा सकता है और उसका प्रिंट भी लिया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि उसके लिए यह ज़रूरी नहीं है कि

उस ऑपरेटिंग सिस्टम विशेष में वह फॉन्ट हो ही। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि ऐसा करने पर प्रविष्ट आँकड़ों (डाटा) में किसी प्रकार की कोई विकृति नहीं आती है। यूनिकोड से विभिन्न प्लेटफार्मों, अनुप्रयोगों और लिपि प्रणालियों के बीच आँकड़ों का आदान-प्रदान संभव हो जाता है। यूनिकोड फॉन्ट की सहायता से किसी भी भाषा में वेब-पृष्ठ बनाना संभव हो पाता है। इसकी सहायता से तैयार की गई वेबसाइट में किसी भी भाषा वाले ऑपरेटिंग सिस्टम से ई-मेल चैटिंग और खोज (सर्च) आदि की सुविधा सहज रूप से उपलब्ध हो जाती है। किसी भी भाषा को यूनिकोड आधारित फॉन्ट द्वारा निर्मित वेबसाइट की सामग्री को बिना फॉन्ट डाउनलोड किए ही पढ़ा अथवा कॉपी किया जा सकता है। कंप्यूटर की तकनीकी भाषा में कहा जा सकता है इससे सूचना निष्क्रमण (information dissemination) और पुनः प्राप्ति (retrieval) सरल हो जाती है।

यूनिकोड की कतिपय सीमाएँ

यूनिकोड की महत्व-प्रतिष्ठा के मूल में इसे अखिल भारतीय स्तर पर बल्कि वैश्विक-स्तर पर भी अपनाने की अनिवार्य आवश्यकता को रेखांकित करने का भाव निहित है। किंतु इसके साथ-साथ व्यावसायिक एवं वित्तीय पक्षों पर व्यावहारिक दृष्टि डालना भी जरूरी है। इसके अलावा, तकनीकी अधार पर भी देखा जाए तो यह विंडोज 2000 अथवा उससे ऊपर की सभी प्रणालियों को सपोर्ट करता है, विंडोज 98 अथवा उससे नीचे की प्रणालियों में यूनिकोड समर्थित फॉन्ट को पढ़ा नहीं जा सकता। टी.टी. एफ. में पहले से ही तैयार सामग्री को यूनिकोड में परिवर्तित करने के लिए परिवर्तन (कन्वर्टर) की आवश्यकता होती है।

यूनिकोड के संदर्भ में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि यह कंप्यूटर प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में गिनी-चुनी भाषाओं के एकाधिकार को समाप्त करता है। यूनिकोड, प्रौद्योगिकीविदों और भाषा वैज्ञानिकों के एक-साथ मिलकर और बेहतर ढंग से काम करने का एक ऐसा सांझा मंच है जिसने कंप्यूटर अनुप्रयोगों की भाषायी बाधाओं को दूर करने का बेहतर समाधान मुहैया कराया है। यूनिकोड के उपयोग से विश्व की सभी भाषाओं का सह-अस्तित्व की भावना से साथ रह पाना संभव हो पाता है। यूनिकोड का इस्तेमाल करने के लिए प्रत्येक भाषा का व्यापक प्रचार-प्रसार हो सकता है। कंप्यूटर के बहुभाषी पाठों का उपयोग करने वालों, कंप्यूटर तकनीशियनों, भाषा-वैज्ञानिकों, व्यापारियों, अनुसंधानकर्ताओं और गणितज्ञों आदि के लिए यह विशेष तौर पर बहुत उपयोगी है। यह विश्व की समस्त लिखित भाषाओं के प्रौद्योगिकी-समर्थ विकास का पर्याय है।

यूनिकोड और भारतीय भाषाओं का संदर्भ : हिंदी सहित भारतीय भाषाओं में यूनिकोड अनुप्रयोग का विशेष संदर्भ है। इसका मूल कारण यह है कि हमारे यहाँ हिंदी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं में कंप्यूटर पर काम करने के लिए विकसित विभिन्न कंप्यूटर प्रणालियों ने अनेक समस्याएँ खड़ी की और मुख्य रूप से फॉन्ट को समस्या को अराजकता की स्थिति तक पहुँचा दिया था। कंप्यूटर बाजार में अनेक प्रकार के फॉन्ट और सॉफ्टवेयरों के विकास एवं उपलब्धता ने इस समस्या को तकनीकी स्तर पर विकराल रूप प्रदान कर दिया। एक कंप्यूटर फाइल का दूसरी कंप्यूटर संचालन प्रणाली में खुल ना पाना या फिर ढंग से पढ़ा नहीं जा पाना, फॉन्ट ले-आउट में एकरूपता का अभाव, फॉन्ट डिजाइनों में अनेकरूपता, अनेक संकेत प्रणालियाँ और फॉन्ट परिवर्तन जैसे अनेक तकनीकी समस्याओं को चुनौतियों के रूप में उभारा। इसी वजह से कॉर्पस निर्माण के साथ-साथ इलेक्ट्रॉनिक शब्दकोश और डाटाबेस का आदान-प्रदान संभव नहीं हो पाता था। इस कारण बेहतर मशीनी अनुवाद और ओ.सी.आर जैसे कार्य संभव नहीं हो पाते। ये समस्याएँ भारतीय भाषाओं में वेबसाइट निर्माण कार्य में भी बाधक बन जाती और एच.टी.एम.एल जैसे कार्यक्रमों में काम करने में भी समस्या पैदा करते। हिंदी

के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं में कंप्यूटर प्रौद्योगिकी के अनुप्रयोगों में इसी तरह की कई समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। यूनिकोड को भारतीय भाषाओं की इस प्रकार की समस्याओं के सार्थक समाधान के रूप में देखा जा सकता है।

यूनिकोड से पूर्व हिंदी में काम करने के लिए 8 बिट कोड का उपयोग करते हुए 'इस्की' (Indian Standard Code for Information Interchange--ISCII) प्रणाली का प्रयोग किया जाता था। यह कोडिंग प्रणाली ब्राह्मी लिपि पर आधारित भारतीय भाषाओं को कंप्यूटर के स्मृति कोश में भंडारित करने से संबंधित है। यह कोडिंग प्रणाली 'आस्की' (American Standard Code for Information Interchange-ASCII) की भाँति है जिसे रोमन लिपि आधारित भारतीय भाषाओं के भंडारण के लिए विकसित किया गया। 'इस्की' के 8 अंकीय कोड में ब्राह्मी लिपि आधारित भारतीय भाषाओं के सभी अक्षर आदि समाहित हो जाते हैं। यानी इसमें विशेष कोडीकृत अक्षर-क्रम निर्दिष्ट होता है। लेकिन 'इस्की' प्रणाली केवल भारतीय भाषाओं तक ही सीमित थी। इसमें विश्व की अन्य भाषाएँ तो दूर ब्राह्मी लिपि के अलावा अन्य लिपियों पर आधारित अन्य भारतीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता था।

'इस्की' अक्षर कोडिंग प्रणाली से सभी भारतीय भाषाओं की लिपियों का उचित प्रतिनिधित्व संभव नहीं होने की वजह से यूनिकोड 3.0 मानक कोड का उपयोग करने का निर्णय लिया गया। यह निर्णय भारत सरकार के संचार एवं सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय के सूचना प्रौद्योगिक विभाग ने लिया। यूनिकोड के वर्ण चार्ट में सभी भारतीय भाषाओं को साथ-साथ रखा गया है और प्रत्येक भाषा को एक कोड पृष्ठ दिया गया है। इस कोड पृष्ठ में 128 कोड प्वाइंट्स के ब्लॉक हैं। इस प्रकार यह भारतीय भाषाओं के लिए निर्धारित 'इस्की' कोड के ही समान है। यूनिकोड में भारतीय लिपियों को कोड स्पेस U+900 से U+OD7F तक आबंटित किया गया है।

यूनिकोड में सहेजे गए पाठ को ओपन टाइप फॉन्टों द्वारा दर्शाया जाता है। इसका विकास एडोब और माइक्रोसॉफ्ट द्वारा संयुक्त रूप से किया गया। ओपन टाइप फॉन्ट एक खुला मानक है और यह किसी भी कंपनी विशेष की बपौती नहीं है। कुछेक भारतीय भाषाओं की लिपि एक ही होने के बावजूद प्रत्येक भारतीय भाषा का सॉर्टिंग ऑर्डर अलग-अलग है। इसे 'इस्की' और यूनिकोड में एक प्रमुख अंतर कहा जा सकता है। जैसा कि उल्लेख किया गया है, यूनिकोड 16 बिट की एनकोडिंग का उपयोग करता है जबकि "इस्की" में 8 बिट कोड का उपयोग किया जाता है। यह कोड वास्तव में 7 बिट में "आस्की" कोड का ही विस्तार है। 8 बिट कोड से जहाँ 256 संकेतांक उपलब्ध हो पाते हैं वहीं 16 बिट मानक का उपयोग करने वाला यूनिकोड 65536 संकेतांक उपलब्ध कराता है। यूनिकोड प्रत्येक अक्षर, मात्रा अथवा संकेताक्षर के लिए एक अलग कोड प्रदान करता है। इस्की में ब्राह्मी लिपि से निकली भारतीय लिपियों के मूल आकारादि वर्णों को ही समाविष्ट किया गया है। इस्की के अंतर्गत सभी भारतीय भाषाओं के लिए समान सॉर्टिंग ऑर्डर रखा गया है। इसमें सभी भारतीय भाषाओं के लिए एक कोड होने के कारण सभी भारतीय भाषाओं में आपस में लिप्यंतरण बहुत ही आसान होता था। जबकि यूनिकोड में प्रत्येक लिपि के लिए अलग-अलग संकेत दिए गए हैं। हालाँकि इस आधार पर यह सभी भाषाओं और अनुप्रयोगों को अपने तरीके से सॉर्टिंग करने की स्वतंत्रता प्रदान करना है किंतु इसके कारण लिप्यंतरण उतना आसान नहीं रह गया जितना इस्की में था। यदि सभी भारतीय भाषाओं के लिए यूनिकोड में भी एक ही कोड हो तो इससे सभी भारतीय भाषाओं में परस्पर लिप्यंतरण सरल हो जाए।

कंप्यूटर को हिंदी के बाजार के अनुरूप ढालने की प्रक्रिया में माइक्रोसॉफ्ट ने पहले जहाँ हिन्दी में विंडोज का हिंदी संस्करण तैयार किया वहीं उसके बाद यूनिकोड प्रौद्योगिकी का विंडोज ऑपरेटिंग सिस्टम में उपयोग किया। इसकी

सहायता से हिंदी तथा कई अन्य भारतीय भाषाओं के यूनिकोड फोंट पहली बार विंडोज ऑपरेटिंग सिस्टम में सामिल किए गए। यूनिकोड फोंटों को हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में शामिल करने के कारण इन भाषाओं सहित विश्व की सभी भाषाओं में इंटरनेट के अनुप्रयोग की संभावना विकसित हुई है। एकाधिक भाषाओं में कार्य करने की दृष्टि से यूनिकोड बेहद उपयोगी साधन है। यूनिकोड की सहायता से हिंदी अथवा अनेक भारतीय भाषाओं में निर्मित वेबसाइट से सामग्री को वर्ड आदि दस्तावेज़ में सहेजकर रखा जा सकता है। इसके अलावा, यूनिकोड की सहायता से निर्मित वेबसाइट में संकलित विषय-वस्तु को “सर्च” के जरिए खोजने और प्राप्त करने आदि की अधुनातन सुविधाएं भी सहजता से उपलब्ध हो सकती हैं। इससे पहले इंटरनेट पर हिंदी का प्रयोग करने के लिए या तो फोंट विशेष को डाउनलोड करना पड़ता था या फिर डायनामिक फोंट वाली वेबसाइट के द्वारा किसी फोंट विशेष का डाउनलोड किए बिना ही हो जाता था। वैसे भी अलग-अलग वेबसाइटों के लिए अलग-अलग फोंट डाउनलोड किए बिना ही सामग्री को देख-पढ़ लेना पड़ता था। फोंट को डाउनलोड करने के लिए तकनीकी जानकारी का होना जरूरी हो जाता था। वैसे भी अलग-अलग वेबसाइटों के लिए अलग-अलग फोंट डाउनलोड करना झंझट का काम था। जबकि डायनामिक फोंट में निर्मित वेबसाइट को वर्ड आदि दस्तावेज़ में सहेजना संभव नहीं और न ही इसमें संकलित विषय-वस्तु को सर्च के माध्यम से खोजा जा सकता था। इसके समाधान के रूप में विश्वव्यापी यूनिकोड का उपयोग ही एकमात्र उपाय है। इसके अलावा, यूनिकोड कंप्यूटर अनुप्रयोग की दृष्टि से केवल कंप्यूटर प्रणाली के भीतर ही नहीं, उसके बाहरी परिवेश में भी हिंदी अथवा अन्य भारतीय भाषाओं में काम करना संभव बनाता है। यूनिकोड की सुविधा से कंप्यूटर और विशेष तौर पर इंटरनेट पर हिंदी के व्यापक प्रसार-प्रचार में क्रांतिकारी परिवर्तन संभव है। मैसर्ज आर्यन सॉफ्टवेयर यूनिकोड प्रौद्योगिकी पर आधारित सॉफ्टवेयर है। आर्यन सॉफ्टवेयर्स कंपनी का यह कहना है कि यह भारत का पहला सॉफ्टवेयर है जिसमें यूनिकोड और नॉन-यूनिकोड ऑपरेटिंग सिस्टम में काम करने की सुविधा है। साथ ही उनका यह भी कहना है कि इसके “आर्यन यूनिकोड फोंट” की सहायता से किसी भी भाषा में वेब पृष्ठ बनाया जा सकता है।

टू टाइप फोंट (टी.टी.फोंट) की भाँति हिंदी में भी कई प्रकार के यूनिकोड फोंट का चलन देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, अभी कुछ समय पहले ही आर्कटक अनफोसिस्टमेस प्राइवेट लिमिटेड (जिसे पहले सॉफ्टेक प्राइवेट लिमिटेड के नाम से जाना जाता था) ने “अक्षर नवीन” नाम से नया हिंदी सॉफ्टवेयर विकसित किया जिसमें टी.टी. फोंट के अलावा, यूनिकोड फोंट भी हैं। “डी.वी-प्रिया”, “हिंदी सॉफ्टवेयर उपकरण” सॉफ्टवेयर में ऑपरेटिंग सिस्टम के साथ 160 यूनिकोड-आधारित ओपन टाइप फोंट हैं। वैसे ये तो नमूने के तौर पर देखने अथवा प्रयोग में लाने पर ही पता चलेगा कि ये यूनिकोड फोंट कितने सार्थक फॉर्मेट वाले हैं।

इस नई यूनिकोड प्रणाली की उपयोगिता का सरकारी स्तर पर मूल्यांकन करके इसे सर्वस्वीकार्य बनाने की दिशा में भारत सरकार के गृह मंत्रालय के राजभाषा विभाग के प्रयास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राजभाषा के तकनीकी प्रकोष्ठ ने इस संबंध में अंक कार्यालय ज्ञापन (सं. 12015/7/2008-ओ.एल (टी.सी) दिनांक 12 मार्च, 2008) जारी किया। इस ज्ञापन में कंप्यूटर पर हिंदी में कार्य करने के दौरान यूनिकोड की अनिवार्यता और उपयोग के संबंध में आवश्यक निर्देश दिए गए हैं।

बहुभाषी विश्व में सर्वमान्य मानक के पर्याय “यूनिकोड” का मूल उद्देश्य है - विविध प्रकार के प्लेटफॉर्म, फोंट और कंप्यूटर प्रणालियों के आर-पार सूचनाओं का विश्व-भर में आदान-प्रदान के लिए एक मानक बनाना। ताकि विश्व की सभी भाषाएँ सह-अस्तित्व की भावना के साथ रह सकें। ध्यान देने योग्य यह भी है कि यूनिकोड विश्व-भर की

विभिन्न लिपियों के वर्णों को अलग-अलग कोड प्रदान तो करता है किंतु देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी भाषा के संदर्भ में इससे भिन्न प्रकार के परिणाम भी सामने आए हैं। गैर यूनिकोड को यूनिकोड फोंट में बदलने पर आँकड़ों के भंडारण और अंतरण के स्तर पर रोमन लिपि में कम बाइट लगते हैं जबकि देवनागरी में ज्यादा। इसके परिणामस्वरूप अकरूपता, आँकड़ों के अंतरण और भंडारण में हानि होती है। इसलिए हम सभी प्रयत्नों का तब तक भरपूर लाभ नहीं उठाया जा सकेगा जब तक कि सभी फोंट और शब्द संसाधन निर्माता अपनी-अपनी भाषा के संदर्भ में किसी एक मानक को स्वीकार नहीं कर लेते और उसका योग्य तरीके से उपयोग शुरू नहीं कर लेते। इस तरह, आवश्यकता केवल उपलब्ध तकनीक का योग्य तरीके से दृढ़ इच्छा-शक्ति के साथ उपयोग करने की है।

अगर हम हिंदी के संदर्भ में यूनिकोड पर विचार करें तो यह स्थिति साफ तौर पर नज़र आती है कि इसके माध्यम से सूचना प्रौद्योगिकी पर अंग्रेज़ी की अनिवार्य निर्भरता से मुक्ति की संभावनाएँ बनी हैं क्योंकि यूनिकोड फोंट एक आम कंप्यूटर को हिंदी में सर्वत्र काम करने में सक्षम बना सकते हैं। सिर्फ़ इतना ही नहीं, ये फोंट तो एक आम कंप्यूटर को विश्व की समस्त भाषाओं में काम करने में सक्षम तक बना सकते हैं। स्वाभाविक है कि यूनिकोड फोंटों के कारण सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भाषाओं के विकास की संभावनाएँ नज़र आती हैं। ऐसे में अंग्रेज़ी जाने बिना भी कंप्यूटर की क्षमताओं का प्रयोग करने की स्थितियाँ बनेगी जो न केवल भारत के लिए ही बल्कि विश्व के किसी भी देश के लिए सार्थक सिद्ध होंगी। यूनिकोड ने वस्तुतः असीम संभावनाओं को तलाशने वाला वैश्विक मंच प्रदान किया है। आवश्यकता मात्र तलाशने और इसे व्यवहार में लाने की है।

- डॉ. हरीश कुमार सेठी, असिस्टेंट प्रोफेसर,
अनुवाद अध्ययन और प्रशिक्षण विद्यापीठ,
जी-ब्लॉक, अकादमिक विश्वविद्यालय
मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068

हिन्दी साहित्य, सिनेमा और समाज : एक विश्लेषण

-डॉ. भवानी सिंह

सिनेमा साहित्य की प्रमुख विधा नाटक का ही विकसित रूप है जिसको जीवन के रंगमंच पर खेला जाता है और प्रस्तुति वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से होती है। साहित्य सिनेमा की अनेक तरीकों से पूर्ति करता रहा है। यदि नाटक उपलब्ध होगा या कहानी तभी तो वह रंगमंच पर अथवा सिनेमा के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है। सिनेमा में आरम्भ से ही गीत-संगीत का अपना महत्व रहा है। गीतों के माध्यम से भी साहित्य सिनेमा की एक बड़ी जरूरत को दूर करता है। सिनेमा जगत के अपने भी गीतकार हैं, लेकिन हिन्दी तथा उर्दू के गीतकारों के योगदान को कम नहीं आंका जा सकता। अनेक साहित्यिक गीत, गज़लें और दोहे फिल्मों में स्थान पा चुके हैं। हिन्दी, उर्दू कवियों के अनेक गीत और गज़लें फिल्मों के कारण बहुत लोकप्रिय हुई हैं अर्थात् साहित्य सिनेमा का पूरक है और सिनेमा की अनेक आवश्यकताएं साहित्य ने पूरी की हैं और यह क्रम आज भी चल रहा है।

सिनेमा के सहयोग से साहित्य भी प्रभावित तथा अधिक लोकप्रिय बनता है। कितनी ही साहित्यिक कृतियां फिल्मीकरण के बाद लोकप्रियता हासिल कर चुकी हैं। भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' फिल्मीकरण के पश्चात् कई संस्करणों में बिका है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' को भी फिल्म बनने के बाद बड़ी लोकप्रियता मिली। अनेक उपन्यासों, कहानियों, नाटकों पर जो फिल्में बनी हैं, वे साहित्य से फिल्म के गहरे रिश्ते को रेखांकित करती हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि साहित्य और सिनेमा कई बातों में एक-दूसरे के पूरक हैं। यद्यपि दोनों का अलग-अलग माध्यम है।

जनसंचार के दृश्य माध्यम सिनेमा ने आज समाज के हर वर्ग तक अपनी गहरी पहुंच बना दी है और हर वर्ग इससे आज पूरी तरह से प्रभावित है। विशेषकर यदि हिन्दी सिनेमा का अवलोकन किया जाए तो कई तथ्य दिखाई देते हैं। मनोरंजन और ज्ञान विकसित करने का यह एक अनुपम साधन है। इसीलिए तो प्रसिद्ध हिन्दी साहित्यकार प्रेमचन्द जी ने एक बार इच्छा व्यक्त की वे अपनी कृतियों को सिनेमा के माध्यम से विशाल जनसमुदाय तक पहुंचाना चाहते हैं। ताकि असमानता, शोषण, छुआछूत एवं जात-पात के बंधन टूट सकें। यदि भारतीय भाषाओं की चर्चा करें तो आज हिन्दी में निर्मित सिनेमा किसी भी रूप में सभी भारतीय भाषाओं में आगे है।

जिस प्रकार से अन्य विधाएं सिनेमा से प्रभावित हुईं उसी प्रकार हिन्दी साहित्यिक कृतियों पर भी सिनेमा का विस्तृत प्रभाव देखा जा सकता है। स्वतन्त्रता से पूर्व भी बहुत से निर्माता-निर्देशकों ने हिन्दी की साहित्यिक कृतियों को फिल्माने के प्रयास किए थे। दूरदर्शन जैसे छोटे दृश्य की साहित्यिक कृतियों को उसी रूप में फिल्माने के सफल प्रयोग भी हुए। 'माया दर्पण', 'तीसरी कसम' से लेकर 'उसकी रोटी' और 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी कहानियों पर सफल फिल्में बनी हैं। जिससे ज्ञात होता है कि सिनेमा में भी साहित्यिक सिनेमा जैसी धारा उभरी है, जिसमें हिन्दी कहानी का अपना महत्व है। हालांकि कहानी के एक संक्षिप्त रूप को फिल्मांकन के माध्यम से मूल कथा में बनाए रखते हुए विस्तृत आकार

देना दुरूह कार्य है। लेकिन मोहन राकेश, प्रेमचन्द, निर्मल वर्मा आदि साहित्यकारों पर निर्मित फिल्मों देखने से ज्ञात होता है कि साहित्य की तरह इनमें भी एक गम्भीरता है जो दर्शकों को समान रूप से सोचने पर विवश करती है।

आधुनिक समय में सिनेमा जीवन का एक ऐसा हिस्सा है जिसे हम जनसमुदाय से अलग नहीं कर सकते। सिनेमा समाज के मनोरंजन का सुलभ एवं आकर्षक साधन है। नई-नई तकनीक, साज-सज्जा, छाया ध्वनि, गीत-संगीत तथा प्रस्तुतीकरण देकर इसके महत्व और प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है। यह सिनेमा ही है जिसके माध्यम से समाज के विभिन्न वर्गों के रूप अलग-अलग दृश्यबंधों के माध्यम से हमारे सामने आते चले जाते हैं। सिनेमा का एक-एक दृश्य लोगों की भावनाओं को ही अंकित करता है। वस्तुतः आज जिसे हम सिनेमा के नाम से जानते हैं वह बहुत कुछ रूप में रंगमंच, लोकनृत्यों, लोक नाट्य से गुजरते हम तक पहुंचने वाली एक ऐसी शैली है जिस ने यांत्रिकता के विभिन्न उपादानों का रूप पाकर कला का रूप धारण कर लिया है। साहित्य संगीत, चित्रकला, शिल्प, नाट्यकला और छायांकन के विभिन्न रम्य और कलात्मक स्वरूपों को आत्मसात करते हुए सिनेमा 'दृश्य कला' के रूप में जीवन के अनेक मार्मिक रहस्यों को एक अनूठे अंदाज से दर्शक के सम्मुख प्रकट करता है। दुनिया का ऐसा कोई भी देश नहीं होगा जहां सिनेमा ने समाज की गतिविधियों के चित्र लोगों के सामने न रखे हों। एक चित्रकार की भांति सिनेमा के निर्देशक का ध्यान समाज के उस परिवेश की ओर गया जहां हमेशा साहित्यकार भी सामाजिक रचना को संजोता रहा है। मानव के भीतर जन्म लेती संवेदनाएं हों या युद्ध की विभीषिका से त्रस्त जनसमूह, शांति की तलाश में भटकते मनुष्य हों या नस्लवाद से प्रेरित गोरे और काले का भेद। इन सबको सिनेमा ने सहज अभिव्यक्ति दी है। सूक्ष्म से सूक्ष्म मानवीय व्यवहार को एक फिल्म के माध्यम से सिनेमा हमारे सामने रखता है।

डॉ. महेन्द्र मितल ने 'भारतीय चित्र' नामक पुस्तक में लिखा है कि सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी स्थितियों को आत्मसात करते हुए सिनेमा बीसवीं सदी में सशक्त रचनात्मक माध्यम बनकर उभरा है। कविता, कहानी, उपन्यास, संस्मरण, रिपोर्टाज, रेखाचित्र सभी को सिनेमा ने एक अभिव्यक्ति दी है। इसलिए आज हम सिनेमा को 'मासस्केल' वाली कला कह सकते हैं जिसमें मानव के लिए शाश्वत मनोरंजन, उसके जीवन का विश्लेषण, संस्कृति के परम्परागत स्वर, शिक्षा-दीक्षा और साहित्य एवं कला के विभिन्न पक्ष सिनेमा के रूप में अपने संगठित प्रयास से अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। इस तरह कला व रचना के अनेक रूपों को एक ही धरातल पर एकत्र करने का महान् कार्य सिनेमा ने किया है।

प्राचीन समय में मनोरंजन की पूर्ति हेतु जो स्थान नाटकों का था, आज वही स्थान सिनेमा का है। इसमें साहित्य, संगीत, नाटक तथा चित्र-कला आदि अनेक कलाओं का मिश्रण होता है। आज समाज में सभी वर्गों, शिक्षित और अशिक्षित के लिए सिनेमा मनोरंजन का एक प्रमुख साधन बन गया है। सिनेमा से मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षा के प्रचार और प्रसार को भी बढ़ावा मिला है। किसी भी चीज़ को अपनी आंखों से देखकर जितनी आसानी से समझा जा सकता है, उतनी आसानी से उसे पढ़कर या सुनकर नहीं समझा जा सकता। विज्ञान, इतिहास, भूगोल आदि विषयों को लोग इसकी सहायता से पढ़ते हैं तो उनके हृदय पटल पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। इन्हें हम जीवन भर स्मरण रखने में समर्थ हो जाते हैं। दूर देश के निवासियों का रहन-सहन, वेश-भूषा, प्राकृतिक सौन्दर्य, ऊँचे-ऊँचे बर्फ से ढके पर्वत शिखर और ग्लेशियर, राकेट, चांद और सागर की गहराइयों के चित्र हमें उनका साक्षात् दर्शन करवाते हैं। आज पर्दे पर मनुष्य डिस्कवरी चैनल द्वारा जंगली जानवरों, समुद्र के अन्दर के जीवों तथा नवीनतम् ज्ञान भी अर्जित कर रहा है। सिनेमा द्वारा

सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की रचना तथा उनके क्रिया-कलापों का खुला चित्रण पर्दे पर देखने को मिलता है। शरीर के अनेक रोगों की शल्य चिकित्सा, गुर्दा, फेफड़ा, हृदय नली प्रत्यारोपण के दृश्य से चिकित्सा क्षेत्र की प्रगति का पता चलता है। विभिन्न देशों की कला, रोज़गार, खेल तथा संस्कृति सम्बन्धी छोटी फिल्मों द्वारा दी जाती है जिससे देशों की संस्कृति से साक्षात्कार होता है।

1913 में बनी फिल्म 'राजा हरीशचंद्र' से शुरुआत करने से लेकर आज तक भारतीय समाज में सिनेमा जनसंपर्क का सर्वाधिक प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण माध्यम बना हुआ है। मनोरंजन एवं सामाजिक वैचारिकता के बीच सामंजस्य स्थापित करने की इसकी क्षमता ने अन्य संचार माध्यमों को काफी पीछे छोड़ दिया है। फिर साहित्य की तरह यह भी विभिन्न कालखण्डों को प्रतिबिम्बित करता है और इसका प्रभाव पीढ़ियों तक रहता है। कला एवं साहित्य की कोई भी विधा समाज की उन्हीं आशाओं, आकांक्षाओं, असंतोष एवं विडंबनाओं को व्यक्त करती है जिस समाज में स्वयं उसका विकास होता है और सिनेमा इसका अपवाद नहीं है। सिनेमा के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण हैं। निर्माताओं एवं निर्देशकों के लिए यह एक फायदेमंद व्यवसाय है। नायक-नायिकाओं के लिए यह पैसा कमाने का एक बेहतर माध्यम है और साथ ही उनकी 'ग्लैमर' पाने की आकांक्षा भी इसमें पूर्ण होती है। वहीं निर्देशकों एवं अन्य कलाकारों के लिए आय के स्रोत के साथ-साथ यह कला की एक अनुपम विधा भी है। कुछ के लिए यह साहित्य या साहित्यिक संदेश का दृश्य-श्रव्य रूपांतर है। सरकार की दृष्टि में यह रोज़गार सृजन एवं राजस्व का एक सहत्वपूर्ण स्रोत है। परन्तु सिनेमा के बहुसंख्यक दर्शकों के लिए यह मनोरंजन एवं वक्त गुजारने का एक सस्ता एवं आकर्षक माध्यम है। विभिन्न लोगों की दृष्टि में साहित्य के स्वरूप में कहानी, उपन्यास, कविता, गीत आदि में मनोरंजन के साथ-साथ समाज के आइने का वर्णन मिलता है। वहीं सिनेमा का स्वरूप सामान्यतः मनोरंजन की कलात्मक विधा के रूप में समझा जाता है, जिसमें चलचित्रों के माध्यम से पटकथा, नृत्य, गीत, संगीत, हास्य-रोमांच, विरह-वेदना, संयोग-वियोग, करुणा आदि सबका समन्वित रूप आकर्षक ढंग से पर्दे पर प्रस्तुत किया जा सकता है जिसको देखकर समाज का प्रत्येक वर्ग मानवीय समाज की विभिन्न अच्छाइयों और बुराइयों के सकारात्मक और नकारात्मक रूपों से परिचित होता है। इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि साहित्य से अधिक सिनेमा आज समाज पर प्रभाव डालने वाली एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में भी स्थापित हो चुका है क्योंकि साहित्य लिखित रूप में है। उसकी पहुंच समाज के विभिन्न वर्गों तक आज भी नहीं है। जबकि संचार के इस युग में तकनीकी माध्यम से साहित्य को कोसों दूर तक पहुंचा दिया है जिसका प्रयोग शिक्षित जनसमुदाय ही कर सकता है। लेकिन फिल्मों के माध्यम से शिक्षित एवं अशिक्षित बच्चे एवं वृद्ध समाज की घटनाओं के जीवंत श्रव्य एवं दृश्य रूपों के देखकर आसानी से समझ सकते हैं। सिनेमा के प्रभाव का स्वरूप अच्छा हो या बुरा, यह लोगों की सतर्कता पर निर्भर करता है जिनमें फिल्म निर्माता, कलाकार, दर्शक एवं सरकार सभी शामिल हैं। यह प्रश्न बार-बार उठाया जाता रहा है कि क्या सिनेमा को सामाजिक दायित्व से पूर्ण कला के रूप में विकसित करना चाहिए या उसे स्वतंत्र रूप से उसे इस बात के लिए छोड़ देना चाहिए। यहां सामाजिक दायित्व का तात्पर्य है कि इस तरह का व्यवहार जिससे सामाजिक मूल्यों को नुकसान न पहुंचे और न ही सामाजिक सौहार्द्र बिगड़े। सिनेमा सत्य को अभिचित्रित करने के लिए सामाजिक रूप से उत्तरदायी हो सकता है। इसके साथ ही समाज पर प्रभाव डालने की अपनी क्षमता का उपयोग कर यह सामाजिक बुराइयों को चित्रित करने के साथ-साथ प्रगतिशील दृष्टिकोण का उपयोग करते हुए उनके निराकरण की दिशा में भी पहल कर सकता है। आरम्भिक हिन्दी साहित्य से निर्मित फिल्में जैसे 'अछूत कन्या', 'गोदान', 'आवारा' आदि में अन्य बातों के साथ-साथ सामाजिक दायित्व का भी अच्छी तरह से निर्वाह किया गया है। इन फिल्मों में भी लाभ कमाने

या व्यवसाय की भावना निश्चित रूप से थी। इसके बावजूद भी इन फिल्मों ने सामाजिक आवश्यकताओं की अवहेलना नहीं की। इनमें राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिक सौहार्द्र, परस्पर सहयोग और सामाजिक सुदृढ़ता को प्रोत्साहित करने की दिशा में सराहनीय प्रयास किए। 'पैगाम' जैसी फिल्मों ने वर्ग संघर्ष पर करारा प्रहार किया, वहीं इस तरह की अन्य फिल्मों ने सामाजिक बुराइयों जैसे जातिगत भेदभाव, छुआछूत, बाल-विवाह आदि पर भी प्रहार किए परन्तु पिछले कुछ वर्षों से यह भी महसूस किया जा रहा है कि भारतीय सिनेमा ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक दायित्वों से अपना कोई रिश्ता ही नहीं रखा है और उनका एकमात्र लक्ष्य बॉक्स ऑफिस पर सफल होना रहता है। फिल्म निर्माण केवल अब एक लाभदायक व्यवसाय के रूप में बदल गया है। सिनेमा में अब उन्हीं तत्वों का समावेश किया जाता है जो तत्व सैक्स, हिंसा, लूटपाट और प्रेम आदि फिल्मों को हिट कर दे। बिना इस बात की तनिक परवाह किए कि इसका सामाजिक या जनस्वास्थ्य पर कैसा प्रभाव पड़ेगा। फिल्मों की सकारात्मकता एवं गुणवत्ता में जो इतनी तेज़ गिरावट दिखाई दे रही है, उसकी सबसे बड़ी वजह है कुकुरमुत्ते की तरह फिल्म उद्योग में प्रवेश कर रहे नए निर्माता एवं निर्देशक जिनका सामाजिक मूल्यों से कुछ लेना-देना नहीं है, बस उनका एकमात्र लक्ष्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है। जब भी कोई बड़ा निवेशक या बड़ा निर्माता किसी फिल्म के निर्माण में अधिक निवेश करता है तो उसकी पहली शर्त होती है कि बॉक्स ऑफिस पर फिल्म हिट होनी चाहिए। इससे भी विकृत मानसिकता वितरकों की है जो उन फिल्मों को छूने से भी कतराते हैं जिनमें ग्लैमरस और चटपटे मसाले नहीं होते।

भारतीय सिनेमा, जो कि रंगमंच से प्रभावित है, शुरुआत की धार्मिक एवं ऐतिहासिक पटकथा के चलचित्रिकरण से फिर महत्वपूर्ण भारतीय साहित्यकारों की उन कहानियों, उपन्यासों एवं नाटकों से भाव ग्रहण किए जिनमें सामाजिक बुराइयों का अंत कर स्वस्थ, सामाजिक मूल्य एवं मानदण्डों के विनिर्माण का प्रयास था। यह प्रक्रिया काफी लंबे समय तक चलती रही। परन्तु धीरे-धीरे ऐसे प्रगतिशील विचारों के भारतीय सिनेमा ने बड़े शांत भाव से त्याग कर दिया। अब ऐसी घटिया पटकथाओं का प्रयोग किया जा रहा है जिनमें न कोई अन्तः संबंधता होती है और न ही कोई सामाजिक उद्देश्य। अधिकतर फिल्मों में अश्लीलता और चुंबन, बलात्कार, जघन्य हिंसा आदि के दृश्य ही नज़र आते हैं। परिणामस्वरूप आज की अधिकांश फिल्मों का सामाजिक दृष्टि से न तो कोई लक्ष्य बचा रह गया है और न ही प्रासंगिकता या महत्व। सामान्यतः आधुनिक भारतीय फिल्मों में नायक की जो छवि बन गई है कि उनके जीवन में 'सपनों की रानी' का दिल जीतने के अतिरिक्त और कुछ करने का उद्देश्य ही नहीं होता और इसी के लिए वह सारी दुनिया से लड़ने के लिए तत्पर रहता है। इसी तरह नायिकाओं का काम सिर्फ नायक के साथ गाना, नाचना और रोना रह गया है जिसका स्पष्ट उदाहरण वर्तमान में रिलीज हुई फिल्मों जैसे **दबंग**, जिसमें '**मुन्नी बदनम हुई डार्लिंग तेरे लिए**' और फिल्म **तीसमार खां** में '**शीला की जवानी**' आदि गीतों में देखने को मिलता है। इसका प्रभाव आज हमारे समाज में इस तरह पड़ गया है कि अधिकांश युवा विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय के कार्यक्रमों में ऐसे ही रोमांच एवं कल्पना से भरे अयथार्थ में अपने को मग्न कर लेते हैं और जीवन के कटु सत्य से उसका कोई रिश्ता ही नहीं रह जाता। ऐसे युवा वर्ग अपनी तो क्षति कर ही रहे हैं और समाज को भी बहुत नुकसान पहुंचा रहे हैं। स्त्रियों की छवि भी भारतीय फिल्मों में इस तरह की बन गई है कि वह सजे-सजाए सामान की तरह पेश होती है जिससे नाचने, गाने या अंग प्रदर्शन की अपेक्षा की जाती है। अत्याचार एवं प्रतिकार के दृश्य अधिक होते हैं जिसके लिए स्त्री का बार-बार बलात्कार होना दिखाना जरूरी है और फिर बदला लेने का कार्य महाशक्तिशाली नायकों पर छोड़ दिया जाता है। इस तरह के दृश्यों से समाज में ऐसी ही गतिविधियों को वास्तविकता के रूप में बढ़ावा मिल रहा है। इस प्रवृत्ति ने स्त्रियों के भीतर

यह बात गहरे तक बिठा दी है कि वे कमजोर एवं उपेक्षित हैं और उनकी सुरक्षा का जिम्मा पुरुषों का है। बलात्कार के दृश्य इस तरह से फिल्माए जाते हैं कि वे आक्रोश या सहानुभूति पैदा करने बदले दर्शकों की काम भावना को बढ़ाते हैं। समाज में स्त्रियों पर बढ़ते अत्याचारों की एक बहुत बड़ी वजह ऐसी फिल्मों में है। इसी तरह कुछ घिसे-पिटे विषय सिनेमा के अंग बन गए हैं। जैसे बीमार पत्नी या माता, भ्रष्ट राजनेता, शोषक ठाकुर या साहुकार, कमजोर न्याय व्यवस्था, अक्षम पुलिस व्यवस्था आदि। इन सब ने मानवीय समाज में एक विचित्र प्रकार की मानसिकता पैदा की है जिससे व्यवस्था की नई प्रणालियों के सन्दर्भ में अनेक भ्रांतियां एवं आधारहीन पूर्वाग्रह विकसित हो गए हैं, जिससे सामाजिक सौहार्द एवं विकास भी खूब प्रभावित हुआ है।

सिनेमा को समाज सुधारक के रूप में भी देखा जा सकता है। इसके द्वारा बाल विवाह, अंधविश्वासों से होने वाली हानियां एवं सामाजिक कुरीतियों के दुष्परिणामों को अवगत कर जनसामान्य को उन कुरीतियों के विषय में सचेत किया है। पौराणिक एवं धार्मिक विषय पर निर्मित फिल्मों हमारे पुरातन इतिहास को सम्मुख लाकर धर्म के प्रति समाज का विश्वास बढ़ाती हैं। उदाहरणतः 'दो बीघा ज़मीन', 'मदर इंडिया', 'सुजाता', 'अनुराधा', 'जिस देश में गंगा बहती है', 'तीसरी कसम', 'बंदिनी', 'आनंद', 'प्रेम रोग', 'जागृति' आदि अनेक फिल्मों ने भारतीय समाज में शिक्षा, ज्ञान एवं समाज को सुधारने का प्रयास किया था। दूसरी ओर 'शहीद भगत सिंह', 'गांधी', 'झांसी की रानी', 'उपकार', 'राम राज्य', 'संत ज्ञानेश्वर', 'जय संतोषी मां' तथा 'नाग पंचमी' जैसी फिल्मों ने वीरता, देश भक्ति एवं धार्मिकता का समावेश किया।

इसके अतिरिक्त भारतीय समाज में किसानों की दशा और दिशा, कृषि के नवीनतम साधनों कीटनाशक दवाइयों का प्रयोग, शिशु पालन, स्वच्छता, दहेज प्रथा का विरोध, सड़क के नियमों आदि पर फिल्मों दिखाकर समाज को जागृति एवं विकास की ओर अग्रसर करने में वृद्धि के साथ ही धनोपार्जन एवं लाखों लोगों की जीविका का साधन बना हुआ है। मजदूर से लेकर प्रबंधक तक, कैमरामैन से लेकर निर्माता एवं निर्देशक तक इससे अपनी आजीविका का साधन बना रहे हैं।

सिनेमा से जहां इतने लाभ हैं वहीं हानियां भी हैं। इसके लिए सबसे अधिक उत्तरदायी व्यावसायिक सिनेमा है। अनेक फिल्म निर्माता ऐसी फिल्में बना रहे हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य धन कमाना है। धन कमाने हेतु युवा पीढ़ी को आकर्षित करने के लिए नग्न, अश्लील तथा वासनावृत्ति वाले चलचित्रों का निर्माण किया जा रहा है। मार-धाड़, हिंसा एवं बलात्कार के दृश्यों का समावेश आज की फिल्मों में किया जाता है, जिन्हें देखकर इन बुराइयों को बढ़ावा मिलता है। लोगों के संस्कार दूषित होते हैं। चोरी, डकैती, हत्या आदि दृश्यों को पर्दे पर दिखाकर, अबोध युवक उनकी नकल करने, लड़कियों को छेड़ने तथा उन्हें मर-मराने के दृश्यों को वास्तविक जीवन में अपनाने की कोशिश करते आ रहे हैं।

सिनेमा के प्रभाव के कारण फैशन को अधिक बढ़ावा मिला है। नायक-नायिका ने कौन से कपड़े तथा किस प्रकार के पहने हैं, उनकी केश-सजा कैसी है, इनका अनुकरण करना ही नवयुवक एवं युवतियों का उद्देश्य रह गया है। इन चलचित्रों में रईसी ठाठ-बाट, मोटर, बंगले, विलास आदि को खूब बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जाता है। परिणामतः हर व्यक्ति इनके पीछे दीवाना होकर समय, धन तथा शक्ति का अपव्यय करता है। इस फैशन से प्रभावित होकर अनेक युवक एवं युवतियां एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। सिनेमा में प्रदर्शित अर्धनग्न तस्वीरों का संस्कारों को विकृत करने में बहुत बड़ा हाथ है। घर में बैठकर माता-पिता के साथ जब पुत्र-पुत्री या पुत्र-वधु ऐसे वीभत्स दृश्य देखती हैं तो

शर्म, संस्कार एवं मर्यादा का पर्दा हट जाता है। कण्डोम, नैपकिन, अधोवस्त्र, सौन्दर्य प्रसाधन, शीतल पेय, वस्त्र तथा आभूषणों के नंगे विज्ञापन दिखाकर समाज में मर्यादा, चरित्र एवं नैतिकता का विनाश किया जाता है। ऐसे चित्र हमारी भावनाओं में तामसिक रंग भरकर सात्विकता को नष्ट करते हैं।

चित्रपट की रोशनी का कुप्रभाव किसी से छिपा नहीं है। आजकल बच्चों के अनेक कार्यक्रम सिनेमा में दिखाए जाते हैं। उनकी आंखें कमजोर पड़ जाती हैं, जिससे दृष्टिकोण पनपता है, जो सिनेमा देखने के पीछे दीवाने हो जाते हैं। उनकी आंखें कमजोर पड़ जाती हैं। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि सिनेमा का प्रभाव ने समाज के अतिरिक्त हमारे दैनिक जीवन को इतना प्रभावित कर दिया है कि वह दिन दूर नहीं जब हम अपने संस्कारित समाज के विनाश के द्वार पर खड़े होंगे, फिर भी सिनेमा की अपनी उपयोगिता एवं महत्त्व है। यदि अच्छे निर्माता एवं निर्देशक अच्छी फिल्में तैयार करें तो इनका उपयोग सकारात्मक सिद्ध हो सकता है।

हिन्दी फिल्मों का बाज़ार जैसे-जैसे विस्तृत हुआ, देश का युवा बेरोजगारी आंखों में सपने लेकर अपनी किस्मत आजमाने या तो प्रशिक्षण प्राप्त कर सीधे घर से भाग कर मुम्बई आने लगे। उनमें से एक दो सफल हुए, शेष लौट गए या बर्बाद हो गए। फिल्मों में अपना कैरियर बनाने के लिए इतना आकर्षण देश फर्जी निर्माता-निर्देशकों की तथा प्रशिक्षण केन्द्रों की बाढ़-सी आ गई है। भारतीय सिनेमा के आरंभिक दशकों में जो फिल्में बनती थीं उनमें भारतीय संस्कृति की महक रची बसी होती थी तथा विभिन्न आयामों से भारतीयता को उभारा जाता था। बहुत समय बाद पिछले दो वर्षों में ऐसी दो फिल्में देखी हैं जिनमें हमारी संस्कृति की झलक थी, 'हम दिल दे चुके सनम' और 'हम साथ-साथ हैं'। हां, देश के आतंकवाद पर भी कुछ अच्छी सकारात्मक हल खोजती आई फिल्में हैं 'फिजा' और 'कश्मीर'।

आज एक सफल फिल्म बनाने का मूल मन्त्र है, खूबसूरत विदेशी लोकेशन, बड़े स्टार, विदेशी धुनों पर आधारित गाने। बीच में ऐसी फिल्में भी आईं जिनके निर्माताओं का काम था भारत की कुरीतियों, विषमताओं और विवादित मुद्दों पर फिल्म बना दर्शकों का विदेशी बाज़ार बनाना और घटिया लोकप्रियता हासिल करना। 'कामसूत्र', 'फायर' आदि ऐसी ही फिल्में हैं। 'हे राम' भी विवादित रही। वैसे कुल मिलाकर देखा जाए तो भारतीय समाज और सिनेमा दोनों ने काफी तकनीकी तरक्की कर ली है। अब जैसे-जैसे फिल्म व्यवसाय बढ़ रहा है फिल्मों के प्रति दर्शकों की संवेदनशीलता घट रही है। आज हमारे युवाओं के पास विश्वभर की फिल्में देखने और जानकारी के अनेक माध्यम उपलब्ध हैं।

अतः साहित्य, सिनेमा और समाज आपसी संबंधों के कारण जीवित रहते हैं और इनकी गतिविधियों से संपूर्ण समाज अवश्य ही प्रभावित होता है। साहित्य समाज द्वारा नियंत्रित समाज के भावोदगारों को प्रकाशित करता है जबकि सिनेमा उसको जीवन्त रूप देकर दृश्यों द्वारा समाज के सामने प्रस्तुत करता है। साहित्य और सिनेमा दोनों का ही संबंध समाज से है। जहां साहित्य और सिनेमा समाज में घट रही घटनाओं से प्रभावित होता है वहीं इन दोनों विधाओं द्वारा उठाए गए समाज के विभिन्न पहलुओं को जनसमुदायों के समक्ष लाकर समाज भी प्रभावित होता है। संस्कृत के एक श्लोक के अनुसार साहित्य पत्नी की तरह उपदेश देता है। समाज पति है साहित्य पत्नी। दोनों की सत्ता एक-दूसरे पर निर्भर है। इसी प्रकार यह बात सिनेमा पर भी लागू होती है, क्योंकि समाज की सकारात्मक और नकारात्मक सब समस्याओं को एक जीवित रूप में सिनेमा ही प्रस्तुत कर सकता है। समाज जहां पति रूपी साहित्य का पालन-पोषण

करता है वहीं साहित्य पत्नी की तरह समाज को ठीक राह पर चलाने का प्रयत्न करता है। बाबू गुलाब राय के शब्दों में हमारा साहित्य हमारे समाज का प्रतिबिंब होता है व उसका नियामक और नायक भी है।

सहायक पुस्तकें :—

1. अवतार अग्निहोत्री, आधुनिक हिंदी सिनेमा का समाजिक व राजनीतिक अध्ययन।
2. जवरीमल्ल पारीख, लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ।
3. जवरीमल्ल पारीख, हिन्दी सिनेमा का समाजशास्त्र।
4. डॉ. महेन्द्र मित्तल, भारतीय चलचित्र।
5. डॉ. वसुधा गाडगिल, मीडिया की भाषा।
6. डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना, हिन्दी सिनेमा : नीति और अनिति।
7. डॉ. सुदेश, साहित्य के विविध आयाम।
8. नीरज दुबे, भारतीय फिल्म और समाज।
9. बलराम अग्रवाल, (संपादक) प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियां।
10. विवेक दुबे, साहित्य, समाज और सिनेमा।
11. हरीश कुमार, सिनेमा और साहित्य।



हिन्दी नाटक : काम परिकल्पना का संदर्भ

-डॉ० संतोष सूद

काम एक नैसर्गिक, मूल वृत्ति है, जिसकी तीव्र व्यापकता एवं प्रभावक्षमता अद्वितीय है। यह मानव मन में नानारूपिणी इच्छाओं एवं प्रेरणाओं की मूल उत्पादिकता शक्ति भी है। भारतीय मनीषा ने काम की महिमा को स्वीकार करते हुए प्रमुखता के आधार पर इसे ही मूल प्रवृत्ति माना है और इसी में अन्य सभी मानवीय प्रवृत्तियों के समावेश के संकेत दिए हैं। वैदिक युग से लेकर वर्तमान युग पर्यन्त काम की महिमा भारतीय चिन्तकों एवं मनीषियों द्वारा नाना रूपों से मण्डित होती रही है। इतना ही नहीं, वात्स्यायन-कृत 'कामशास्त्र' आदि स्वतन्त्र ग्रन्थ के प्रणयन से भारतीय विचारकों के काम-सम्बन्धी वैज्ञानिक दृष्टिकोण की भी पुष्टि होती है।

(क) प्राचीन परिदृश्य- प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में भी काम की चर्चा की गई है। वैदिक मन्त्रों एवं ऋचाओं में जिस काम को मानव मन की मूल प्रवृत्ति स्वीकार किया गया है, वह सर्वप्रथम परमात्मा के मन में काम की (सृष्टि की) इच्छा उत्पन्न हुई। उससे सर्वप्रथम बीज (उत्पत्तिकरण) निकला। काम में निहित महती प्रेरणा-शक्ति को अंगीकार करते हुए विद्वानों ने इस बात की भी स्थापना की है कि 'काम' प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ही मनुष्य सभी क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। अतः काम की इस महिमा और अदम्य प्रेरणा शक्ति के ध्यानांतर्गत उसे समुद्र के समान अन्तहीन बताया गया है। भारतीय चिन्तकों ने काम को अत्यन्त महत्वपूर्ण पुरुषार्थ मान कर दार्शनिक धरातल पर काम की प्रतिष्ठा से उसे जीवन के अनिवार्य तथा आधारभूत मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

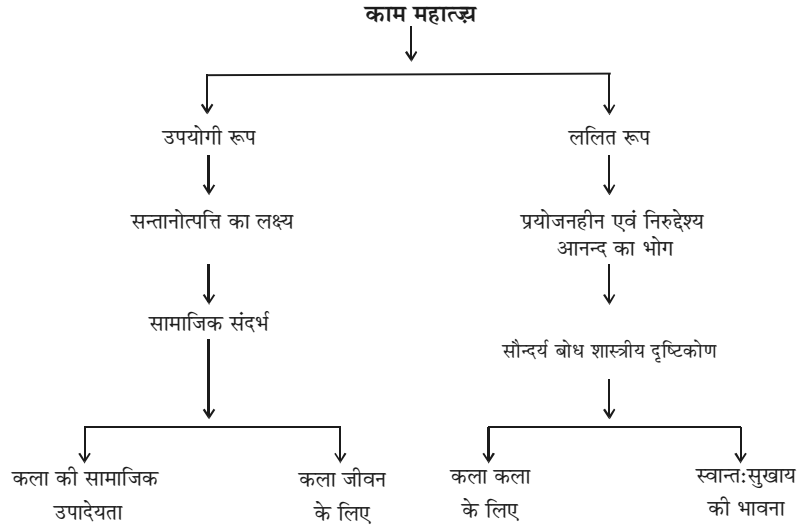
काम का पौराणिक सन्दर्भ और भी महत्वपूर्ण है। पुराणों में भी काम-महिमा का प्रतिपादन करते हुए यह कहा गया है कि काम-भावना एक ऐसी दुर्निवार शक्ति है, जिसके प्रतिकूल कोई विरोधी स्थावर पदार्थ नहीं ठहर सकता है। जब व्यक्ति इस भावना से प्रेरित होता है, तब वह लक्ष्य प्राप्ति के लिए अतिशय शक्ति के कारण विशिष्ट होता है। वस्तुतः भारतीय धर्म-ग्रन्थों में 'काम' के नाना-रूपों का विश्लेषण-विवेचन करते हुए इसके बहु-आयामी पक्षों को भी उद्घाटित किया गया है। शिव-पुराण में जब इन्द्र की आज्ञा से 'काम' शिव को विजित करने जाता है और अपने पंचशरों से उन्हें कामातुर करना चाहता है, तो शिव अपने तीसरे नेत्र से काम को भस्म कर देते हैं और तदुपरांत अपना संकल्प दोहराते हैं कि मैं काम को सबके हृदय में जीवित कर दूंगा। वह सदा मेरा गण होकर विहार करेगा।

काम पर दार्शनिक दृष्टि से चिन्तन करने वाले विद्वानों ने काम को पुरुषार्थ-चतुष्टय में प्रमुख स्थान दिया है। आदि पुरुष मनु ने भी अपने ग्रन्थ में पुरुषार्थ चतुष्टय की चर्चा करते हुए काम को भी मानव जीवन का व्यापक अंग बताया है। मनु के अनुसार, धर्म, अर्थ और काम के उचित समन्वय से ही मनुष्य को सुख की प्राप्ति हो सकती है। श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता एवं महाभारत आदि ग्रन्थों में भी तात्त्विक दृष्टि से काम-सम्बन्धी अत्यंत समर्थ चिन्तन प्राप्त होता है। महाभारत में तो धर्म, अर्थ और काम को त्रिवर्ग की संज्ञा में व्यवहृत करते हुए काम को ही इस त्रिवर्ग का सार माना गया है और धर्म तथा अर्थ को इसी में अन्तर्भूत मान लिया गया है।

काम सम्बन्धी उपर्युक्त चिन्तन एक ओर जहां धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रेरित होकर काम की अर्थवत्ता

को निरंतर गरिमा प्रदान करता रहा है, वहां वात्स्यायन का 'काम-सूत्र' भारतीय कामचिंतन के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। वात्स्यायन ने काम को सामान्य और प्रधान काम दो विभागों में विभक्त किया था। परन्तु वात्स्यायन द्वारा निर्दिष्ट प्रधान अथवा विशेष काम का अर्थ ही वर्तमान युग में व्यवहृत होता है जिसमें उसने स्त्री-पुरुष के संयोग में स्पर्श-विशेषजन्य सुखानुभूति को ही काम की संज्ञा दी है। अतः वात्स्यायन का 'काम-सूत्र' काम के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण का ही परिचायक है।

(ख) आधुनिक परिदृश्य- काम के महत्व को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अग्रलिखित तालिका में स्पष्ट किया जा सकता है-



उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट: द्योतित होता है कि काम के उपयोगी पक्ष की अपेक्षा ललित पक्ष को ही प्रधानता दी जा रही है। स्वर्गीय रामधारी सिंह दिनकर ने उर्वशी के रचनाकाल के सम्बन्ध में अपना स्पष्टीकरण देते हुए तथा उसमें कामाध्यात्म के दर्शन के निरूपण के पीछे भी काम के ललित पक्ष की प्रधानता का ही कारण बताया है। उर्वशी की रचना का समय वह है, जब ललित कला उपयोगी कला से बहुत दूर हो गई है। अब ज्यादातर लोग विवाह इसलिए नहीं करते कि वे सन्तान चाहते हैं अथवा नारी के बांझपन को दूर करना चाहते हैं, बल्कि इसलिए कि उनका ध्येय प्रेम है। इस तरह आधुनिक युग में काम के प्रति दृष्टि अपने प्राचीन सन्दर्भों से कट कर एवं विकसित होकर भिन्न-भिन्न रूपों में चर्चित हो रही है।

पश्चिम में 'काम' का व्यवस्थित, वैज्ञानिक और प्रौढ़ चिंतन फ्रायड से ही आरम्भ होता है। फ्रायड ने पहले लिबिडो को यौन तत्व की मूल-वृत्ति के रूप में ग्रहण किया था। कालान्तर में उसने अपने अभिमत में सुधार किया और लिबिडो को समस्त जीवन प्रवृत्तियों की ऊर्जा के रूप में स्वीकार किया। वस्तुतः फ्रायड ने अपनी मूलभूत काम-तृप्ति (लिबिडो) में द्विध्रुवीय कल्पना से 'आत्म-प्रेम' और 'पर-प्रेम' दो छोरों को स्पष्टतः रेखांकित किया था। फ्रायड ने कला एवं साहित्य को मनुष्य के मनोविकारों का परिष्कृत अथवा उदात्त रूप माना है। काम भाव के रूपांतर अथवा लिबिडो के भूमिका-परिवर्तन को उसने काम-भाव के उन्नयन की संज्ञा दी है। इससे फ्रायड ने काम की महत्ता को ही प्रकारान्तर से प्रतिष्ठित किया है। फ्रायड के मतानुसार लिबिडो का भूमिका परिवर्तन वस्तुतः मानवीय काम-वृत्ति को समाज-सम्मत

बनाने की दिशा में ही एक प्रयास है। इस तरह फ्रायड ने इस तथ्य की भी स्थापना की कि लिबिडो द्वारा जो शक्ति प्राप्त होती है, उसका प्रयोग कला, भक्ति भाव तथा अन्य श्रेष्ठ दिशाओं में उच्चतर कार्यों के लिए आता है। अतः फ्रायड काम के उन्नयन की बात को स्वीकार करते हुए काम की रचनात्मक क्षमता को प्रतिपादित करता है। फ्रायड की लिबिडो की अवधारणा में सर्वकामुकता का दोष भी निहित था। फ्रायड ने बच्चे के अंगूठा चूसने से प्राप्त आनन्द एवं परिपक्व युवक की काम सुखानुभूति दोनों में लिबिडो की व्याप्ति को स्वीकार किया था, जो उसके सिद्धांतों की व्यावहारिकता पर प्रश्न-चिह्न लगा गया।

फ्रायड के बाद दूसरे प्रमुख मनोविश्लेषक एडलर वैयक्तिक मनोविज्ञान (ईन्डिविजुअल साइकॉलोजी) के प्रवर्तक थे। इन्होंने भी काम को यौन-वृत्ति से इतर प्रभुत्व कामनामूलक प्रेरक वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। वस्तुतः एडलर के वैयक्तिक मनोविज्ञान में 'काम' की अहम् मूलक व्याख्या में जीवन शैली की ही महत्ता प्रतिपादित की गई है। इस तरह एडलर भी काम-वृत्ति की सामाजिक सन्दर्भ में प्रतिष्ठा करता है।

एडलर के बाद के महत्वपूर्ण मनोविश्लेषक सी-जी युंग ने काम की महत्ता को अपनी पुस्तक 'एनेलिटिक साइकॉलोजी' में प्रस्तुत किया। फ्रायड ने लिबिडो की अर्थव्याप्ति तो मानवीय सम्बन्धों में दूर तक प्रतिष्ठित कर दी थी परन्तु उसे अर्थगरिमा देने में कुछ त्रुटियां बाधक बनी रहीं। कार्ल गुस्ताफ युंग ने लिबिडो को 'यौनमूलक' न मान कर जीवनेच्छा का समानार्थी स्वीकार किया। लिबिडो को उसने द्विआयामी मानते हुए काम की महत्ता को शारीरिक और आध्यात्मिक धरातल पर एक साथ महत्ता प्रदान करने का कार्य किया।

परवर्ती मनोविश्लेषकों में एब्राहम कार्डिन (एरिक फ्रेम एवं हार्नी) के नाम महत्वपूर्ण हैं। ए. कार्डिनर एवं एरिक फ्रेम जैसे मनोवैज्ञानिक काम को यौनमूलक मान्यताओं से पृथक सांस्कृतिक दृष्टि पर बल देते हैं, जबकि के.हार्नी ने अपनी पुस्तक 'न्यू वेज टू साईको एनायलसिस एण्ड सेल्फ एनेलिसिज' में काम को सामाजिक सन्दर्भों में देखने का प्रयास किया है।

अतः काम का क्षेत्र इतना विस्तृत तथा उसका विषय इतना गम्भीर है कि उसे केवल दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक धरातल पर परखा नहीं जा सकता। हमारे उपर्युक्त विवेचन का केन्द्र बिन्दु भी प्रमुखतः दर्शन और मनोविज्ञान ही रहे हैं परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से विषय के अध्ययन विश्लेषण की प्रवृत्ति के अध्ययन की नई दिशाओं एवं क्षितिजों को उन्मेषित किया है। फलतः आधुनिक काम-शास्त्री एस-सी किजे ने उचित ही कहा है। इसमें काम लगभग बाईस विषय हस्तक्षेप करते हैं। दर्शन, धर्म, नीति आदि का समावेश तो इसमें पहले ही था, अब इसमें प्राणी विज्ञान, आयुर्विज्ञान, समाज शास्त्र, अर्थ शास्त्र एवं कानून आदि विषयों का भी समावेश होने लगा है। अतः भारतीय मनीषियों द्वारा समुद्र इव हि कामः के उद्घोष से यह प्रकट है कि यह वास्तव में कितना गूढ़ है एवं इसका क्षेत्र इतना व्यापक है।

काम और साहित्य

प्रत्येक सृजन के मूल में काम की ही विद्यमानता है। फ्रायड आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने इस बात की स्थापना की है कि कला एवं साहित्य मनुष्य के मनोविकारों का उदात्त रूप हैं। इसके साथ ही साहित्य अथवा कला रचनाकार के अचेतन से प्रेरित प्रत्यक्ष जीवन जगत की प्रतिबिम्बात्मक सृष्टि है। अतएव अचेतन से प्रेरित होने के कारण इसकी सिसृक्षा के मूल में काम की अनिवार्य प्रेरणा ही निहित रहती है। भारतीय चिन्तकों और पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों में इस विषय पर मतैक्य ही है कि काम मानव-मन की मूलभूत प्रवृत्ति है और सभी अन्य प्रवृत्तियाँ इसी में समाहित हो जाती हैं। अतः स्वाभाविक है कि कलाकार एवं साहित्यकार अपनी कृति में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से काम-वृत्ति का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष

रूप में चित्रित होता रहा है। अपनी काम वृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य भिन्न-भिन्न साहित्यिक विधाओं को माध्यम के रूप में भले ही अपनाता हो, परन्तु काम-वृत्ति की प्रतीकात्मक प्रस्तुति ही उसका मूलभूत उद्देश्य होता है।

मनोविज्ञान ने जब से मानव के अचेतन मन के गृहयालोकों को उद्घाटित करना प्रारम्भ किया था, उससे यह तथ्य सामने आया कि मनुष्य की दमित वासनाएं ही (विशेषतः काम वासना) प्रकारान्तर साहित्य में रूपान्तरित होती हैं। इस बात की स्थापना करने का श्रेय फ्रायड को ही जाता है।

साहित्य और काम के अन्तर्सम्बन्धों को भारतीय मनीषियों ने कुछ भिन्न दृष्टि से देखा है। साहित्य अथवा काव्य में प्रतिपादित कवि की शृंगार भावना को ही भारतीय विचारकों ने काम भावना की अभिव्यक्ति माना है। रति को मानव मन का स्थायी भाव मानने वाले साहित्य शास्त्रियों का यह मत था कि किसी कृति का सृजन करते समय रति स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (संचारी) भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति को प्राप्त होता है। अतः जिस कृतिकार का रति भाव (काम-वृत्ति) जितना परिष्कृत होगा उसकी कृति उतनी ही परिष्कृत मानी जाएगी। इस तरह यह स्पष्ट है कि किसी कृति में शृंगार भावना की अभिव्यक्ति ही अन्य शब्दों में उसकी उन्नति काम वृत्ति का ही प्रतीक है। यद्यपि पौरवात्य और पाश्चात्य विचारकों में काम भावना की साहित्य में अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में कोई विवादास्पद स्थिति नहीं पाई जाती, तथापि साहित्य में काम-भावना के प्रस्तुतीकरण के प्रश्न पर दृष्टिकोण का अन्तर अवश्य विद्यमान है। दृष्टिकोण की यह विभिन्नता भले ही गौण महत्व रखती है, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि और व्यवस्थित विश्लेषण विवेचन की पद्धति से सम्पुष्ट होने के कारण काम भावना की साहित्य में अभिव्यक्ति सम्बन्धी भारतीय मत की तुलना में पाश्चात्य अवधारणा को ही अधिक महत्व दिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं-

1. प्रत्येक सृजन के मूल में काम की विद्यमानता है।
2. साहित्यिक सिसृक्षा के मूल में भी काम की विरहजन्य सम्वेदनाओं को लगभग सभी महान् साहित्यकारों ने स्वीकार किया है।
3. विश्व का अधिकांश सृजनात्मक साहित्य नर-नारी सम्बन्धों की शृंगारपरक अथवा समस्यामूलक स्थितियों का उद्घाटन करता है।
4. साहित्य के सभी रूपों में काम-बिम्बों का प्राधान्य है और उनकी सामर्थ्यपूर्ण सम्प्रेषणीयता।
5. बहुत सी साहित्यिक समस्याएँ और साहित्यिक विवादों की चर्चा भी काम-प्रेरित है अश्लीलता का सवाल उत्तरदायित्व पूर्ण भूमिका और प्रतिबद्धता के सवाल अतियथार्थवाद एक्सर्ड की अवधारणा मादावाद-मनोवैज्ञानिकता पीढ़ियों की संवादहीनता।
6. अतः काम और साहित्य का रिश्ता मात्र सह-यात्रा का नहीं कार्य और कारण अर्थात् प्रजननेच्छा और प्रजनन का भी है।

नाटकों का काम-परिकल्पनात्मक अध्ययन : समीचीनता

यदि यह सच है कि किसी विधा की पहचान उसके मूल उत्स में पहुँच कर की जानी चाहिए, तो नाटकों के अध्ययन की पहली शर्त काम-परिकल्पनात्मक उपागम है। कारण यह है कि नाटक अथवा नाट्य का उद्भव ही विश्वमानव की काम वृत्ति और तज्जन्य सुखान्वेषण से हुआ है। ऋग्वेद में यम-यमी संवाद और जयोनिसस देवता के

उत्सव इसी बात को द्योतित करते हैं कि नाटक का जन्म इन्हीं काम उत्सवों के रूप में ही हुआ है। जिस जिस देश में काम-विरोध का रुख रहा है, वहां वहां नाट्योत्पत्ति का इतिहास ही विलुप्त है-जैसे मिस्र।

कोई भी साहित्यकार बाह्य परिवेश से प्रभावित होकर जहां सामाजिक रूढ़ियों, आर्थिक विसंगतियों, राजनीतिक भ्रष्टाचार आदि को कृति की विषय वस्तु बनाता है, वहां अपनी वैयक्तिक दृष्टि के अनुरूप इनके प्रति अपनी प्रतिक्रिया भी अभिव्यक्त करता है। यदि स्वांतःसुखाय को ही साहित्य सर्जना के प्रेरक स्रोत के रूप में ग्रहण करे, तो रचनाकार अपने रचना में प्रस्तुत करता है। साहित्य की अन्य विधाओं के सन्दर्भ में जहां प्रस्तुतीकरण मात्र पाण्डुलिपि तक ही सीमित रहती है वहां नाटक और रंगमंच की कला में यह द्विआयामी हो जाता है। नाट्य-लेखन के बाद नाट्य-मंचन की प्रक्रिया रचनाकार के अभिप्रेत अर्थ के इस रूप में प्रस्तुत करती है कि प्रेक्षक को उससे तादात्म्य पैदा करने में कोई तकलीफ नहीं होती।

नाटकों का काम-परिकल्पनात्मक अध्ययन करते समय हम केवल नाट्य कृति की भाषा का ही परीक्षण नहीं करना पड़ता, प्रत्युत उस कृति के संवादों कथोपकथनों एवं दृश्यों की रंगमंचीय-दृष्टि से सार्थकता की भी परख करनी होती है। क्योंकि अभिनीत कृति को रंगमंच पर वाचिक अभिनय और आंगिक अभिनय के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर पाने की संभावनाओं का पता लगाना होता है। वर्तमान समय में नाटक एवं रंगमंच कला की स्थापना एक स्वतंत्र कला के रूप में हो चुकी है। अनेक ललित एवं उपरंजक कलाओं में नाट्य कला को अपने स्वतंत्र अस्तित्व की पताका फहराने में सहयोग दिया है। फलतः यह किसी भी नाट्य कृति के प्रतीकात्मक, संकेतात्मक एवं ध्वन्यात्मक प्रभावों को सफलता के साथ प्रस्तुत कर सकती है। नाटकों में अभिव्यक्त काम-परिकल्पना को आंगिक अभिनय द्वारा अतीव सफलता के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। नाटकों में अभिव्यक्त काम-परिकल्पना को आंगिक अभिनय द्वारा इतनी सफलता के साथ प्रस्तुत कर पाना संभव नहीं क्योंकि इसमें कई एक कठिनाइयां आती हैं। उदाहरणतयः काम सम्बन्धों को मंच पर प्रस्तुत कर पाने में सक्षम अभिनेता और अभिनेत्रियों की तलाश भी अपने आप में एक दुष्कर कार्य है। अन्य बात यह है कि नाटकीय कथावस्तु को सम्प्रेषणीय बनाने और उसके अक्षुण्ण रखने के लिए काम-सम्बन्धों के दृश्य अभिनेताओं से जिस कुशल एवं भावपूर्ण अभिनय की मांग करते हैं, उसका निर्वाह बहुधा हो नहीं पाता। सामाजिक मर्यादा की बात को छोड़ कर जो इन नाटकों को मंचित करते हैं, वे एक तो बदनामी का केन्द्र बनते हैं और फिर इस सामाजिक प्रताड़ना से फैलते हुए मंचन को बीच मंझधार में छोड़ कर चल देते हैं। अतः नाटकों का काम-परिकल्पनात्मक अध्ययन हमें इस बात की ओर सचेत करता है कि नाटकों में काम-सम्बन्धों के चित्रण का समावेश किस सीमा तक होना चाहिए? क्या चुम्बन आलिंगन और बैडरूम के दृश्य नाट्य-विकृति का कारण नहीं होते? इसके साथ ही सवाल प्रेक्षक की रुचियों का भी है, क्योंकि नाटककार को सामाजिक मर्यादा और नैतिकता के विरुद्ध बोलने का अधिकार तो है परन्तु काम-सम्बन्धों की वीभत्सता द्वारा दर्शक की मानसिक दशा पर कुठाराघात करने का नहीं। वस्तुतः काम-परिकल्पना प्रधान नाटकों का अभिमंचन तभी अपनी मर्यादा खो देता है, जब उसमें सूक्ष्म माध्यमों द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने की बजाए स्थूल उपकरणों का आश्रय ग्रहण किया जाता है। इसका कारण संभवतः यह है कि काम की निराकरण झंकृतियां जितनी प्रतीकात्मक एवं सांकेतिक तथा ध्वन्यात्मक रूप में दर्शक तक सम्प्रेषित हो सकती हैं, उतनी स्थूल आंगिक अभिनय (चुम्बन, आलिंगन, शयन कक्ष के दृश्य आदि) एवं वाचिक अभिनय से नहीं।

इस तरह यह स्पष्ट है कि नाटकों का काम-परिकल्पनात्मक अध्ययन नाट्य-कृति के पाठकीय-विश्लेषण एवं

प्रतिक्रिया तक ही सीमित नहीं है। वस्तुतः श्रव्य से दृश्यात्मक होने की प्रक्रिया में नाट्यकृति में जो सजीवता, प्रभावोत्पादकता एवं जीवन्तता आ जाती है, नाटक का पठनीय संस्करण उससे सदैव वंचित रहता है। फलतः नाट्यकृति सम्प्रेषण की दृष्टि से उन हाशियों को छूने लगती है, जहां नाटककार की प्रतिपाद्य वस्तुतः एवं उसका दृष्टिकोण केवल उस की ही निजी अवधारणा न रह कर प्रेक्षक से तादात्म्य स्थापित करके उसकी भी अवधारणा बनने लगता है। दूसरे शब्दों में नाटक की पाण्डुलिपि के पठन-पाठन की प्रक्रिया से नाटककार का जो अभीष्ट गन्तव्य पाठक पर अपना आधिपत्य जमा लेती है। शास्त्रीय शब्दावली में साहित्यशास्त्र के रचयिता ने 'परसे न परस्येति, ममेति न ममेति च' के वाक्यांश में समेट कर रसदशा से अभिहित किया है, कुछ वैसा ही प्रभाव नाट्यकृति के रंगमंच पर प्रस्तुत होने से प्रेक्षक पर पड़ता है, तब नाटककार का मत निजी धरातल को छोड़ कर सामूहिक मत में रूपान्तरित होने लगता है।

काम-सम्बन्धों को प्रस्तुत करने वाले नाटकों में प्रतिपादित होने वाले नाटककारों के मतों की वैधता की परख भी इस प्रकार के अध्ययन की विशेषता कही जा सकती है। यद्यपि काम कुंठाएँ सभी के भीतर रहती हैं, परन्तु उनके सामाजिक प्रदर्शन की अभिव्यक्ति साहित्य की सभी विधाओं और संसार की सभी भाषाओं के साहित्य में होती रही है। लेकिन नाटक एक दृश्य काव्य विधा होने से काम-सम्बन्धों के मनमाने फूहड़ और नग्न-चित्रण का प्रस्तुतीकरण सामाजिक व्यवस्था में उथल-पुथल पैदा करने नैतिक मानदण्डों को तोड़ने और चरित्रहीनता को बढ़ावा देने के प्रयास के अतिरिक्त कुछ नहीं। लेकिन नाटकों के काम-परिकल्पनात्मक अध्ययन-विश्लेषण से हमें किसी नाटककार के काम-सम्बन्धों के वैयक्तिक दृष्टिकोण की परख करने में सहायक सिद्ध होता है। जिन नाटकों की कथावस्तु नर-नारी के काम-सम्बन्धों पर आधारित है, उनके काम परिकल्पनात्मक अध्ययन से कृति में प्रस्तुत चरित्रों की प्रामाणिकता को सामाजिक परिवेश से साम्य बिठा कर परखा जा सकता है। वस्तुतः नाटकों का काम परिकल्पनात्मक अध्ययन ही हमें यह दृष्टि प्रदान कर सकता है कि यदि काम के यथार्थ रूप एवं विकृत सामाजिक पर मुलम्मा चढ़ाया अपराध है, तो महज निजी काम कुंठा की अभिव्यक्ति हेतु सामाजिक नैतिकता को भ्रष्ट करना भी असंगत है। अतः इससे जहां एक ओर नाटकों में काम संबंधों के यथार्थ चित्रण का लेबल लगा कर पाठकीय रुचियों को विकृत होने से रोकने में मदद मिलती है, वहां सामाजिक यथार्थ की यथातथ्य अभिव्यक्ति से पाठक एवं प्रेक्षक काम सम्बन्धों में अपना तनाव से होने वाले अन्तर्द्वन्द्व एवं कठिनाइयों से भी परिचित हो जाता है।



जावेद अख्तर के 'तरकश' में कविता

-डा० संजीव डार

जावेद अख्तर फिल्मी दुनिया की एक जानी पहचानी हस्ती है, एक ऐसा व्यक्तित्व है जो एक कामयाब पटकथा लेखक, गीतकार एवं शायर होने के अतिरिक्त एक ऐसे परिवार से सम्बन्धित है जिसकी चर्चा के बिना उर्दू अदब का इतिहास पूरा नहीं किया जा सकता। इनके पिता प्रसिद्ध प्रगतिशील शायर जाँनिसार अख्तर और माता प्रसिद्ध लेखिका सफ़िया अख्तर हैं। इनके अतिरिक्त ये प्रगतिशील अन्दोलन के एक और जगमगाते सितारे, लोकप्रिय कवि मजाज़ के भांजे हैं। अपने दौर के रससिद्ध शायर मुज्तर खैराबादी जावेद के दादा थे। इसी तरह विद्वत्ता से परिपूरित इन तमाम पीढ़ियों से जावेद अख्तर को सोच-समझ, साहित्य और संस्कार विरासत में मिले हैं जिनकी बदौलत आज वे हमारे बीच में विभिन्न साहित्यिक विधाओं के प्रणेता बने खड़े हैं। जावेद अख्तर का नाम मात्र फिल्मी दुनिया तक सीमित न होकर देश, विदेश एवं साहित्य में बड़े अदब के साथ लिया जाता है।

'तरकश' जावेद अख्तर का काव्य-संग्रह है जिसे उन्होंने अपनी दूसरी एवं मौजूदा पत्नी शबाना के नाम किया है। हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार कृष्णचन्द्र पुस्तक का प्रारम्भ करते हुए लिखते हैं - "अपनी जिन्दगी में तुमने क्या किया? किस से सच्चे दिल से प्यार किया। किसी दोस्त को नेक सलाह दी? किसी दुश्मन के बेटे को मोहब्बत की नज़र से देखा? जहाँ अन्धेरा था वहाँ रोशनी की किरण ले गये? जितनी देर तक जिये, इस जीने का क्या मतलब था...?..." तत्पश्चात 'अपने बारे में' शीर्षक के अन्तर्गत लेखक ने अपने बचपन से लेकर फिल्मी दुनिया के सफर में विभिन्न अभावों, अन्तः संघर्षों एवं दुनियावी व्यवहारों की मुँह बोलती गाथा कही है। किसी लेखक द्वारा अपने जीवन यथार्थ की यह भूमिका (मात्र दस-बारह पृष्ठों में) अपने आप में अनुपम है। उसके बाद पुस्तक में प्राक्कथन के रूप में प्रसिद्ध साहित्यकारा कुर्रतुल ऐन हैदर द्वारा 'पेशलफज़' लिखा गया है जिसमें लेखक को हिन्दोस्तानी पॉप-कल्चर/यप्पी-कल्चर का रौशन नुमाइंदा कहा गया है। जावेद के पुरखों को याद करते हुए पुस्तक में रचित कविताओं का सहारा लेकर लेखिका ने पाठक को उनके अनछुए पहलुओं को सामने लाने का प्रयास किया है। अच्छी उर्दू का इस्तेमाल करते हुए लेखिका ने तत्कालीन मार्क्सवादी माहौल का स्मरण करते हुए जावेद के अतिरिक्त भी उर्दू शायरी पर कलम चलाई है।

अनुक्रम के अनुखण्ड में कुल 49 कवितायें हैं जिनमें 24 गज़लें एवं 25 मुक्त छंद की कविताएं हैं। इस पत्र में उनके गज़लगी रूप से बिलग मात्र 25 मुक्त छंद कविताओं को ही अध्ययन का विषय बनाया गया है। पुस्तक के प्रारम्भ की प्रथम छोटी कविता 'मेरा आंगन, मेरा पेड़' है जिसमें लेखक अपने बचपन के आंगन-खेल एवं उसके आगे खड़े पेड़ की फुनगी को न छू पाने एवं अपने बचपन के उसी आंगन एवं उसी पेड़ की वर्तमान स्थिति का चित्रण करता है। इसी तरह दूसरी कविता 'वो कमरा याद आता है' हॉस्टल के उस कमरे की एक-एक चीज़ को अपनी पैनी नज़र प्रदान करता है जिसमें वो पला बढ़ा एवं शिक्षा की परिपक्वता तक पहुँचने में समर्थ हुआ। वो कमरा उसे मां का आंचल-सा, उसका शीशम का दरवाज़ा अक्खड़-बाप, कुर्सी-बहन, अलमारी-बूढ़ी अन्ना जैसी लगती थी। वो कमरा इसलिए याद आता था

कि उसकी एक-एक चीज से लेखक का आत्मीय सम्बन्ध था। आज अपने आलीशान बंगलों से भी लेखक का वह कमरा अतुलनीय है -

मैं अब जिस घर में रहता हूँ
बहुत ही खूबसूरत है
मगर अकसर यहाँ खामोश बैठा याद करता हूँ
वो कमरा बात करता था

पुस्तक की तीसरी कविता में 'भूख' लेखक के लगातार तीन दिन तक भूखे रहने एवं गरीबी के दिनों की मार्मिक संवेदनाओं का चित्रण है। भूख से गुज़ारे उन तीन दिनों में कवि को गलियाँ, शहर, बाज़ार से लेकर घाट तथा अपने कमरे तक सब कुछ बेमानी लगता है। फिर मां के हाथों मिटी भूख का स्मरण करता है।

मां अजीब थी मेरी
रोज़ अपने हाथों से
मुझको वो खिलाती थी
कौन सर्द हाथों से
छू रहा है चेहरे को
इक निवाला हाथी का
इक निवाला घोड़े का
इक निवाला भालू का

कुर्रतुल ऐन हैदर इस कविता पर प्रतिक्रिया स्वरूप लिखती हैं कि यह महज़ बात गढ़ना नहीं। लगातार फ़ाकों के बाद स्पर्श और श्रवण के सादृश्य का अनुभव बिल्कुल मुमकिन है। 'बंजारा' शीर्षक कविता कवि की बंजारा प्रकृति की परिचायक है जिसमें भिन्न-भिन्न शहरों में बंजारों की तरह विचरण करते हुये कवि शहर में बिताये लम्हों, राहों और बाशिन्दों से मन की बातें करता है। प्रत्येक शहर को छोड़ने से पहले एक विशेष प्रकार की पीड़ा का अनुभव करता है फिर भविष्य को ख़्वाबों में टटोलता हुआ बंजारा बन एक नये शहर की तरफ चल पड़ता है।

और मैं, फिर हौले से उठकर
अपनी यादों की झोली कंधे पर रखकर
फिर चल दूँगा, वक्त के अगले शहर की जानिब
नन्हें लम्हों को समझाने, भोले लम्हों को बहलाने
यहीं कहानी फिर दोहराने
तुम होती तो ऐसा होता
तुम होती तो वैसा होता

जावेद अख़्तर की कुछ कविताएं ऐसी हैं जो उनकी ज़ख्मी भावनाओं एवं अनुभूतियों की दर्पण हैं। बचपन की मीठी कड़वी यादें किसी भी कवि के जीवन स्मरण का अभिन्न अंग हैं। कवि की 'एक मोहरे का सफर' भी उसी स्मरण का

दुहराव है :-

जब वो कम उम्र ही था
उसने यह जान लिया था कि अगर जीना है
बड़ी चालाकी से जीना होगा
आंख की आखिरी हद तक है बिसाते-हस्ती
और वो मामूली सा इक मोहरा है
इक इक खाना बहुत सोच के चलना होगा

जावेद अख्तर 'मदर टेरेसा' की सेवा भावना से पूर्णतः प्रभावित हैं किन्तु देश की उस अर्थ-व्यवस्था एवं राजनीति पर करारा व्यंग्य करते हैं जो इन बेबसों, बूढ़ों, बेदरों की बदहाली की जिम्मेवार है वह मां से यह सवाल पूछने से इसीलिए भी संकोच कर रहे हैं क्योंकि वह स्वयं को भी इसी कटघरे में खड़ा करके देख रहे हैं।

तूने कभी ये क्यूँ नहीं सोचा
किसने इन बदहालों को बदहाल किया है
तूने कभी ये क्यूँ नहीं सोचा
कौन सी ताकत/इन्सानों से जीने का हक छीन के
उनको फुटपाथों और कूड़ाघरों तक पहुँचाती है

'फसाद से पहले' और 'फसाद के बाद' कविताओं में कवि ने शहर में समय-असमय दंगे होने के हालात का जिक्र किया है। फसाद से पहले सड़कें वीरान हो गई हैं। पूरा शहर मासूम बच्चे की तरह अपनी ही परछाई से डरने लगता है। फसाद के बाद रास्ते लाश की तरह बेजान दिखते हैं। दुकानें उजड़ी हैं किन्तु लूटने वालों पर व्यंग्य वार देखिये -

हम इनका भी मातम करेंगे
मगर पहले उनको तो रो लें
कि जो लूटने आये थे
और खुद लुट गये।

'मुअम्मा' एक पहेली के माध्यम से कवि दो के बीच सम्बन्ध-विच्छेद को 'हर्फ' और 'लफ़्ज' के माध्यम से बखूबी बयां करते हैं। 'उलझन' शीर्षक कविता जमीं पर बिछी लाशों में आगे बढ़ने तथा मंजिल तक पहुँचने की उलझन बताती है। 'जहन्नुमी' कविता में कवि ने गम भरे जीवन को नारकीय बताया है और अन्ततः अपने गम में ही जीवन-निर्वाह चाहता है। इसी तरह एक 'बीमार की रात' कैसी होती है दर्द और जीवन के बीच मौत चौखट पर खड़ी इन्तज़ार करती है और कवि को इस बीमार की दर्द भरी रात से निजात पाने का कोई मंज़र नहीं दिखाई दे रहा। 'शिकस्त' शीर्षक कविता हार के बाद जीतने या जीत के बाद खाली हाथ कुछ भी न पाने की कहानी कहती है।

मगर थी ख्वाबों के लश्कर में किसको इसकी खबर
हर एक किस्से का इक इखतिताम होता है
हज़ार लिख दे कोई फ़तह ज़र्रे-ज़र्रे पर
मगर शिकस्त का भी इक मुकाम होता है

‘हिज़्र’ कविता जावेद ने धरोहर के रूप में संभाल कर रखी है। वे चाहते हैं कि कविता या साहित्य के रूप में कुछ भी कहीं या लिखूँ-पढ़ूँ, उसे संभाल कर रखूँ ताकि जब तुम मिलो तुम्हें सुना सकूँ फिलहाल मैं तुम्हारे हिज़्र में जी रहा हूँ।

‘दुशवारी’ कविता में कवि की दुशवारी यह है कि तुम्हें कैसे भूलूँ मैं तो आज तक वो सब नहीं भूल पाया जो कभी रिश्ते, सम्बन्ध या ख़्याल के नाम पर कुछ था ही नहीं फिर मेरी दुशवारी यही है कि तुम तो हकीकत हो फिर तुम्हें कैसे भूलूँ। ‘आसार-ए-कदीमा’ भग्नावशेष का उर्दू-रूपांतरण है। पत्थर की अधूरी मूर्त को देखकर कवि को आज के सहारा के नीचे दबे शहर का ख़्याल आता है और आज के भौतिकवादी युग के सहारा में सुविधाओं को ढूँढते आदमी के भग्नावशेष उसी तरह दबे दिखाई देते हैं। ‘ग़म बिकते हैं’ शीर्षक कविता में कवि अपनी फिल्मी दुनिया की चकाचौंध में ग़म बेचने और अच्छे भाव प्राप्त करने की बात कहते हैं :-

बाजारों में ग़म काफ़ी महँगे बिकते हैं
लहज़े की दुकान अगर चल जाए तो
जज़्बे के गहने छोटे बड़े हर ग़म के खिलौने
मुँह माँगी कीमत पर खरीदें

ख़्वाबों की दुनिया में रहते हुये अपनी प्रेयसी के वार्तालाप की कविता है - ‘आओ, और न सोचो’ और एक दूसरे को सत्य-झूठ मिश्रित वायदे करते हुये मिलते-बिछुड़ते हुए एक विशेष प्रकार की मानसिक संतुष्टि का आभास करते हुये और कुछ न सोचते हुये मात्र ख़्वाबों की दुनिया सजाने की बात कही है क्योंकि कवि का मानना है कि केवल सोचने भर से कुछ नहीं हो वाला, सोचते रहना पछतावे के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ‘वक्त’ शीर्षक कविता भी कवि की इसी सोच का अगला पड़ाव है जहां कवि को लगता है कि वक्त कभी नहीं गुज़रता बल्कि हम गुज़र रहे होते हैं :-

सारी सदियां
कतार अंदर, कतार अपनी जगह खड़ी हों
ये वक्त साकित (ठहरा हुआ) हो
और हम ही गुज़र रहे हों

बीते, आने वाले एवं चल रहे वक्त की धारणाओं को तोड़ते हुए कवि इस वक्त के भयावह रूप से इतर भी ‘एक फ़िजा है’ की बात करता है तथा इस कविता के माध्यम से चाहता है कि हम सब वक्त में रह कर नहीं अपितु इससे बाहर होकर सोचें एवं विचरण करें ताकि किसी भी तरह की मानसिक पाबन्दी का शिकार न होकर आज़ाद ख़्याल जी सकें।

फिल्म ‘ज़िन्दगी न मिलेगी दोबारा’ के अभिनेता फ़रहान और निर्देशिका ज़ोया जावेद के पुत्र और पुत्री हैं। ‘तरकश’ की अगली कविता ‘दोराहा’ जावेद अपनी बेटी ज़ोया के नाम लिखते हैं जिसमें बेटी को ज़िन्दगी जीने के लिए दो रास्तों का हवाला देते हैं जिसमें पहला रास्ता :-

इस रास्ते पर चलने वाले
खुद को खोकर जग पाते हैं
ऊपर ऊपर जो जीते हैं

अन्दर-अन्दर मर जाते हैं

और दूसरा रास्ता बताते हुए ज़ोया को इसी दूसरे रास्ते पर चलने की प्रेरणा देते हैं :-

ये उन लोगों का रास्ता है
जो खुद अपने तक जाते हैं
अपने आप को जो पाते हैं
तुम इस रास्ते पर ही चलना

जावेद प्रकृति-प्रेमी कवि हैं। उनकी कुछ कविताओं में प्रकृति रूप उपमेय और उपमानों का सामंजस्य है। 'तरकश' की अगली कविता 'सुबह की गोरी' में भी कवि का प्रकृति-प्रेम छलकता है :-

जब से किसी ने
कर ली है सूरज की चोरी
आओ, चल के सूरज ढूँढें
और न मिले तो
किरन किरन फिर जमा करें हम
और इक सूरज नया बनाएं

'मेरी दुआ है' कविता में कवि एक विशेष एवं सर्वथा भिन्न ज़खीरे में रहने वाले लोगों को जन-साधारण से भिन्न देखने, बोलने व सोचने की दुआ देते दीखते हैं। कहीं कुछ तो ऐसा हो जो आज की बनावटी दिखने वाली दुनिया से मुख्तलिफ हो। जहाँ लोग सादगी, अमन एवं सौहार्द्र पसन्द हों। कवि की दुआ है कि उस जंजीरे में रहने वालों का मज़हब भी अन्यो से मुख्तलिफ हो। यद्यपि जावेद स्वयं मार्क्सवादी लाल रंग के हिमायती हैं, वह उनके पुरखों की मशाल है जिसे पकड़ना उनकी खानदानी मजबूरी हो सकती है हालांकि वक्त रहते वह मशाल बुझ भी चुकी है और दूसरे जावेद अन्तः करण से पूर्णतः सादगी एवं अमन पसन्द हैं इस लिए एक ऐसे जज़ीरे की कल्पना कर दुआ करते हैं और अपनी इस दुनिया में ही जीना चाहते हैं।

आपके सामने सरकार हूँ मैं
जो सज़ा चाहे अदालत दे दे
फ़ैसला सुनने को तैयार हूँ मैं
हां गुनहगार हूँ मैं

उक्त पंक्तियां जावेद अख्तर की अगली कविता 'जुर्म और सज़ा' की है जिसमें स्वयं को गुनहगार बताते हुए कवि अपनी लेखनी, साहित्य एवं स्वयं को बेच डालने का गुनाह कबूल करता है जिसे वह कविता के आधे हिस्से में जुर्म का नाम दे रहा है किन्तु स्वयं ही फिर न्यायधीश की कुर्सी पर बैठकर कविता के बाकी हिस्से में सज़ा सुना रहा है।

तेरी यादों के गुलाब तेरा अहसास
तेरी फ़िक्रों नज़र तेरी सब साअते
सब लम्हें तिरे, रोज़ो-शब, शामो-सहर
आज से तेरे नहीं हैं मुजरिम

और सजा के नाम पर तुम्हें मरने की इजाजत नहीं है, तुम्हें जीना होगा। कहकर कविता का अन्त पाठकों की झोली में डाल देते हैं। 'हिल स्टेशन' कविता पुनः कवि के प्रकृति-प्रेम का एक अन्य उदाहरण है। कवि किसी पर्वतीय-स्थल की यात्रा के दौरान अपने सुन्दर एवं सुरमयी अल्फाजों के साथ प्रशंसा करता है

घुल रहा है सारा मंजर शाम धुंधली हो गई
चांदनी की चादर ओढ़े हर पहाड़ी सो गई

पुनः इस हिल स्टेशन पर आकर प्रकृति की गोद का अहसास करते हुये कवि जानता है कि ये लम्हें अनमोल हैं तथा उसे वापिस शहर जाना पड़ेगा :-

धुल गई है रूह लेकिन दिल को ये एहसास है
ये सकूँ बस चन्द लम्हों को ही मेरे पास है।
फासलों की गर्द में ये सादगी खो जायेगी
शहर जाकर ज़िन्दगी फिर शहर की हो जायेगी।

'तरकश' के अन्तिम तीर के रूप में कवि के संघर्ष के दिनों में सिर छुपाने के लिए छत की तलाश को प्रकट करती कविता 'बेघर' है जो कवि की मानसिक दशा का उल्लेख करती है :-

ये परिन्दे, वहीं लौटकर जाएंगे, और सो जाएंगे
हम ही हैरान हैं इस मकानों के जंगल में
अपना कहीं भी ठिकाना नहीं, शाम होने को है
हम कहाँ जाएंगे।

'तरकश' में कविता के रूप में यह अन्तिम तीर था। इसके अतिरिक्त गज़लें और चार क़तए तथा बाईं ओर के पृष्ठ पर छपा एक मात्र शेर पुस्तक की शोभा बढ़ा रहा है। जावेद अख़्तर की कविताओं पर उनका ग़ज़लगो रूप हावी है इसका प्रमुख कारण उर्दू भाषा, पुश्तैनी विरासत एवं अभिव्यक्ति शैली है। विरसे में कवि को कविताएं नहीं, शायरी मिली है इसलिए किसी भी ग़ज़ल के सामने उनकी कविता किसी न किसी स्तर पर हल्की अवश्य लग रही है। उनकी कविताओं के संदर्भ में डॉ. गोपीचन्द नारंग लिखते हैं - जावेद अख़्तर की कविता एक औद्योगिक नगर की शहरी सभ्यता में जीने वाले एक शायर की शायरी है। बेबसी और बेचारगी, भूख और बेघरी, भीड़ और तन्हाई, गंदगी और जुर्म, नाम और गुमनामी पत्थर के फुटपाथों और शीशे की ऊँची इमारतों से लिपटी ये शहरी तहज़ीब न सिर्फ कवि की सोच बल्कि उसकी ज़बान और लहज़े पर भी प्रभावी होती है। जावेद की कविता एक ऐसे इन्सान की भावनाओं की कविता है जिसने वक्त के अनगिनत रूप अपने भरपूर रंग में देखे हैं, जिसने ज़िन्दगी के सर्द-गर्म मौसमों को पूरी तरह महसूस किया है। जो नंगे पैर अंगारों पर चला है, जिसने नुकीले ओस में भीगे फूलों को चूमा है और हर कड़वे-मीठे ज़रबे को चखा है जिसने नुकीले अहसास को छूकर देखा है और जावेद की सबसे बड़ी सफलता वे अपनी हर भावना और अनुभव को बयान करने की शक्ति रखते हैं। कवि ज़िन्दगी का सफल चितेरा है। वह ज़िन्दगी को अपनी आंखों से देखता है और शायद इसीलिए उसकी कविता एक आवाज़ है, किसी और की गूँज नहीं।

सन्त रविदास के काव्य में युगबोध तथा प्रगतिशील चेतना

-डॉ० रामनिवास 'मानव', डी० लिट्

हिन्दी का भक्तिकाव्य अंधकार में प्रकाश के समान था। आदिकाल की पतनोन्मुख धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा प्रवृत्तियों के कारण जन-सामान्य हताशा के निबिड़ारण्य में भटक रहा था। समूचा समाज मत-मतान्तरों, विभिन्न सम्प्रदायों, जातियों-उपजातियों तथा वर्णों-वर्गों में बंटा हुआ था। अभिप्राय यह कि सम्पूर्ण सामाजिक परिदृश्य अंधकारमय और पूरा समाज ह्रासोन्मुख था। ऐसे में सम्प्रदायिक संकीर्णता, धार्मिक कट्टरता और जातीय हठधर्मिता की प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था और यह प्रतिक्रिया उस युग के दो प्रमुख सन्त-कवियों, कबीर और रविदास के काव्य में, लगभग समान रूप में दिखाई पड़ती है। वस्तुतः कबीर और रविदास गुरु-भाई ही नहीं, समसामयिक और समविचारक भी थे, कवि होने के साथ-साथ निर्गुण-उपासक, समाज-सुधारक और ज्ञान-प्रचारक भी थे। दोनों ही निम्न वर्ग और निम्न जाति में पैदा होकर भी अपने कर्म और आचरण से, परमपूज्य तथा सर्वस्वीकार्य बने। ईश्वर-दर्शन और सिद्धि-प्रसिद्धि के बाद भी, दोनों अपनी जाति, समाज तथा पैतृक व्यवसाय से जुड़े रहे; निम्न जाति और ओछे व्यवसाय के कारण किसी प्रकार का हीन भाव दोनों में कभी नहीं आया। स्पष्ट है कि कबीर और रविदास के जीवन और काव्य में नितान्त साम्य दृष्टिगोचर होता है।

अस्तु, अपने वैचारिक औदात्य, प्रगतिशील चिन्तन, सामाजिक सरोकार और आध्यात्मिक दर्शन के साथ भौतिक दर्शन की विशद अभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्तकाव्य-परम्परा में सन्त रविदास का स्थान, कबीर के बाद, निश्चयतः माना जा सकता है। कबीर की अपेक्षा, रविदास के काव्य का स्तर सामान्य और स्वर संयत होते हुए भी, अपनी क्रान्तिकारी वैचारिक अवधारणा, प्रखर सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना तथा युगबोध की मार्मिक अभिव्यक्ति के कारण, वह छः सौ वर्ष बाद, आज भी, समाज में अपनी प्रासंगिकता बनाये हुए है। अतः 'मन चंगा, तो कठौती में गंगा' और 'मैं रूखी-सूखी खाऊँ, औरन की भूख मिटाऊँ' का उद्घोष कर आत्मिक शुद्धि तथा सामाजिक समता पर बल देने वाले सन्त रविदास के तत्त्व-चिन्तन और जीवन-दर्शन पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, सवर्ण-अवर्ण, ऊँच-नीच तथा जाति-पाति का भेद, आज की भांति, मध्यकाल में भी कम नहीं था। सम्पूर्ण हिन्दू समाज विभिन्न सांचों और खांचों में बंटा हुआ था; अज्ञान, अशिक्षा और अकर्मण्यता के कारण कुंठित समाज में वर्ण, वर्ग और जाति भावना इतनी हावी थी कि 'जात जात मैं जात है, ज्यों केवल मैं पात' वाली उक्ति चरितार्थ हो रही थी। किन्तु सन्त रविदास इन सामाजिक विधि-विधानों तथा बाह्याचारों की निरर्थकता से भलीभांति परिचित थे; वह जानते थे कि ब्राह्मण और शूद्र में जन्म से कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों एक ही मिट्टी के बने हैं, दोनों का कर्ता भी एक है और दोनों के भीतर आभासित होने वाली ज्योति भी एक ही है। अतः ब्राह्मण और शूद्र का, राम और कृष्ण का, सवर्ण और अवर्ण का विचार मूर्ख ही करते हैं, सुधीजन नहीं-

रविदास उपजिइ सभ इक बूंद ते, का ब्राह्मण का सूद।

मूरख जन न जानइ, सब

मंह राम मजूद।।

रविदास इकहि बूंद सों,

सबही भयो वित्थार।

मूरख हैं जो करत हैं,

वरन-अवरन विचार।।

यही स्थिति हिन्दू और मुसलमान की है। दोनों में सब- कुछ तो समान है, फिर अन्तर कैसा ?-

जब सभ करि दोउ हाथ-पग, दोउ नैन, दौउ कान।

रविदास पृथक कैसे भये, हिन्दू-मुसलमान।।

आज सर्वत्र साम्प्रदायिक विद्वेष और धार्मिक उन्माद का नग्न नृत्य देश और दुनिया में हो रहा है। अन्याय, अत्याचार और आतंक से त्रस्त मानवता जैसे दम तोड़ रही है। पारस्परिक स्नेह और सद्भाव, घृणा और विद्वेष की भेंट चढ़ चुके हैं। संकीर्णता, कट्टरता और धर्मान्धता मनुष्यता पर भारी पड़ने लगी है। ऐसा धर्म के मर्म को न समझने के कारण ही हुआ है। वास्तविकता तो यह है कि हिन्दू और मुसलमान, दोनों एक ही खुदा या ईश्वर के बन्दे हैं, दोनों में एक ही नूर है, दोनों का सम्बन्ध तो कंगन और कंचन जैसा है-

रविदास कंगन अरु कनक मोहे, जिमि अन्तर कछु नांहि।

तैसउ अन्तर नहीं, हिन्दुअन तुरकन मांहि।।

रविदास उपजिई सम इक नूर तैं, ब्राह्मण-मुल्ला-सेख।

सभ को करता एक है, सभ को एक ही पेख।।

सन्त रविदास ने अपनी साखियों में इस तथ्य को बार-बार रेखांकित किया है कि सबमें रमने वाला राम एक ही है; वह ब्राह्मण हो या शूद्र, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। हां, उसके नाम अवश्य अलग-अलग हैं; कोई उसे राम कहता है, तो कोई रहीम; लेकिन रविदास के लिए दोनों एक ही हैं-

रविदास हमारो साइयां, राघव-राम-रहीम।

सभ ही राम को रूप हैं, कैसे क्रिस्न-करीम।।

अलख अलख खलिक खुदा, क्रिस्न-करीम-करतार।

रामह नाउं अनेक हैं, कहे रविदास विचार।।

विभेद में अभेद, अनेकता में एकता और मानव-मात्र की समता-समानता का इससे बड़ा सन्देश और क्या हो सकता है। हिन्दु-मुसलमान रविदास जी के इन शब्दों पर ध्यान दें, तो सारा विद्वेष और सारी घृणा स्वतः ही समाप्त हो जायेगी।

जाति-पाति की भांति, जन्माधारित वर्ण-व्यवस्था भी सन्त रविदास को अमान्य थी। उनका कर्म में विश्वास था, कर्म

ही उनकी कसौटी था और कर्म ही उनके लिए वर्ग-विधान तथा वर्ण-व्यवस्था का आधार था। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि जन्म से न कोई ऊंच होता है, न नीच, न पूज्य होता है, न त्याज्य, न ब्राह्मण होता है, न शूद्र। गुण-कर्मों से ही कोई श्रेष्ठ या नेष्ट बनता है। अतः उनके लिए गुणवान शूद्र तो पूज्य है, गुणहीन ब्राह्मण नहीं-

रविदास ब्राह्मण मत पूजिए, जउ होवे गुणहीन।
पूजहि चरन चंडाल के, जउ होवे गुण-परवीन॥

यही नहीं, रविदास ने चारों वर्णों के गुण, धर्म और कर्तव्य भी बताये हैं। उनके मतानुसार निर्विकार और धर्मनिष्ठ व्यक्ति ब्राह्मण, पररक्षा-निरत और आत्मोसर्ग हेतु तत्पर रहने वाला क्षत्रिय, शुद्ध अर्जन और सात्त्विक संचयन करने वाला वैश्य तथा पावन हृदय और सेवाभावी ही शूद्र है-

काम-क्रोध-मद-लोभ तजि, जउ करइ धरम कर कार।
सोइ ब्राह्मण मन जानिहि, कहि रविदास विचार॥

दीन-दुखी के हेत जउ, बारे अपने प्रान।
रविदास उह नर सूर काँ, साचा छत्री जान॥

रविदास बैस सोइ जानिये, जउ सत्तकार कमाय।
पुन कमाइ सदा लहै, लौरे सर्वत सुखाय॥

रविदास जउ अति पवित्र है, सोइ सूदर जान।
जउ कुकरमी असुध जन, तिन्ह न सूदर मान॥

स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था की गुण-कर्म आधारित जैसी विशद व्याख्या सन्त रविदास ने की है, वैसी सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

सज्जन और दुर्जन तथा साधु और स्वादु के अन्तर को भी रविदास ने उजागर किया है। आज छद्मवेशधारी, स्वार्थी, धूर्त और लम्पट, मोह-माया में लिप्त और अज्ञानी साधुओं की कोई कमी नहीं है। धर्म-स्थानों और तीर्थ-स्थलों पर ही नहीं, गली-मुहल्लों और मेलों-ठेलों में भी ऐसे पाखंडी साधु धूनी रमाते, अलख जगाते या भीख मांगते देखे जा सकते हैं। हिन्दू धर्म और समाज की छवि बिगाड़ने में तो तथाकथित साधुओं का हाथ है ही, अपहरण, बलात्कार, नशाखोरी तथा भिक्षावृत्ति जैसे अपराधों को बढ़ाने में भी इनका कोई कम योगदान नहीं है। किन्तु रविदास जी के लिए सच्चा साधु वही है, जो निर्लिप्त, निराभिमानी, निर्वैर, निष्काम, निर्मल और निष्पाप हों, सदैव परहित-चिन्तन करने वाला, भगवद् भक्ति में लीन रहने वाला और सुख-दुःख को समान समझने वाला ही संन्यासी कहलाने का अधिकारी है। उनके अनुसार-

रविदास सोइ साधु भलो, जउ जानहि पर पीर।
पर पीरा कहुं पेखि के, रहवे सदहि अधीर॥

वस्तुतः ऐसे सर्वस्व त्यागी, परोपकारी और जनसेवा-निरत साधु-संन्यासियों की ही आज देश, धर्म और समाज को आवश्यकता है, पापियों और पाखंडियों की नहीं।

पवित्र कमाई, शुद्ध आचरण तथा सात्त्विक अन्तःकरण के साथ उन्होंने निष्काम कर्म पर भी बल दिया है, क्योंकि कर्म ही सच्चा धर्म है। जिह्वा से रामनाम जपने और हाथों से कर्म करने वालों को भगवद् प्राप्ति हेतु संन्यास लेने, वन-वन भटकने अथवा तीर्थाटन करने की आवश्यकता नहीं होती; ऐसे कर्म-साधकों को तो भगवान स्वयं उनके घर आकर दर्शन देते हैं-

जिहवां सों ओंकार भज, हत्थन सों कर कार।
राम मिलहिं घर आइ कर, कहि रविदास विचार।।

सौ बरस लौं जगत महिं, जीवत रहि करु काम।
रविदास करम ही धरम है, करम करहु निहकाम।।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि सांसारिक दृष्टि से ओछी जाति और तुच्छ व्यवसाय के बावजूद अपनी जाति तथा पैतृक व्यवसाय के प्रति किसी प्रकार की हीनता या हेयता का भाव रविदास जी में नहीं है, बल्कि वह तो सगर्व इनका उल्लेख करते हैं, जो जाति-आधारित, पारम्परिक कुटीर उद्योगों को तुच्छ समझकर, बड़ी नौकरियों और ऊंचे पदों के पीछे भागने वाले दिशाहीन नवयुवाओं के लिए प्रेरणादायक बात है। वस्तुतः स्वरोज्जगार और स्वराज्य, दोनों परस्पर पूरक हैं, यह तथ्य आज प्रत्येक देशवासी को समझना होगा। गरीबी, भुखमरी, बेकारी और बदहाली से जूझ रहे भारत के लिए सन्त रविदास का पैतृक-पारम्परिक व्यवसाय का सिद्धान्त तथा आर्थिक दर्शन आज भी प्रासंगिक है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में-

रविदास श्रम करि खाइहि, जौ लों पार बसाइ।
नेक कमाइ जउ करई, कबहूँ न नहिफल जाइ।।

कदाचित् रविदास जी की इस बात को समझकर ही महात्मा गांधी ने ग्रामीण भारत के विकास हेतु पारम्परिक व्यवसाय, स्वरोज्जगार और कुटीर उद्योग के विकास पर बल दिया था। निश्चय ही, भारत की आर्थिक समस्याओं का समाधान, रविदास जी द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलने से ही, सम्भव है।

रविदास स्वाधीनता के सुख और पराधीनता के दुःख से भी पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने शताब्दियों पूर्व ही यह अनुभव कर लिया था कि सच्चा सुख स्वराज्य में ही सम्भव है, पराधीनता तो पाप है-

पराधनीता पाप है, जान लेहु रे मीत।
रविदास प्राधीन सों, कौन करैं है प्रीत।।

किन्तु सन्त रविदास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान उनकी समतामूलक समाज की अवधारणा है। उन्होंने स्वयं को तत्कालीन समाज की विकृतियों के वर्णन तक ही सीमित नहीं रखा, प्रत्युत् एक विशिष्ट विचारक और सच्चे समाज-सुधारक की भांति उन आदर्शों, जीवन-मूल्यों तथा आवश्यकताओं की भी स्पष्ट चर्चा की, जिसके माध्यम से, समग्र

सामाजिक असंगतियों और आर्थिक अवरोधों को दूर करते हुए, आदर्श समाज के निर्माण की परिकल्पना को साकार किया जा सकता है। डॉ० लालचन्द गुप्त 'मंगल' ने रविदास जी के इस दृष्टिकोण के सम्बन्ध में उचित ही लिखा है कि "वह जीवन-पर्यन्त एक ऐसे आदर्श समाज की संरचना में संलग्न रहे, जहां पारस्परिक घृणा, भेदभाव का लेशमात्र भी न हो तथा जहां सर्वत्र समता, ममता और एकता का साम्राज्य हो।" सचमुच वह एक ऐसे समाज की, ऐसी राज-व्यवस्था की कल्पना करते हैं, जहां छोटे-बड़े, सभी, समानता के साथ और सुखपूर्वक रह सकें, किसी प्रकार का अभाव, दबाव और तनाव उन्हें न झेलना पड़े-

ऐसा चाहों राज मैं, जहां मिलै सबन को अन्न ।
छोट बड़ो सभ सम बसैं, रविदास रहैं प्रसन्न ॥

और इसके लिए उन्होंने आदर्श नगर 'बेगमपुरा' का मॉडल प्रस्तुत किया-

रविदास जु है बेगमपुरा, उह पूरन सुखधाम ।
दुख, अंदोह अरु द्वेषभाव, नांहि बसहि तिहिं ठांव ॥

इस बेगमपुरा नामक शहर में और क्या-क्या होगा तथा क्या-क्या नहीं होगा, इसका विस्तृत विवरण और पूरी परिकल्पना उनके पास है, देखिये-

बेगमपुरा सहर को नाउं ।
दुखु-अंदोहु नहिं तिहि ठाउं ।
ना तसवीस खिराजु न मालु ।
खउफु न खता न तरसु जवालु ॥
अब मोहि खूब वतन गह पाई ।
उहां खैरि सदा मेरे भाई ॥
काइमु दाइमु सदा पातिसाही ।
दोम न सेम एक सौ आही ।
आबादानु सदा मसहूर ।
ऊहां गनी बसहि मामूर ॥
तिउ-तिउ सैल करहि जिउ भावै ।
महरम महल न को अटकावै ।
कहि रविदास खलास चमारा ।
जो हम सहरी सु मीत हमारा ॥

आदर्श राज्य, स्वराज्य की यह परिभाषा और परिकल्पना कितनी मौलिक तथा प्रगतिशील है, इसका अनुमान छः-सात सौ वर्ष पूर्व के विसंगत समाज के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। वास्तव में, आदर्श नगर की इस अवधारणा, समतामूलक समाज की इस परिकल्पना को पढ़कर सुखद आश्चर्य होता है। समाजवाद का दम भरने वाले छद्म-बुद्धिजीवी अथवा साम्यवाद के ध्वजवाहक तथाकथिकत चिन्तक भी ऐसी आदर्श परिकल्पना प्रस्तुत नहीं कर सके हैं, जैसी इस 'अपढ़ चमार' ने, छः सौ वर्ष पूर्व चमड़ा छीलते या जूते गांठते हुए, अनायास, प्रस्तुत कर दी थी।

स्पष्ट है कि सन्त रविदास ने, विषम परिस्थितियों और भीषण अभावों-दबावों के बावजूद, अपनी क्रांतिकारी अवधारणा और कर्तव्यधर्मी जीवन-दृष्टि के कारण, युगबोध तथा युग-चेतना को आत्मसात् कर, तड़पती-बिलखती मानवता को न केवल अज्ञान के अंधकार से निकाला, वरन् आदर्श समाज के निर्माण की सुन्दर कल्पना भी उसके सम्मुख प्रस्तुत की। कहा जा सकता है कि रविदास जी अपनी जाति-विशेष के नहीं, समस्त दीनों-दलितों-शोषितों और अभिशप्त अभावग्रस्त लोगों के उद्धारक-उपकारक के रूप में सामने आते हैं। उनकी चिन्तन-दृष्टि अत्यन्त व्यापक थी; उन्होंने शताब्दियों पूर्व जो जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया, उसके माध्यम से आर्थिक असमानता, दमन-शोषण, धर्मान्धता तथा साम्प्रदायिक विद्वेष जैसी सामयिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। उनके विचार, उपदेश और सन्देश आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जितने तत्कालीन युग-परिवेश में थे। किसी सन्त-कवि के विचारों का, जीवन-दर्शन का, इतने वर्षों बाद भी सार्थक बने रहना, उसके युगान्तरकारी और समाजोन्मुख चिन्तन का परिणाम और प्रमाण है।

अतः अन्त में डॉ॰ सरनदास भनोट के शब्दों में निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि “परस्पर प्रेम, समता और सदाचार पर बल देने वाले सन्त रविदास की वाणी के प्रचार और प्रसार का, आज के युग में, विशेष महत्व है। जातिवाद से ग्रस्त, अध्यात्म-पथ से भ्रष्ट एवं पश्चिम के भौतिकवाद से विमोहित भारतीय समाज को आज फिर से आवश्यकता है कि कोई भी व्यक्ति केवल जन्म और जाति के थोथे अभिमान के बल पर उन्नति और गौरव प्राप्त नहीं कर सकता। यदि कोई चीज व्यक्ति के महत्व की प्रतिष्ठा कर सकती है, तो वह उसके अपने चरित्र का बल है, उसका पुरुषार्थ है एवं उसमें दिव्य गुणों का विकास है।”

प्रेमचन्द के उपन्यास : प्रतिबद्धता एवं प्रासंगिकता

-डॉ० सरबजीत कौर राय

हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचन्द जी युग-प्रवर्तक के रूप में आये। हिन्दी साहित्य के द्विवेदी युग में, सुधारवादी आन्दोलन से जो आशाएँ जग रही थीं, उन्हें शक्तिशाली बनाने में प्रेमचन्द जी सदैव तल्लीन रहे। “प्रेमचन्द जी उन उपन्यासकारों में सर्वप्रथम रहे जिन की दृष्टि महलों की ओर न जाकर सबसे पहले झोपड़ियों की ओर गई, जिन्होंने टूटी-फूटी झोपड़ियों में पुआलों पर पड़ी तड़पती हुई भारतीय आत्माएँ देखीं, फटे चीथड़ों में सरल और स्वाभाविक यौवन के सौष्ठव का अनुभव किया और दरिद्रता की चक्की में पिसने वाले दीन-जनों में भी महलों-सी प्रेम की पीर पायी।”

प्रेमचन्द की दृष्टि किसी बिन्दु विशेष या सीमित यथार्थ पर केन्द्रित न होकर व्यापक यथार्थ के समस्त पहलुओं पर पड़ी है। उन्होंने न केवल अपने समय के समाज को पैनी दृष्टि से देखा, बल्कि उसके यथार्थ को भोगा भी था। वह एक लेखक का उद्देश्य केवल सामाजिक विकृतियों का तटस्थ होकर वर्णन करना ही नहीं, बल्कि जो अच्छा और विकासशील हो उसे अपनाकर घृणित और त्याज्य का निराकरण करते हुए, सुधारपरक मानवतावादी सुधार एवं आदर्शमयी दृष्टि रखना मानते थे। उनकी इस मानवतावादी आदर्शमयी दृष्टि में विद्यमान जन-हित की कामना के कारण उनका साहित्य तत्कालीन होते हुए भी समकालीन है। उन्होंने भारतीय समाज के स्वप्नों, संघर्षों एवं युगीन समस्याओं को जानकर अपनी यथार्थवादी जीवनदृष्टि व मानवतावादी चिन्तन के समन्वय से जनतांत्रिक मूल्यों के लिए संघर्ष और शोषितों-दलितों के हितों की रक्षा को ही अपने समग्र-लेखन का उद्देश्य माना है। उनका साहित्य भारतीयता, जातीयता तथा स्वतन्त्रतापूर्व के भारतीय समाज का प्रतिबिम्ब है। मानव, समाज, देश या राष्ट्र के प्रति प्रतिबद्धता के कारण उनके साहित्य की प्रासंगिकता आज भी ज्यों की त्यों है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में जो समस्याएँ उठायी गयी हैं, वे व्यक्तिगत और पारिवारिक न होकर समाजव्यापी हैं और सामाजिक सीमाओं का स्पर्श करती हैं। उन्होंने भारतीय नागरिक एवं ग्रामीण जीवन की संवेदना के प्रति मानवतावादी दृष्टि से विचार करते हुए पहली बार सामान्य जन-जीवन से प्रेरणा पाकर, उनकी समस्याओं को लेखनबद्ध किया और साहित्य को नया मोड़ दिया। उस समय के समाज में भुखमरी, गरीबी, शोषण और सामंतवाद का बोलबाला था। ज़मींदारों द्वारा किसान का शोषण, ऋण की मार, अभाव और विषमता को प्रेमचन्द ने सूक्ष्मता से देखा और अनुभव किया, इसीलिए उनके हृदय में समाज के पीड़ित व शोषित वर्ग के प्रति सच्ची सहानुभूति थी और इसकी अभिव्यक्ति उनके उपन्यासों के माध्यम से हुई है। ग्रामीण समाज की त्रासदी, सामाजिक बुराईयों, अन्धविश्वास, दरिद्रता, अज्ञानता, धार्मिक पाखंड, नारी-शोषण, दलित समस्या, नारी-मुक्ति आंदोलन, राजनैतिक स्वतन्त्रता संग्राम का स्वरूप, पूँजीपति, ज़मींदार, इत्यादि समाज के सभी वर्गों का संवेदनशील चित्रण ही प्रेमचन्द के उपन्यासों के प्रमुख विषय हैं।

प्रेमचन्द ने शोषित, दलित, पीड़ित-जनों की करुण गाथा लेकर कथा साहित्य के प्रसाद का जो निर्माण किया है, उसमें नारी का चरित्रांकन अधिक मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी है। प्रेमचन्द जी के उपन्यास ‘सेवासदन’ में भारतीय नारी की

असहाय, और दीन-दशा का सजीव चित्रण है। मध्यवर्गीय समाज में नारी-जीवन की समस्या दहेज प्रथा है, जिसके अभाव में अनमेल-विवाह की संभावना, जिसका परिणाम पतियों की शंका, ईर्ष्या, कलह, घुटन, असन्तुष्टता, प्रताड़ना और अन्त है- वेश्यावृत्ति लेकिन इन समस्याओं का मूल है नारी की आर्थिक पराधीनता। 'सेवासदन' में एक ऐसी लड़की की करुण कहानी है जिसकी दहेज के अभाव में एक क्रूर, संकीर्ण व ईर्ष्यालु हृदय वाले अनमेल व्यक्ति से शादी हो जाती है, जो उसे एक रात देर से लौटने के कारण घर से निकाल देता है। परिस्थितिवश वह लड़की (सुमन) वेश्या बन जाती है। क्योंकि उस समय एक परित्यक्ता हिन्दू नारी के लिए वेश्या बनने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था, दूसरी ओर बिना दहेज के परित्यक्ता के गुणों का कोई मूल्य न होने के कारण अनमेल विवाह का प्रचलन था।

जिस समय इस उपन्यास की रचना हुई, वह सामाजिक व ऐतिहासिक क्रान्ति का समय था, परिणामतः कुप्रथाओं का विरोध और सुधारवादी दृष्टि पनप रही थी। इसी प्रभाव अधीन 'सेवासदन' उपन्यास में यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में दहेज-समस्या, समाज की झूठी नैतिकता या पाखण्ड, रूढ़िवादिता आदि अनेक प्रश्न आये हैं, परन्तु जिस प्रश्न को लेकर प्रेमचन्द जी ने प्रत्यक्ष रूप में और विस्तार के साथ विचार किया है वह है विधवाओं और विशेषतः वेश्याओं की जीवनदशा में सुधार और आर्थिक निर्वाह का प्रश्न।^१ इस उपन्यास में वेश्या समस्या के निदान हेतु 'सेवासदन' नाम से एक आश्रम की स्थापना की जाती है जिसमें सुमन कार्य करके अपना जीवन निर्वाह करती है। यह प्रेमचन्द के यथार्थवादी उपन्यासों की आदर्शमयी सुधारवादी दृष्टि है — "प्रेमचन्द ने अपनी आदर्शवादी जीवन-दृष्टि के अनुसार युगों से ठुकराई जाने वाली वेश्याओं के प्रति संवेदना का उद्रेक कर नगर के बाहर उनके निवास का आयोजन कर और स्वस्थ एवं संयमित जीवनयापन की इच्छुक आत्माओं के लिए आश्रम की स्थापना कर वेश्या-समस्या को सुलझाने का उपक्रम किया है, प्रेमचन्द के युग की यही प्रवृत्ति थी कि समाज सुधारक वेश्या-वृत्ति के मूलोच्छेदन में प्रवृत्त न होकर उसके दुष्परिणामों का निवारण करने में संलग्न थे। 'सेवासदन' का संस्थापन युग-प्रवृत्ति का द्योतक है।^२ दूसरी ओर यह समाज ही सुमन जैसी लड़कियों को वेश्या बनाने के लिए उत्तरदायी है - "वेश्या जीवन मध्यवर्ती हिन्दू सामाजिक जीवन की युग-प्राचीन विडम्बनाओं की उपज है। मध्यवर्ती समाज में वेश्या-जीवन को जो सम्मान दिया जाता है, वह अन्त में वैवाहिक जीवन पर ही कुठाराघात करता है। वेश्या का आकर्षण, उसका धन, यौवन, घर की रानी की अपेक्षा उसका कहीं अधिक मान, कुछ ऐसी चीजें हैं जो गृहस्थ नारी को पथभ्रष्ट करने में समर्थ हैं।"^३ इस उपन्यास में कुँवर अनिरुद्ध सिंह भी दालमण्डी बसाने के लिए शिक्षित मध्यवर्ग को दोषी ठहराते हुए कहते हैं — "हमारे शिक्षित भाइयों की बदौलत दालमण्डी आबाद है, चौक में चहल-पहल है, चकलों की रौनक है। यह मीना बाजार हम लोगों ने ही सजाया है।"^४

यद्यपि प्रेमचन्द से पूर्व उपन्यासों में भी वेश्या-जीवन का चित्रण हुआ है किन्तु प्रेमचन्द जी ने नारी के अन्तर्मन के संघर्ष और मध्यवर्ग के नैतिक मूल्यों के खोखलेपन का पर्दाफाश किया और साथ ही भारत के नवजागृत नारीत्व का भी चित्रण किया है— 'सेवासदन' में जब सुमन को उसका पति गजाधर घर से निकालने की धमकी देता है तो वह न तो पैरों पड़ती है, न गिड़गिड़ाती है और वह कहती है कि- "यों कहो कि मुझे रखना नहीं चाहते। मेरे सिर पाप क्यों लगाते हो? क्या तुम्हीं मेरे अन्नदाता हो? जहाँ मजूरी करूँगी, वहीं पेट पाल लूँगी।" एक स्वाभिमानी स्त्री गालियाँ और गुलामी सहन नहीं करती, वह अपना स्वतन्त्र जीवन जीने के लिए निकल पड़ती है।

करुण एवं गहन मानवीय संवेदनाओं से आप्लावित 'निर्मला' उपन्यास प्रेमचन्द जी की अत्यधिक कलात्मक एवं

प्रभावी रचना है। इस उपन्यास में नारी जीवन की दुखमयी गाथा है। 'सेवासदन' में जहां दहेज के अभाव तथा अनमेल-विवाह के परिणामतः वेश्या-वृत्ति और उसके सुधार का प्रश्न है, वहीं 'निर्मला' उपन्यास में यही दो कारण-दहेज और अनमेल विवाह ही नारी मन की गहन अन्तर्वेदना के, संत्रास के जन्मदाता हैं। 'निर्मला' प्रेमचन्द जी का करुणामय उपन्यास है। 'सेवासदन' के अतिरिक्त प्रेमचन्द का यही एक ऐसा उपन्यास है जिसमें एक नारी ही कथानक की प्रधान नायिका है और उपन्यास के सभी पुरुष पात्रों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मध्यवर्ग तथा उच्च वर्ग की विवाहोपजीवी नारी की समस्या इस उपन्यास में जितनी स्पष्ट हुई है, किसी अन्य में नहीं।⁷

'निर्मला' उपन्यास में भारतीय जीवन में आज भी विद्यमान दहेज की ज्वलंत समस्या एवं दहेज न दे पाने की असमर्थता की स्थिति में अनमेल विवाह की समस्या का जीवन्त चित्रण है। दहेज के लोभी समाज की सोच इस उपन्यास में भुवनमोहन के शब्दों से स्पष्ट होती है- "धन सारे ऐबों को छिपा देगा। मुझे वह गालियां भी सुनाए तो भी चूँ न करूँ। दुधारू गाय की लात किसे बुरी मालूम होती है"⁸ किन्तु दहेज के अभाव से हुआ अनमेल विवाह परिवार के नाश का कारण बनता है। क्योंकि पति-पत्नी का आयु-व्यवधान न केवल शारीरिक दृष्टि से वरन् मानसिक स्तर पर भी उपहासस्पद होता है, जैसा कि निर्मला का अपने पति तोताराम जोकि उससे बहुत बड़ा है, के सामने कितना स्वाभाविक संकोच है- "इसका कारण यह था कि अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर, देह चुराकर निकलती थी। अब उनकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था। वह उसे प्रेम की वस्तु नहीं, सम्मान की वस्तु समझती थी। उससे भागती फिरती थी। उसको देखते ही उसकी प्रफुल्लता पलायन कर जाती थी।"⁹ ऊपर से वृद्ध पति के संकीर्ण शंकालु स्वभाव के कारण पारिवारिक कलह, बच्चों का हाथ से निकलना, अन्ततः सर्वनाश। वस्तुतः निर्मला के सभी पात्र मानसिक संताप से पीड़ित हैं जिसका कारण है- विमाता, अनमेल विवाह, शंका, पुरुष की धर्मभीरुता व दिखावा।

'प्रतिज्ञा' उपन्यास प्रेमचन्द जी का पहला सामाजिक उपन्यास है जिसमें भारत में सबसे अधिक पीड़ित विधवा-नारी की समस्या का चित्रण है। इस उपन्यास में विधवा और दहेज की समस्या के साथ ही नारी-स्वतन्त्रता, नारी-अधिकार व जीविकोपार्जन की समस्या को भी उठाया गया है।

प्रेमचन्द ने 'वरदान' उपन्यास में भी पुरुषों की अपेक्षा नारी-पात्रों के चरित्र का अधिक और स्वाभाविक चित्रण किया है। नारी जीवन में प्रेम और विवाह ऐसी समस्याएं हैं जिससे स्त्री का पूरा जीवन दुखी रहता है, किन्तु 'वरदान' के नारी-पात्र प्रेम की भावुकता में बहकर कर्तव्यविमूढ़ नहीं होती। वह कहती है- "प्रेम और वस्तु है, सुहाग और वस्तु है। प्रेम चित्त की प्रवृत्ति है और विवाह पवित्र-बन्धन।"¹⁰ वह अपने मन की कमजोरी को अपने व्यवहारिक जीवन से परे मानती है। इस प्रकार प्रेमचन्द जी ने नारी-मन की परतों का सूक्ष्म-निरीक्षण किया। उनका नारी के प्रति दृष्टिकोण आदर्शवादी है "नारी का चित्रण करते समय प्रेमचन्द का ध्यान पूर्णरूपेण आदर्शोन्मुख यथार्थवाद पर रहा था। प्रेमचन्द की नारी पारिवारिक तथा सामाजिक संघर्षों के मध्य और भी निखरी और स्पष्ट बन गई है।"¹¹

भारतीय संस्कृति में स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक माने जाते हैं और नारी के प्रति आदर्शमयी दृष्टि की सफलता पुरुष के आदर्श व्यवहार पर टिकी है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में पुरुष का भी आदर्श रूप चित्रित है। उनके पुरुष पात्रों की नारी जीवन के प्रति आदर्श दृष्टि है। 'कायाकल्प' उपन्यास में यशोदानन्दन स्त्री को पुरुष का पूरक मानने के पक्ष में

है, वह कहता है- यदि स्त्री और पुरुष के विचार एक से हों तो स्त्री पुरुष के कामों में बाधक होने के बदले सहायक हो सकती है।¹² इस उपन्यास में मुख्यतः मध्यवर्गीय समाज में दहेज-प्रथा, प्रेम-विवाह और विधवा की समस्या का वर्णन है। इस समस्या के निराकरण के लिए पुरुष-पात्र भी प्रयत्नशील हैं। दहेज-प्रथा का विरोध करता हुआ चक्रधर अपनी मां से कहता है- “अगर तुम मेरे सामने लेन-देन का नाम लोगी तो मैं जहर खा लूँगा।”¹³ इसी प्रकार वह प्रेम को वह शक्ति मानता है जो हर संकट में मार्ग-प्रशस्त करती है- “हम और तुम प्रेम का आनन्दभोग करते हुए सब कष्टों और संकटों का सामना कर सकते हैं, ऐसी कोई विपत्ति नहीं है, जिसे प्रेम न टाल सके।”¹⁴

“प्रतिज्ञा” का युग मध्यवर्ग के जागरण और संघर्ष का उषाकाल था। अतः प्रेमचन्द का दृष्टिकोण भी इस उपन्यास में सुधारवादी रहा है। वे सुधार के द्वारा सामाजिक कुरीतियों को मिटाना चाहते थे।¹⁵ “प्रतिज्ञा” उपन्यास में विधवा और दहेज की समस्या के साथ ही नारी स्वतन्त्रता, नारी-अधिकार, व जीविकोपार्जन की समस्या है। इस उपन्यास की प्रमुख समस्या विधवा मन की वेदना है। इस समस्या के निराकरण के लिए मध्यवर्ग का अमृतराय, समाज में जागृति और विवेक लाने का प्रयास करता है, वह कहता है- ‘विधवा समस्या का एकमात्र समाधान पुनर्विवाह है’ और वह विधवाओं की स्थिति में सुधार लाने के लिए जीवन-भर अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा करता है। इसी प्रकार ‘प्रेमाश्रम’ उपन्यास में भी प्रेमचन्द जी की सुधारवादी दृष्टि के दर्शन होते हैं। इस उपन्यास में भी मध्यवर्गीय समाज की प्रदर्शन-प्रियता, स्वार्थप्रियता एवं अत्याचारी वृत्ति के चित्रण के साथ ही इन दूषित मनोवृत्तियों का निराकरण हुआ है। इस उपन्यास में स्वार्थी, अत्याचारी और रिश्वतखोर व्यक्तियों का हृदय-परिवर्तन होता है। इसमें ज्वालासिंह जो पहले इन कुवृत्तियों की प्रशंसा किया करता था, बाद में वह इन सब दावपेचों की निन्दा करता हुआ कहता है- “इन दोरंगी चालों से मुझे नफरत हो गई है। सरकारी नौकरी से इस्तीफा देने का फैसला कर चुका हूँ।”¹⁶

प्रेमचन्द जी का पहला राजनीतिक उपन्यास ‘प्रेमाश्रम’ है। इसमें भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की यथार्थ रूपरेखा देखने को मिलती है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द जी किसान-आंदोलन से भी जुड़ चुके थे- उन्होंने किसानों की दुर्दशा, जमींदारों के अत्याचार, पुलिस के हथकण्डे, अफसरों और उनके मातहतों की धांधली, वकीलों की नमकहरामी, न्यायधीशों का अंधापन आदि का सजीव चित्रण किया है।

सांस्कृतिक धरातल पर साम्प्रदायिकता की समस्या का निरूपण ‘कायाकल्प’ में हुआ है। “सांस्कृतिक दृष्टि से देखा जाये तो गांधी जी के जीवन का सबसे महान कार्य था, हिन्दू राष्ट्रवादी चेतना एवं मुस्लिम राष्ट्रवादी चेतना के समन्वय का प्रयत्न कर एक सामान्य भारतीय राष्ट्रीय चेतना का विकास। साहित्य के माध्यम से इसी महान कार्य की सिद्धि का प्रयत्न प्रेमचन्द में लक्षित होता है।”¹⁷ क्योंकि कुछ लोग राजनीति के साथ धर्म को जोड़कर भोली-भाली जनता को भड़काकर छूआछूत, जाति-पाति के नाम पर साम्प्रदायिक फूट डाल देते हैं, ‘कायाकल्प’ में धार्मिक एकता व समन्वय पर बल देते हुए मनुष्यता को सर्वोच्च स्थान देते हुए चक्रधर कहता है- “बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू। देखना चाहिए कि वह कैसा आदमी है, न कि यह कि वह किस वर्ग का आदमी है। संसार का भावी धर्म सत्य, न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा।”¹⁸

‘कर्मभूमि’ स्वतन्त्रता-संग्राम के विभिन्न आन्दोलनों का इतिहास है। इस उपन्यास में राजनीतिक चेतना के साथ-साथ मध्यवर्ग की आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक समस्याओं का चित्रण है। जब 1933 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन चला तो

उसे दबाने के लिए पुलिस ने देश के विभिन्न प्रान्तों में अनेक अमानुषीय अत्याचार किये तो इन्हें देखकर प्रेमचन्द जी का हृदय आहत हो उठा और जनता को जागृत करने के उद्देश्य से उन्होंने यह उपन्यास लिखा, जो भारतीय जनता की राजनीतिक चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति बना- “कर्मभूमि की मूल भावना संघर्ष है- वैयक्तिक धरातल पर एवं सार्वजनिक धरातल पर जीवन संघर्ष भावना से विभक्त है। आन्दोलन की भावना सम्पूर्ण उपन्यास में परिव्याप्त है। राष्ट्रीय राजनीति जिन आन्दोलनों के रूप में अभिव्यक्ति पा रही थी, उसका सच्चा चित्र प्रेमचन्द जी ने खींचा है।¹⁹ इस उपन्यास में गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित अमरकान्त सत्य और अहिंसा को साधन बनाकर स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेता है, वह समाज में उन लोगों का प्रतिनिधित्व करता है, जो देश के लिए सत्याग्रह और अहिंसा के माध्यम से संघर्ष करते हुए खुशी-खुशी अपने प्राणों की आहुति भी दे देते हैं क्योंकि वह समझते हैं “यह हमारा धर्मयुद्ध है, हमारी जीत और हमारे त्याग तथा हमारे सत्य हमारे साथ हैं।”²⁰

स्वतन्त्रता-संग्राम में संघर्षरत दूसरा दल क्रान्तिकारियों का था, जिसका प्रतिनिधित्व उस उपन्यास में सलीम करता है जो अन्याय का विरोध हिंसा से करते हैं और हिंसा के समर्थन में उसके विचार हैं- “अगर हम कुछ करते हैं तो हमारे ऊपर गोलियाँ चलती हैं और अगर नहीं बोलते तो तबाह हो जाते हैं। हम जितना ही दबते जाते हैं उतना ही वह शेर होते जाते हैं। मरने वाला बेशक दिलों में रहम पैदा कर सकता है लेकिन मारने वाला खौफ़ पैदा कर सकता है जो रहम से कहीं ज्यादा असर डालने वाली चीज़ है।”²¹ ‘कर्मभूमि’ में राजनीतिक चेतना केवल पुरुषों में ही नहीं, बल्कि स्त्रियों में पुरुषों से भी अधिक दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त इस उपन्यास में निकम्मी शिक्षा-पद्धति, पढ़े-लिखे लोगों का स्वार्थ, अछूतोद्वार, सूदखोरी और चोरी के माल पर चलनेवाले व्यापार, पिता-पुत्र और पति-पत्नी के एक-दूसरे को गुलाम बनाये रखने के सम्बन्ध, घूसखोरी और जमींदारों द्वारा किसानों के शोषण का चित्रण है। “हमारी समाजकाय की यह रीढ़ किस कदर सड़-गल गई है, कितने खोखले और निस्सार भावों से आक्रान्त है, अपनी जर्जर रुढ़ियों तथा मानापमान की वृथा भावनाओं में किस तरह जकड़ी हुई है, यही दर्शाना उपन्यास का लक्ष्य है। मध्यवर्ग की आर्थिक-नैतिक वृत्तियों को लेकर उसमें एक विशद चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसे लेखक की व्यंग्यप्राधान शैली ने और भी सशक्त बना दिया है।²² वैसे तो प्रेमचन्द जी के प्रायः सभी उपन्यासों में शासकों के अत्याचार व धांधलियों को अनावृत किया गया है किन्तु पुलिस की खोखली कार्यवाहियों का वास्तविक चित्रण जैसा ‘गबन’ में हुआ है, वैसा कहीं भी नहीं। इस उपन्यास में मध्यवर्गीय-जीवन के अभावों, विषमताओं व विडम्बनाओं का दयनीय चित्रण है। समाज की खोखली प्रदर्शनप्रियता, आभूषणप्रियता, विधवा की समस्या, संयुक्त परिवार का दुखान्त और पुलिस के अन्याय का विस्तृत वर्णन उसमें हुआ है।”

‘रंगभूमि’ उपन्यास यथार्थवादी शैली में लिखी गई ऐसी कृति है जो तत्कालीन समाज का चित्रण करती हुई, समाज के सभी स्तरों की वास्तविकता को उधेड़कर सामने लाती है। इसमें औद्योगिकरण-साम्राज्यवाद और पूँजीवादी व्यवस्था में पिसती भारतीय जनता, नगरीय एवं ग्रामीण समाज की व्यवस्था का जीवन्त चित्र है। यह राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित उपन्यास है, इसका नायक अन्धा सूरदास ग्रामीण जीवन का प्रतीक और गांधी जी के विचारों का प्रतिनिधि है। उदारता, परोपकार, न्यायनिष्ठा जैसे गुणों के कारण सूरदास का चरित्र अत्यंत सशक्त बन पड़ा है।

प्रेमचन्द जीवन तथा समाज के प्रति गम्भीर आस्था रखने वाले और कृषक समाज का उत्थान करने के आकांक्षी हैं।

उन्होंने कृषिप्रधान देश भारत के आर्थिक ढांचे के मूलाधार किसान की शोचनीय दशा का विराट-चित्र प्रस्तुत किया है। युगों-युगों से पीड़ित किसान की स्थिति में आज भी कोई सुधार नहीं है, आज भी उसकी मेहनत का फायदा दूसरे उठाते हैं, वह ऋण ग्रस्त है। प्रेमचन्द जी के उपन्यास 'गोदान' में भारतीय किसान की दयनीय स्थिति का यथार्थ चित्रण है। यद्यपि 'गोदान' में किसान-जीवन के प्रत्येक पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है, फिर भी इसमें किसान के जीवन की मूल समस्या, ऋण की समस्या केन्द्रीय-बिन्दु है। 'गोदान' का होरी उन किसानों का प्रतिनिधित्व करता है जो दिन-रात मेहनत करने पर भी ऋण मुक्त नहीं हो पाते और एक दिन अपने ही खेत में किसान से मजदूर बन जाते हैं। उनकी अज्ञानता, अनपढ़ता, अन्धविश्वास तथा धर्म की आड़ में जमींदार उनका शोषण किये जाते हैं, क्योंकि यह शोषण के बल पर पलने वाला शोषक वर्ग, ऐसी जोंक के समान है कि जो विभिन्न रूपों में, मरते घुटते किसानों का खून चूसता रहता है, भले ही वे साहूकार, दलाल, सूदखोर, पटवारी, सेठ, करिंदे, पुलिस या पंडित किसी वेश में हो।

प्रेमचन्द के उपन्यास देश की कराहती आत्मा की अभिव्यक्ति है। उन्होंने हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रथम बार सामान्य मानव की प्रतिष्ठा की। उनके साहित्य का मुख्य उद्देश्य है- शोषित-उत्पीड़ित बहुसंख्यक जन का उद्धार। इस उद्धार की परिधि का यदि एक छोर अन्ध-विश्वास, रुढ़ियों व अज्ञानता से मुक्ति है तो दूसरा छोर राजनीतिक, समाजिक व आर्थिक मुक्ति से बन्धा है- "लेखन कार्य को उन्होंने एक गम्भीर मानवीय दायित्व के रूप में स्वीकार किया तथा साहित्य को उन्होंने मनुष्यता से तथा मनुष्य मात्र के प्रति दायित्व से अलग करके कभी नहीं देखा। अपने आस-पास के समाज में उन्हें सब से बड़ी मानवीय समस्या-व्यापक समस्या के रूप में दिखाई दी। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "जिसे अन्याय देखकर क्रोध नहीं आता वह यही नहीं कि कलाकार नहीं है, बल्कि वह मनुष्य भी नहीं।"²³

"हिन्दी उपन्यासकारों में मुंशी प्रेमचन्द सबकी दृष्टि को अनायास ही अपनी ओर आकर्षित कर लेने वाले प्रकाश स्तम्भ के रूप में हमारे सामने आते हैं। अपने चारों ओर के समाज में से विविध कथानकों का चयन करके जिन विविध उपन्यासों की रचना की है वे युगों तक हिन्दी साहित्य की अमर निधि रहेंगे।²⁴ उनका साहित्य दम्भी, कुत्सित, शोषक तथा पतनोन्मुख समाज के लिए भारी चुनौती है, उन्होंने आम-आदमी को केन्द्र में रखकर साहित्य रचना करके न केवल अपने युग के साहित्य को ही दिशा-निर्देशित एवं प्रभावित किया, उनकी अपने समय की सामाजिक वास्तविकताओं को प्रस्तुत करने की मानव प्रतिबद्धता की पद्धति आज के लेखक के लिए भी प्रासंगिक है। निस्संदेह प्रेमचन्द के साहित्य की उपयोगिता एवं महत्व भूत, वर्तमान और भविष्य में भी बनी रहेगी।"

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद-त्रिभुवन सिंह, एम० ए०, पृ० 69
2. प्रेमचन्द एक विवेचन- डा० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 47
3. हिन्दी उपन्यास-सुषमा धवन, पृ० 47
4. कथाकार प्रेमचन्द - डॉ० रामरतन भटनागर, पृ० 166
5. सेवासदन-प्रेमचन्द, पृ 265
6. सेवासदन-प्रेमचन्द, पृ 35
7. प्रेमचन्द-हंसराज रहबर पृ० 232-33
8. निर्मला-प्रेमचन्द, पृ० 29

9. निर्मला-प्रेमचन्द, पृ० 43
10. वरदान-प्रेमचन्द, पृ० 150
11. प्रेमचन्द, डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, पृ० 60-61
12. हिन्दी उपन्यास-महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ० 63
13. कायाकल्प-प्रेमचन्द, पृ० 20
14. समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द-महेन्द्र भटनागर, पृ० 32
15. हिन्दी उपन्यास; एक सर्वेक्षण-महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ० 76
16. कायाकल्प-प्रेमचन्द, पृ० 24
17. प्रेमचन्द-डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, पृ० 60-61
18. कायाकल्प-प्रेमचन्द, पृ० 24
19. हिन्दी उपन्यास: एक सर्वेक्षण, महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ० 76
20. कर्मभूमि-प्रेमचन्द, पृ० 318
21. कर्मभूमि-प्रेमचन्द, पृ० 254
22. हिन्दी उपन्यास-महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ० 63
23. प्रेमचन्द: हमारे समकालीन, संपा-रमेशकुंतल मेघ, उप-संपादक-ओमप्रकाश अवस्थी, पृ० 03
24. गबन-समीक्षा (प्रथम संस्करण) प्रस्तावना-रमेशचन्द्र गुप्त।



नाट्य की अवधारणा-कुछ विचार कुछ व्याख्याएं

-डॉ. रूपिका भनोट

साहित्य हमारे मनोभावों की संस्कारित अभिव्यक्ति है। विश्व का कोई भी साहित्य, वहाँ के सामाजिकों, लोक के सामूहिक मत का महाकोष है जिसमें अनन्त-अनन्त भावों के राशि-रत्न सन्निहित हैं। अभिव्यक्ति के स्तर पर कविता यदि विश्व की प्रथम साहित्यिक विधा है तो नाटक व्यवहार के स्तर पर पहली कार्य व्यापार शैली। एक सम्पूर्ण नाटक, साहित्य की समस्त शैलियों को समाहित करता हुआ लोक के समूचे चरित्र का जीवंत दस्तावेज होता है। नाटक, भावों और कार्यों का समेकित प्रतिफलन है। नाटक को लोकवृत्तानुकरण कहा गया है। लोक की मानसिकता, उसके व्यवहार के क्षेत्र, उसकी प्राथमिकताएँ एवं उसकी आवश्यकताएँ समय के साथ-साथ बदलती हैं। नाटक इन्हीं बदलती हुई, विकसित होती स्थितियों/परिस्थितियों का आकलन कर उन्हें लोक को लौटाता है।

नाटक में दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के काव्य का समावेश है, अपने चाक्षुष प्रभाव के कारण नाटक साहित्य में सर्वश्रेष्ठ विधा है। भरतमुनि ने नाटक के दो उद्देश्य माने हैं-

- (1) हितोपदेश
- (2) मनोविनोद ।

इस दृष्टि से भी नाटक एक प्रभावशाली प्रचार और विचार माध्यम है। भारत में नाटक और नाट्यशास्त्र की परम्परा पर्याप्त प्राचीन है। मानव के विकास के साथ-साथ विभिन्न नाट्यरूपों का विकास भी होता रहा है तथा लोकरुचि के निर्माण में नाटक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। वैज्ञानिक प्रगति और औद्योगीकरण के साथ ज्यों ही रेडियो, सिनेमा तथा टी.वी जैसे माध्यमों का विकास हुआ तो लोगों का ध्यान नाटक से टूटने लगा। एक ऐसा अन्तराल भी आया जब नाटक मात्र पढ़ने की चीज ही रह गई। किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर काल में इस सशक्त विधा तथा माध्यम की ओर नाटककारों और रंगकर्मियों का ध्यान पुनः गया तथा लेखन एवं मंचन दोनों दृष्टियों से हिन्दी नाटक के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य हुआ। पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप नए नाटकों का लेखन हुआ और साथ ही लोक जीवन से सम्बन्धित भारतीय लोकनाट्यों का नया प्रयोग हिन्दी नाटकों को समृद्ध करने लगा। टी.वी. और सिनेमा के विस्फोटक प्रभाव के कारण भी इस विधा में निरन्तर प्रतिकामी शक्तियाँ अपने संघर्ष में सक्रिय रहते हुए नए-नए शिल्प गढ़ रही हैं तथा नाटक के स्वरूप तथा विधा की लोकप्रियता को बरकरार रखते हुए आगे बढ़ रही हैं।

लोक पर अपने प्रभाव की व्यापकता तथा समय एवं परिस्थिति अनुसार निरन्तर प्रयोगशीलता के कारण नाटक एक ऐसी विधा है जिसकी परिभाषा और स्वरूप को समझने के प्रयास निरन्तर किए जाते रहे। कभी नृत्य, कभी रूपक और कभी रंगमंच के साथ जोड़कर नाट्य की अवधारणा चिन्तकों एवं आलोचकों के लिए चिन्तन का विषय रही है। अतः यहाँ विवेच्य संदर्भ में नाट्य की अवधारणा तथा स्वरूप को स्पष्ट करने हेतु हम विभिन्न आचार्यों अथवा मनीषियों के द्वारा इस सम्बन्ध में दिए गए मतों का परिचय प्राप्त करेंगे।

भरतमुनि का 'नाट्य शास्त्र' भारतीयों और पाश्चात्य नाट्य चिन्तकों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्राचीनतम ग्रंथ है। नाटक, रंगमंच और रंगशाला के सम्बन्ध में जितनी विस्तृत एवम् विशद् व्याख्या इस ग्रंथ में उपलब्ध है उतनी दुनिया के किसी अन्य साहित्य और किसी भी प्राचीन ग्रंथ में उपलब्ध नहीं है। आदि आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के छत्तीस अध्यायों में नाट्य सम्बन्धी विषयों-नाटक, वेशभूषा, अगंरचना, आदि की विवेचना की है बल्कि यह भी बताया है कि रंगशाला और प्रेक्षक अर्थात् सहृदय कैसा होना चाहिए ।

भरतमुनि ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में 'नाट्य' की उत्पत्ति का विवरण देते हुए बताया है कि ब्रह्मा जी ने इन्द्रादि देवताओं के आग्रह 'क्रीडनीयक मिच्छामों दृश्या श्रव्यं व यद्भवित' (हम कोई ऐसा खेल चाहते हैं जो सुना भी जा सके और देखा भी जा सके) पर ऋग्वेद से पाठ्यअंश, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से शृंगार आदि रस लेकर नाट्यवेद की रचना की जिसमें सभी वेद और उपवेदों के सुन्दर तत्व शामिल हैं और जिसका आनन्द समाज के सभी वर्गों के लोग ले सकते हैं।³

नाट्य की दैवी उत्पत्ति का संकेत करते हुए जयश्री सिन्हा लिखते हैं कि, "नाट्यवेद ब्रह्मदेव द्वारा रचित है। नाट्यवेद के अनुसार आरंभ में नाट्य की कथावस्तु में ऐसे प्रसंगों का उल्लेख था जिसमें दैत्यों और देवों में संघर्ष तथा अन्त में दैत्यों की पराजय दिखलाई जाती थी। अपने वर्ग की पराजय का इस प्रकार उल्लेख दैत्यों के लिए असह्य था और इसी कारण वे नाट्य प्रदर्शन के अवसर पर तरह-तरह के विघ्न डालकर आयोजन को विफल बनाने का प्रयास करते थे। नाट्य प्रदर्शन निर्विघ्न संभव हो सके। इस उद्देश्य से जहां नांदी पाठ, देवपूजन एवं स्तुति तथा भरतवाक्य आदि धार्मिक नियमन का नाट्य में समावेश किया गया वहीं दूसरी ओर विश्वकर्मा का आह्वान कर उनसे ऐसे सुदृढ़ नाट्यघरों के निर्माण की ओर आग्रह किया दिखाया गया है जहाँ दैत्यों के सभी विघ्नकारी प्रयास विफल हो जाए।"⁴

नाट्य की दैवी उत्पत्ति विषयक वक्तव्यों से नाट्य की अवधारणा के सम्बन्ध में एक भाव तो मिलता है परन्तु 'नाट्य' शब्द की परिभाषा तथा उसका व्यापक अर्थ संकेतक नहीं होता।

'हिन्दी साहित्य कोश' में नाट्य, रूपक, नृत्य पर व्यापक रूप से विचार हुआ है। 'हिन्दी साहित्य कोश' के अनुसार पाणिनी नाट्य की उत्पत्ति 'नट्' धातु से मानते हैं। मोनियर और विलियम्स का मत है कि 'नट्' धातु 'नृत' धातु का प्राकृत रूप है। लेकिन सीताराम 'श्याम' का मानना है कि नाटक का विकास 'नृत्य' अथवा 'नृत' से हुआ है।⁵ इसी सन्दर्भ में संस्कृत के नाट्यालोचक डॉ.रामलखन शुक्ला का कथन है, कि "नाट्य शब्द 'नट्' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है- दृश्य रूप में प्रस्तुत करना नाट्य, नाटक या रूपक का प्रारम्भिक रूप है) 'दशरूपक' से पहले नाट्य के लिए संभवतः रूपक शब्द का प्रयोग नहीं होता था। भरतमुनि ने दशरूपक शब्द का प्रयोग किया है लेकिन वहां रूप नाट्य का समानार्थी है न कि रूपक का। धनंजय की कृति दशरूपक से पहले जितनी नाट्य कृतियां उपलब्ध होती हैं उनमें 'रूपक' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। 'हिन्दी साहित्य कोश' नाटक और रूपक दोनों शब्दों को पर्यायवाची मानते हुए भी उनमें सूक्ष्म भेद को रेखांकित करता है। नाट्य में अवस्थाओं की अनुकृति को प्रधानता दी जाती है, किन्तु 'रूपक' में अवस्था की अनुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप भी आवश्यक है अर्थात् अवस्था की अनुकृति और रूपकृति का मिश्रित रूप 'रूपक' कह जाने का अधिकारी बनता है। नाट्य प्रारम्भिक अवस्था में अभिनय रूप था और रूप या रूपक किसी की वेशभूषा चेष्टा आदि के आरोप का द्योतक था किन्तु कालान्तर में रूप या रूपक ने नाट्य का स्थान ग्रहण कर लिया और नाटक या नाट्य रूपक का एक प्रकार बनकर रह गया।

हिन्दी विश्व कोश में 'नाट्य और नृत' दृश्य काव्य में दो भेद बताए गए हैं। नट नटी द्वारा किसी अवस्था विशेष की अनुकृति नाट्य है-नाट्यते अभिनयेत्वेन रूप्यते-इतिनाट्य। नाट्य के चार प्रमुख अंग हैं-

1. आंगिक
2. वाचिक
3. आहार्य
4. साहित्य।

नाट्य की दैवी उत्पत्ति का संकेत 'हिन्दी विश्व कोश' में भी है।

डॉ. त्रिभुवन राय ने 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट' धातु से स्वीकार की है। 'नाट्य' की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं, "नाटक को हमारे यहाँ नाट्य और 'रूपक' भी कहा गया है। नृत और अभिनय के द्योतक 'नट' धातु से व्युत्पन्न 'नाट्य' पद व्यक्ति उसके स्वभाव और उसकी विविध भावनाओं के अभिनयात्मक अनुकरण को एवं अनुकरणात्मक प्रदर्शन का बोध मानता है। रूपगत या आरोपण पौराणिक एवं प्रख्यात वृत्त व पात्रों के स्तर पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।"

पश्चिम में 'नाट्य' के लिए 'थियेटर' शब्द नाट्यकृति का नहीं अपितु समस्त नाटकीय व्यापार का सूचक है। 'थियेटर' शब्द रंगमंच के स्थूल और सूक्ष्म दोनों अंगों को अभिव्यक्त करता है। जिसके अन्तर्गत वेशभूषा, दृश्य सज्जा, प्रकाश व्यवस्था, मुद्राएँ, मूक नाट्य, गतियाँ, संगीत, संवाद, चरित्र और कथातत्व-सभी कुछ सम्मिलित होता है। 'नाट्य' और 'थियेटर' शब्द की व्यापकता को रेखांकित करते हुए नाट्य लेखक डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने लिखा है, कि "भरतमुनि नाट्यशास्त्र में 'नाट्य' शब्द का प्रयोग और व्यवहार बहुत ही व्यापक अर्थ में हुआ है, जिसकी अपनी मर्यादा और विशेष गौरव है। यहाँ 'नाट्य' से तात्पर्य केवल 'नाटक' अथवा 'रंग' से नहीं है, बल्कि इसके अन्तर्गत नाटक (कृति) रंग, वस्तु, अभिनय, रस, छन्द, नृत्य, संगीत, अलंकार, वेशभूषा, रंग शिल्प, उपस्थापन, पात्र और दर्शक-समाज सब हैं- और इन सबका शास्त्र 'नाट्यशास्त्र' है। पाश्चात्य नाट्य साहित्य में थियेटर शब्द का व्यवहार और अर्थ गौरव भी इस 'नाट्य' के अनुरूप है। वहाँ थियेटर के अन्तर्गत नाट्य साहित्य प्रस्तुतिकरण, अभिनय, उपस्थापन, रंग-शिल्प, रंगभवन, रंगशाला और नाट्यलोचन और इस सबका शास्त्र समाहित है।"⁸

इन समस्त परिभाषाओं और व्याख्याओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि नाटक जब तक लिखित, पठित या श्रव्य रूप में रहता है तब तक वह श्रव्य काव्य की एक विधा के रूप में माना जा सकता है, परन्तु जब इसे रंगमंच पर रूपांतरित किया जाता है तो वह 'नाट्य' में परिणित हो जाता है। इसलिए 'नाट्य' में कृति के साथ-साथ अभिनय, दृश्यविधान, पात्रों की भंगिमाएँ, रंगसज्जा, रंगशाला सभी कुछ समाहित होता है। निस्संदेह नाट्य शब्द का अर्थबोध भरत के नाट्यशास्त्र से ही प्रेरित है। 'नाट्यशास्त्र' के परिप्रेक्ष्य से देखें तो नाट्य वस्तुतः एक प्रयोग है और इसका विज्ञान भी। इसके दो अविभाज्य अंग हैं- एक सैद्धांतिक चिन्तन का और दूसरा रंगमंचीय प्रयोग का।

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. प्रो. ओम प्रकाश सारस्वत. भूमिका, हिन्दी नाट्य शिल्प: बदलती रंगदृष्टि, पीयूष प्रकाशन, दिल्ली, प्र. संस्करण-2005
2. डॉ. देवेन्द्रकुमार गुप्ता, प्रस्तावना, हिन्दी नाट्यशिल्प: बदलती रंगदृष्टि।

3. डॉ. शिवराम माली, डॉ. सुधाकर गोकाकर, नाटक और रंगमंच, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1999.
4. जयश्री सिन्हा, संस्कृत नाटिका विमर्श, कैपिटल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली-1986.
5. डॉ. सीताराम श्याम, नाटक और रंगमंच, बिहार शब्द सभा परिषद, पटना-2003
6. डॉ. त्रिभुवन राय, नाटककार और नाट्य समीक्षा, संकल्प प्रकाशन, बंबई-82,1987.
7. डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल, रंगमंच और नाटक की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली-1965.
8. गिरीश रस्तोगी: बीसवीं शताब्दी का हिन्दी नाटक और रंगमंच, प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण-2004.
9. धीरेन्द्र कुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश भाग-1 परिभाषित शब्दावली, ज्ञान मण्डल लि. वाराणसी, द्वितीय संस्करण
10. सुरेन्द्रनाथ शास्त्री, हिन्दी विश्वकोश, भाग-6, नागरी प्रचारिणी सभा सं. 2023.



धर्मवीर भारती और उनकी कनुप्रिया

-डॉ० अनुशोभा

साहित्य मानव संस्कृति का अविभाज्य अंग है। यही कारण है कि हर युग के महान साहित्य में तत्कालीन संस्कृति की झलक विद्यमान रहती है। धर्मवीर भारती का आधुनिक साहित्यकारों में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भारत में ही नहीं भारत के बाहर भी भारती की रचनाएँ अपनी पहचान बनाये हुए हैं। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं साहित्य जीवन के विविध क्षेत्रों में फैली हुई असंगति, अन्याय, अनाचार, विडम्बना, छल प्रपंच, भ्रष्टाचार इत्यादि अनेक अनुभूतियों को युग की धड़कती साँसों पर नये अंदाज से धारदार शब्दों में अभिव्यक्त करने के लिए भारती कर्तव्यबद्ध रहे हैं। जिन्दगी की बदसूरती और युग की विसंगतियों के बावजूद भारती में थकान नहीं बल्कि मटियामेट हुए मानव मूल्यों को पुनः स्थापित करने का सपना था। इस सपने के कारण ही उनकी कलम युग के समूचे माहौल की सच्चाइयों का दस्तावेज लिखने में समर्थ रही है।

“किसी भी युग का प्रतिभाशाली कलाकार अपने युग की ज्वलंत समस्याओं की उपेक्षा कर ही नहीं सकता। महान काव्य की अनुभूति के डोरे कलाकार और साधारण मानव के प्राणों को कभी-भी विच्छिन्न नहीं होने देते। किन्तु एक महान कलाकार में जीवन की गहनतम वेदना, उसके ऊपर उठने की प्रयास और चारों ओर छाये हुए धुंधलके को चीर कर एक सशक्त जीवन दर्शन की मशाल लेकर आगे बढ़ने का साहस होता है।”
-(धर्मवीर भारती)

मिथकीय धरातल पर आधारित भारती की प्रबंधात्मक रचनाओं में ‘अन्धायुग’ के पश्चात् सन् 1959 में प्रकाशित ‘कनुप्रिया’ की उपलब्धि भी हिन्दी साहित्य रंगत में मूल्यवान साबित हुई है। आज के युद्धजनित वातावरण की विभीषिका में प्रेम की उपयोगिता एवं क्षण का महत्व प्रतिपादित करती हुई ‘कनुप्रिया’ हमें महान बन के जीवन जीने की प्रेरणा देती है। युद्ध से बाह्य परिवेश ही प्रभावित नहीं होता, व्यक्ति का आंतरिक परिवेश भी चकनाचूर हो जाता है। आपसी संबंध, प्रेम, सहानुभूति, मानवता सभी पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। इन्हीं समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती है ‘कनुप्रिया’। क्षण की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए भारती ने ‘कनुप्रिया’ की प्रणय संवेदना के माध्यम से जीवन को समझने का प्रयास किया है।

‘कनुप्रिया’ प्रेम और समर्पण के कैनवस पर चित्रित एक प्रणय कथा है। प्रेम एक गहन अनुभूति है। राग की गहनता में हल्का सा व्याघात भी इसे खंडित कर देता है, अधूरी बना देता है। कनु के महान् बनने में राधा का सब कुछ होम हो जाता है। कनु को ऊचाई की लहरों पर पहुँचाने के लिए राधा हेतु तक बनती है जिस पर पैर रखकर कृष्ण ‘इतिहास निर्माता’, ‘युग स्रष्टा’ बनते हैं, पर सर्वांग समर्पण के बाद भी राधा कनु द्वारा भुला दी जाती है। सारे महाभारत में राधा को अपने व्यक्तित्व की कोई सार्थकता नहीं दिखाई देती। उसे बार-बार यह बोध होता है कि वह समूचे इतिहास की प्रतिक्रिया से पृथक् हो गयी है। वह कृष्ण के सामने अपनी आंतरिक व्यथा प्रकट भी करती है-

सखी को तुमने बांहों में गूँथा पर उसे इतिहास में गूँथने से हिचक क्यों गये प्रभु ?

व्यक्ति की उपेक्षा करके दायित्व का बोध नहीं पनप सकता। दायित्व बोध से सम्पन्न व्यक्तियों से मिलकर ही

समाज बनता है, सार्थक इतिहास अस्तित्व में आता है। 'कनुप्रिया' पाकर खो देने की व्यथा भरी गूँज से गुंजित प्रेम की कहानी है। 'कनुप्रिया' में हम दो केन्द्र-बिन्दुओं को पाते हैं- क्षण और सहज। 'कनुप्रिया' कृष्ण की प्रिया है। वह कैशोर्य-सुलभ मनः स्थितियों में जीती है। इसी से वह विवेक से अधिक तन्मयता, ऐतिहासिक उपलब्धियों से अधिक सहज जीवन में सार्थकता के बिन्दुओं को तलाशती दिखाई देती है। उसे जिस 'चरम तन्मयता के क्षण' की तलाश है, उसमें समस्त बाह्य अतीत, वर्तमान और भविष्य सिमटकर पुंजीभूत हो गया है। प्रथम भाग के तीन चरण हैं-पूर्वराग, मंजरी-परिणय और दृष्टि-संकल्प। इनमें सहज जीवन भावाकुल तन्मयता के साथ जीया गया है। राधा पूरी ईमानदारी के साथ यह जीवन जीती है और अपनी कैशोर्य-सुलभ भावनाओं को एक मुग्धा की भाँति निवेदित करती चलती है। दूसरे खण्ड में 'इतिहास' और 'समापन' नामक चरण आते हैं। इनमें महाभारत काल के जीवन के अन्त तक शासक, कूटनीतिज्ञ, व्याख्याकार, कृष्ण के इतिहास निर्माण को 'कनुप्रिया' की दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया है। इन चरणों में 'कनुप्रिया' अपने द्वारा किये गये अब तक के भावाकुल एवं सहजजीवन के प्रति पूरी तरह संगति नहीं बिठा पाती है। उसे लगता है कि कहीं कुछ ऐसा है जो पहले पर प्रश्न लगा देता है अथवा सप्रश्न परिस्थितियों को सहज स्थितियों की ओर ले जाना चाहता है।

कनुप्रिया भी इसी भूमिका पर खड़ी है। एक ओर तो यहां राधा की भावाकुल तन्मयता है और दूसरी ओर अनजाने में ही उसके द्वारा उठाए गए प्रश्न हैं - वस्तुतः राधा ने भावाकुल जीवन जिया है तो उसके व्यक्तित्व के अनुरूप भी है, किन्तु उनकी प्रणय-भावना को भारती ने एक वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान की है। यों राधा ने अपने सहज मन से जीवन जिया है, तन्मयता के क्षणों में डूबकर सार्थकता पाई है। और वह उद्घोषित महानताओं से अभिभूत व आतंकित नहीं है। वह तो इसके लिए आग्रहवती है कि उसी सहज कसौटी पर समस्त को कसेगी। प्रश्नों की यह मनोभूमि इस कृति को जो सहज वैचारिकता प्रदान करती है, वह अकारण नहीं है। इसके पीछे एक अनिवार्य तथ्य काम करता दिखाई देता है जो जीवन के बदलते मानदण्डों से प्रेरित है।

इस प्रकार कनुप्रिया के माध्यम से भारती जी की चिंतनशीलता एवं जीवन-दर्शन मुखर होता है। यह चिन्तन कनुप्रिया के रूप में आधुनिक स्वावलंबी नारी के व्यक्तित्व को उभारता है जो पुरुष के प्रति समर्पणशील होते हुए भी उसके अहंग्रस्त स्वार्थी, युद्धोन्मादी व्यक्तित्व के प्रति शंकालु है। वे राधा को परम्परा के अलग रूप एवं व्यक्तित्व भी इसीलिए दे सके हैं कि संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य के विभिन्न वादों के माध्यम अवतरित राधा का तथा आधुनिक अस्तित्ववाद का वे सहज सामंजस्य कर सके हैं। भारती की कनुप्रिया में अस्तित्वबोध के भाव के प्रधान होते हुए भी पूर्ववर्ती कृष्ण काव्य की राधाओं का समन्वय मिलता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. डॉ० हरिचरण शर्मा, धर्मवीर भारती का काव्य : सृष्टि और दृष्टि, मलिक एण्ड कम्पनी जयपुर, 2007
2. डॉ० पुष्पा वास्कर, धर्मवीर भारती व्यक्ति और साहित्यकार, अलका प्रकाशन, कानपुर, 1987
3. डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे, धर्मवीर भारती का साहित्य सृजन के विविध रंग : पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1979
4. डॉ० हुकुमचन्द्र राजपाल, धर्मवीर भारती : साहित्य के विविध आमाम, विभू प्रकाशन साहिबाबाद, 1980
5. डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम, धर्मवीर भारती : अनुभव और अभिव्यक्ति, भारत पुस्तक भण्डार, दिल्ली, 1999
6. डॉ० पूनम सिंह, धर्मवीर भारती की काव्य-चेतना, समीक्षा प्रकाशन, दिल्ली, 2006
7. डॉ० सरिता शुक्ला, धर्मवीर भारती : युगचेतना और अभिव्यक्ति, चिन्तन प्रकाशन, कानपुर, 2004.



समकालीन कविता और बाज़ारवाद

-डॉ. गोपीराम शर्मा

बीसवीं शताब्दी का एक महत्वपूर्ण विचार है- भूमंडलीकरण। विश्व के संसाधनों से किसी एक देश को नहीं, सभी देशों को लाभ हो। आर्थिक उदारीकरण हो। विकसित देशों द्वारा कमाया गया पैसा गरीब देशों के कल्याण में लगे। दुनिया में एक दूसरे से सीधा सम्पर्क हो सके। इस विचार के पीछे विकसित देशों और खासकर अमेरिका की सोच थी कि दूसरे देशों में अपना बाज़ार खोजा जा सके। दूसरे देशों के प्राकृतिक संसाधनों एवं बाज़ार पर कब्जा जमाया जा सके। इसके लिए भूमंडलीकरण का नारा दिया गया। “उपनिवेश समाप्त होने के बाद पूंजीवादी देशों के लिए यह संभव हो गया कि वे दूसरे देशों में जाकर अपने उपनिवेश कायम किए बिना ही अपने साम्राज्य का विस्तार कर सकें। इस अवस्था का नाम ही भूमंडलीकरण है।”¹ भूमंडलीकरण के कारण विश्व में तीव्र परिवर्तन आये। कम्प्यूटर, इन्टरनेट, ई-मेल आदि माध्यमों से सूचना एवं प्रौद्योगिकी में क्रांति आई। पूरा विश्व एक ‘ग्राम’ में बदलकर रह गया। दुनिया एक ‘बड़ा बाज़ार’ के रूप में सामने आई। नये उत्पादों, सुख के साजो-समान से लैस होकर, लुभावने ब्रांडों को पेशकर, विज्ञापन और चमक की दुनिया खड़ी कर बाज़ार विश्व धरातल पर उतरा। धीरे-धीरे अपना प्रभुत्व कायम करते हुए व्यक्ति के मन और विचार तक पहुँच गया। देखते-देखते लोग बाज़ार से प्रभावित होने लगे। बाज़ार ने घोषणा की कि जो बिक नहीं सकता, वह चल नहीं सकता। यही बाज़ारवाद है। ‘बाज़ार’ के साथ जब ‘वाद’ प्रत्यय जुड़ता है तो यह एक दार्शनिक संज्ञा बनती है। जिसका अर्थ हुआ कि समकालीन समय में व्यक्ति व वस्तु को अपनी उपादेयता सिद्ध करनी होगी। उसका आर्थिक दृष्टि से महत्त्व होना वांछित है।

सामान्यतः 1960 ई. के बाद की कविताएँ समकालीन कविता हैं। सन् 1960 के बाद जनता का उन सपनों के प्रति मोह भंग होने लगा, जो आज़ादी के समय दिखाए गए थे। उद्योगीकरण के तहत अनेक सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ सामने आईं। महंगाई-बेरोज़गारी ने आम जीवन को कष्टमय बना दिया। व्यवस्था ने मनुष्य के जीवन को कुंठा, हताशा, विवशता, प्रताड़ना और दयनीयता से भर दिया। अतः इस काल के कवि ने अपनी कविताओं के माध्यम से समूचे परिवेश और जन मानस को अभिव्यक्त किया- “आज की कविता में अलग से कोई आन्दोलन नहीं है, बल्कि वह देश में विभिन्न स्तरों पर जारी शोषण, अत्याचार, बर्बरता और जनसाधारण के विरुद्ध किए जा रहे षड्यंत्रों के प्रतिरोध में जारी एक व्यापक आन्दोलन का हिस्सा है।”² जन साधारण, सामान्य मनुष्य व पीड़ित मनुष्य की अनुभूतियों और प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करती हुई समकालीन कविता आगे बढ़ रही है। इस कविता को रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, कुंवर नारायण, रामदरश मिश्र, लक्ष्मीकांत वर्मा, मणिमधुकर और श्रीकांत वर्मा जैसे हस्ताक्षरों ने दिशा दी और अब धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकांत देवताले, वेणु गोपाल, सोमदत्त, बलदेव बंशी, प्रयाग शुक्ल, सौमित्र मोहन, मलयज नीलाभ, देवेन्द्र कुमार, राजेश जोशी, अरूण कमल, उदयप्रकाश, मंगलेश डबराल, मनोज सोनकर, असद जैदी, विष्णु खरे, ज्ञानेन्द्र पति आदि नये कवि आम आदमी एवं समाज की पीड़ा को बड़ी गहराई से अभिव्यक्त कर रहे हैं।

बाज़ार सदा बुरा नहीं है। प्राचीन सभ्यताओं में भी बाज़ार अवस्थित था। ‘बाज़ार दर्शन’ निबंध में जैनेन्द्र कुमार लिखते हैं — “बाज़ार की असली कृतार्थता है आवश्यकता के समय काम आना।” पर जब बाज़ार की जादुई ताकत व्यक्ति को गुलाम बनाने लगती है तो डर उत्पन्न होता है। हम ज़रूरत के बिना बाज़ार की चमक-दमक में फंस जाएं तो वह असंतोष, तृष्णा और ईर्ष्या से घायल कर हमें बेकार बना सकता है। अतः समकालीन कवि इस बेहया बाज़ार के प्रभावों को अपनी कविता में व्यक्त कर रहा है—

“कलम छोड़ दो मेज पर, कागज़ रख दो द्वार,
सारी दुनिया जा रही, कवि जी चलो बाज़ार।”³

बाज़ारवाद अवचेतन मन पर ऐसा प्रभाव डालता है कि हम तय ही नहीं कर पाते कि बाज़ार के बारे में हम सोच रहे हैं या बाज़ार हमें सोचने के लिए विवश कर रहा है। बाज़ार के रंग, सजावट, ऑफर व्यक्ति को खींचते हैं —

“यही तो है वर्तमान/ खाली है जेब और ललचा रहे हैं/ सड़क के दोनों तरफ के जगमगते शो रूम/ विज्ञापनों में उछल रहे उत्पाद/ बच्चों के सपनों में समाते जा रहे हैं/ गृहणियों की आँखों में बसते जा रहे हैं।”

बाज़ार अपने सामान से पैसा बनाता है और पैसे से सामान। लाभ कमाने के लिए बाज़ार मनुष्य को अपनी ओर खींचने लगा है। मनुष्य भी मायाजाल में ऐसा भर्माया है कि वह बाज़ार से खुश दिखता है —

“स्वर्ग में बाज़ार नहीं है, भूमंडलीकरण नहीं है/ नहीं है मैंने कहा न स्वर्ग में कुछ नहीं है/ मैं नरक जा सकता हूँ/ यहाँ उम्मीद तो रहती है/ कि कुछ हो सकता है।”⁴

बाज़ार ने मनुष्य की पीड़ा, श्रम, बुद्धि, कार्यक्षमता का भी भाव लगाना शुरू कर दिया। बाज़ार अनार्थिक वस्तुओं को आर्थिक बना रहा है। अर्थ का मूल्य बढ़ा रहा है। मूल्यवान को लुभावनी बना रहा है। जो मूलतः वस्तु ही नहीं है, उसे वस्तु में बदलने को अमादा है —

“एक सुबह उठा और पाया/ सारी दुनिया बन चुकी है बाज़ार/ सब बाज़ार की भाषा बोल रहे हैं। केवल क्रेता-विक्रेता बचे हुए हैं/ लोग मेरे साथ हम तरह का/ बताव कर रहे हैं जैसे मैं कोई वस्तु हूँ।”⁵

आदमी वस्तु बन गया है यह एक भयानक त्रासदी है। बाज़ारवाद और उत्तर आधुनिकता के फलस्वरूप नारी अस्मिता की आवाज़ उठाने लगी। उत्तर आधुनिकता ने परिधि पर स्थित वर्गों को केन्द्र की ओर लाने का स्तुत्य प्रयास किया पर जो नारी रूढ़ियों, परम्पराओं और सामाजिक बंधनों से स्वतंत्र हुई उसे स्वतंत्रता और प्रगति का लोभ दिखाकर बाज़ारवाद अपनी गिरफ्त में कर लेना चाहता है। यह ‘स्त्री-विमर्श’ की आड़ में ‘स्त्री वस्तुकरण’ चल पड़ा है—

“लड़की, तेरे बाल मुलायम हैं/ और मुलायम बना/ लड़की तेरी त्वचा कोमल है/ और कोमल बना/ लड़की, तू सुन्दर दिख/ नित नई चीजें बनाई जा रही हैं तेरे लिए/ तेरे लिए ही तो दुनिया सजाई जा रही है/ तू है कि रोये जा रही है।”⁶

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने स्त्री की गोपनीयता को उघाड़ कर उसे बेपर्दा कर दिया है। स्त्री की यह नई छवि ‘पैसा’ पैदा करने के उद्देश्य से बाज़ार ने बनाई है। इस छवि को विज्ञापन के रूप में आगे रखकर कम्पनियों के प्रॉडक्ट, यहां तक कि पुरुषोचित सामान रेज़र, ब्रश, ब्लेड, आप्टर शेव लोशन, पुरुष अधोवस्त्र, मोटर साइकिल आदि भी बेचे जा रहे हैं।

आजादी के नाम पर बाजार स्त्री को बेपर्दा और नग्न करता हुआ चलायमान है —

“मेरी प्रजाति की नग्नता को परिधान में बदलते हुए/ आए दिन एक न एक विज्ञापन लटक जाता है शहर में/
उघाड़ी लड़की के हाथ पर तौलिया/ पीछे अविश्वसनीय नहानघर/ बगल में खड़ा है पाउडर का पुल्लिंग डिब्बा/
यह दृश्य एक साथ/ दो-तीन प्रकार की गालियों जैसा उत्तजेक है।”⁷

बाजार ने स्त्री को- पुरुष को, सपनों को-यथार्थ को, धर्म को-पदार्थ को, सजीव को-निर्जीव को, हीरे को-पत्थर को सजाकर पेश कर दिया है। हरेक पर एक लेबल लगा है। ‘क्या नहीं बिकता है’ कविता में आशा गुप्ता कहती है —

“वीर्य बिकता है, कोख बिकती है, भ्रूण बिकता है। नवजात बिकता है/ किडनी बिकती है, रक्त बिकता है/
लाश बिकती है, जिंदा आदमी बिकता है/ ज्ञान बिकता है, हास्य बिकता है/ धर्म बिकता है, रहस्य बिकता है/
गरीब का मार्क्सवाद/अचेतन वस्तु और चेतन मनुष्य बिकता है।”

बाजारवाद का ही परिणाम है कि नैतिक मानदंड बदल गए हैं। संवेदनाएं आहत हो रही हैं। व्यक्ति बाजार के हाथों चलयायमान होकर अपने पद, पैसे, रुतबे, यश के लिए दौड़ रहा है। हमारे रिश्ते, नाते, सम्बंध बदल गए हैं। पैसे से ही सम्बन्ध निर्धारित हो रहे हैं। यह मूल्यहीनता केवल मनुष्य के लिए खतरनाक नहीं, राष्ट्र की अस्मिता के लिए विचारणीय है —

“विक्षिप्त विजयोल्लास में डिंडोरचियों का महादल गा रहा है/ हर चीज का अंत करता सदी का अंत आ रहा है/
चूहा चीते से पंजा लड़ा रहा है/ ऐसा होता तो नहीं है पर हो रहा है/ देश अपनी अस्मिता खो रहा है।”⁸

अस्मिता खोता देश अपने वस्तु बने ‘जन’ को कैसे एक रख पायेगा। राष्ट्रीय एकता पर प्रश्न चिह्न लग जाएंगे। जब व्यक्ति अन्तः शून्य हो जाएगा तो समाज चल नहीं पायेगा। मुक्तिबोध ने यह बहुत पहले ही चेताया था—

“कविता में कहने की आदत नहीं पर कह दूँ/ वर्तमान समाज चल नहीं सकता/ पूंजीवाद से जुड़ा हृदय बदल नहीं सकता।”⁹

समकालीन कवि बाजार, बाजारवाद, पूंजीवाद, भूमंडलीकरण के दुष्प्रभावों को अपनी कविता में चित्रित कर रहा है। बाजार का कटु, नग्न, यथार्थवादी रूप पाठक को दिखा रहा है। मरते सपनों, रिश्तों, भावों, संवेदनाओं को फिर प्राणवायु से सींच रहा है। समकालीन कवि अपनी कविता से इस निर्मम बाजार से टक्कर लेने लगा है —

“अब यह कैसे बताऊँ/ लेकिन छिपाऊँ भी तो क्यों/ कविता और बाजार की एक हल्की सी भी टक्कर/
रोमांचित करती है मुझे।”¹⁰

आज कवि प्रकृति, गांव, सम्बंधों, मूल्यों की बात कर फिर से संवेदनशील मनुष्य की तलाश कर रहा है। ऐसा मनुष्य जो अपनी चेतना से चलायमान हो, बाजार की मर्जी से नहीं। स्पष्ट है समकालीन कविता में बाजार और बाजारवाद की चिंता है और उसे छोड़ने का आग्रह भी —

“आइए, व्यापार से हटकर बातें करें/ शब्द के बाजार से हटकर ज़रा बातें करें/ उम्र को बनने न दें केवल
तिजारत की बही/ ‘दो गुने दो चार’ से हटकर बातें करें।”

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. मैनेजर पांडेय— भाषा और भूमंडलीकरण, शब्द संधान, दिल्ली, 2008 ई., पृष्ठ- 9,10
2. मुदुल जोशी - समकालीन हिन्दी कविता में आम आदमी, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2001, पृष्ठ - 7
3. केदारनाथ सिंह - तालस्ताय और साइकिल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005 ई.
4. विष्णु नागर - स्वर्ग में कुछ भी नहीं है, वाक्-2, पृष्ठ - 180
5. स्वप्निल श्रीवास्तव-पल-प्रतिपल, अंक 42, पृष्ठ-169
6. निर्मला गर्ग- तू रोये जा रही है
7. लीलाधर जगूड़ी- कर्ज के बाद नौद, साक्षात्कार, जुलाई 2004, पृष्ठ-22
8. राजेश जोशी- कर्ज के बाद नौद, साक्षात्कार, जुलाई 2004, पृष्ठ-22
9. मुक्तिबोध - समकालीन कविता और मानव मूल्य, पृष्ठ-36
10. केदारनाथ सिंह- तालस्ताय और साइकिल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005 ई.



हिन्दी भाषा : वैश्विक परिपृच्छा परिदर्शन में विश्वस्तरीय भूमिका और उपयोगिता की विशद परिभाषना

- डा० लीम चन्द

भाषा मानव द्वारा अर्जित कला, सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि व उसकी गुणात्मक रागात्मक मूल्यों की एक चरम सम्पदा है। भाषा है तो व्यक्ति है, व्यक्ति है तो समाज है, समाज है तो राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों की भी व्यवस्था है, स्थापना है। भाषा की फलाशा यही है कि वह व्यक्ति और समाज की दिशा और दशा का निर्धारण किस सीमा तक करती है अर्थात् भविष्योन्मुख और रोजगारोन्मुख राह को कहाँ तक प्रशस्त करती है, प्रभावित करती है। यही भाषा की प्रभा और आभा को आँका जाता है। सूक्ष्मतः यही स्पष्ट होता है कि भाषा जनमानस की भावशीलता, संवदेनात्मक विचारशीलता, चिन्मयानुभूति की गतिशीलता आपसी सामाजिक और सांस्कृतिक संसर्ग ज्ञान की प्रवाहशीलता की सम्पूर्ण प्रक्रिया का साधन होती है। दरअसल भाषा का प्रारम्भ सम्पर्क ज्ञान, जीवन बोध, मूल्य स्पृहा, आपसी रिश्तों का विकास, विस्तार तथा मनुष्य संस्कृति के प्रचार-प्रसार के साथ होता है।

भाषा का होना अभिव्यक्ति का होना है, सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बल का होना है, सहभोग और सह-अस्तित्व की एक भाव प्रक्रिया है। डा० शिवकुमार शर्मा का मत है कि, “भाषा मानव-चेतना की मूलभूत आवश्यकता है। भाषा को मानवीय विचारों का व सामाजिक मूल्यों का बौद्धिक व भौतिक अंकन माना जा सकता है।”¹

भाषा के भाषायी सरोकार समाजबद्ध व संस्कृतिबद्ध होते हैं। भाषा विचार साहित्य का ऐसा प्रथम प्रकरण है जहाँ संवेगों, भावों व अनुभूति के तमाम अंशों को उनके मूल रूपों में बहुलांश देखा जा सकता है। बहुतांश में किसी भाषा की बहुभाषिकता इसी में सन्निहित है कि उसकी समाजगत लोकप्रियता व स्नेहशीलता का कितना प्रतिशत है। निहसंकोच भाषा को इस भौतिक जगत का अभिव्यंजक समझना चाहिए। भाषा की सत्ता, मूल्यवत्ता, अर्थवत्ता आदिमकाल से रही है और रहेगी। दण्डी की पंक्तियों को उद्धृत करना समीचीन समझता हूँ —

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत त्रिभुवनत्रयम्
यदि शब्दाह्वय ज्योतिसासंसार न दीप्यते।

“अर्थात् यह त्रिभुवन घोर अन्धकार में निमग्न हो जाता यदि सृष्टि के आरम्भ से भाषा (शब्द) की ज्योति न जलती होती।”²

हिन्दी भाषा हिन्दुस्तान के अस्तित्व, अस्मिता, आत्मीयता, आत्मसंवाद, आत्मालाप, चिन्मपदृष्टि, अन्तदृष्टि की परिचारिक भाषा है। इतिहास के पृष्ठों का यदि समग्रतः अवलोकन करें तो ज्ञात होता है कि हिन्दी भारत में परतन्त्र काल से आज तक जनसाधारण की बहुप्रशंसित, बहुपठित, बहुचिन्तित तथा बहुचर्चित भाषा रही है अर्थात् इस भाषा का भारतीय समाज तथा सामाजिक परिवेश के साथ अन्तरंग रिश्ता प्रारम्भ से ही रहा है। हिन्दी भाषा को उदारवादी भाषा की

संज्ञा देने में कोई संकोच नहीं हो क्योंकि यह सबमें बन्धुत्व, सद्भाव व सुशील आचरण को जन्म देने वाली भाषा है। व्यक्ति की अंतर्दृष्टि को, समाज सृष्टि को सम्पर्क दृष्टि व व्यापक फलक पर प्रस्तुत करने वाली भाषा है। श्रीवास्तव का मानना है कि, “हिन्दी का अपना एक जनपदीय इतिहास है और सांस्कृतिक चेतना है।”³ हिन्दी भाषा की अपनी एक सार्वदेशिक व्यापकता एवं लोकप्रियता है। यह इस भाषा की उद्यमशीलता ही है कि हर कंट की हार बनी हुई है। जनजन में ऊर्जा व उष्मा जगाने वाली हिन्दी भाषा मातृभाषा, राजभाषा, संघ की भाषा, सम्पर्क भाषा, लोक भाषा व राष्ट्रभाषा है। अतएव हिन्दी भाषा को बोलना, पढ़ना, लिखना, सुनना, चिन्तन करना इसका अभिप्राय है कि हम अपनी संस्कृति राष्ट्रगौरव की परम्परा का सम्मान एवं आदर कर रहे हैं। भारतीय और भारतीयता का पूरी निष्ठा, रुचि के साथ अमल, अनुसरण कर रहे हैं। अपनी देशीय मर्यादा व मूल्यों का प्रचार प्रसार विस्तार विकास कर रहे हैं। हमें यह कहने में तनिक भी आतिशयोक्ति नहीं है कि हिन्दी भाषा अपने आप में एक भारी भरकम संस्था है। इसकी अनेकशः ऐसी संज्ञाएं अस्तित्व में हैं जो विश्व गाँव की ओर पूरी शिद्दत के साथ इंगित करती हैं।

समुन्नत, सर्व भाषित सर्वघोषित हिन्दी का आज वैश्वीकरण हो रहा है। विश्व समुदाय में हिन्दी भाषा अपनी जड़ों को सींचित करने में कामयाब हो रही है। हिन्दी भाषा की श्रम शीलता व अभूतपूर्व पराक्रम का ही साफल्य है कि विश्व के कई देश हिन्दी की वैश्विक पृच्छा की ही वास्तविक परिणति है। पूरे विश्व में हिन्दी बोलने वाले लोग 110 मिलियन हैं। इसमें भारतीय मूल के लगभग 2 करोड़ लोग 132 देशों में रहकर हिन्दी भाषा का प्रचार प्रसार कर रहे हैं। इस तरह हिन्दी भाषा का वैश्विक स्तर पर जो प्रभाव, प्रभा, प्रभुत्व तथा वर्चस्व बना है उससे संसार की अन्य भाषाओं के विलुप्तीकरण, हाशियाकरण की पूरी-पूरी संभावना बन रही है। आज मनुष्य के सम्बन्धों का दायरा बढ़ा है वह विकास के शिखर को छू रहा है। भारतीय वैज्ञानिक, डॉक्टर, इंजीनियर व व्यवसायी की विश्व स्तर पर मांग दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है ऐसे में भारत माता की शीर्ष भाषा का कद बढ़ना भी स्वाभाविक ही है।

समूचे विश्व को एक नयी चेतना मिल रही है। मनुष्य की मानसिकता आन्दोलित हो रही है। पूरा विश्व एक मुट्टी में सिमट गया है। इस वातावरण के निर्माण में भाषा की ताकत कारगर साबित हो रही है। गरिमा श्रीवास्तव का मानना है कि, “मेरी समझ में भाषा का मुख्य कार्य सम्प्रेषण, जिसका अर्थ है समान रूप में अपने भावों और विचारों को दूसरों तक पहुँचाना।”⁴

हिन्दी भाषा की वैश्विक परिपृच्छा का समग्रतः में हम जब परिदर्शन करते हैं तो यह भासित होता है कि विश्व गाँव के अस्तित्व के निर्माण में हिन्दी की बहुप्रशंसनीय भूमिका रही है। भूमिका उसी की होती है जो पूरी निष्ठा व लगन से भूमिका को निभाने की ताकत रखे जिसमें विवेक हो। इस सन्दर्भ में हिन्दी सर्वश्रेष्ठ भाषा होने का गौरव हासिल कर रही है क्योंकि हिन्दी भाषा संस्कार की भाषा है, सुसंस्कृत समाज की भाषा है, संस्कार की भाषा है, सुसंस्कृत समाज की भाषा है, संस्कृति की संवाहक भाषा है। जो विश्व स्तर पर भाषा विभिन्नताओं में सम्पर्क सेतु बनाने का काम करती है। ऐसे बहुत से दृष्टान्त हैं जो हिन्दी भाषा के विकास, विस्तार, प्रसार व श्रीवृद्धि के पुख्ता प्रमाणों को प्रस्तुत करते हैं। समय ऐसा आ रहा है जो हिन्दी को स्वतन्त्र व उन्मुक्त आकाश में विचरण करने का संकेत दे रहा है। यहाँ भारतीय संस्कृति के गौरव व भाषा का एक प्रमुख स्थान बन रहा है। ऐसे में भाषायी आशाएं, उम्मीदें व भावनाओं का भी श्री प्रसार हो रहा है। प्रो. जी. गोपीनाथ का मानना है कि, “विश्व भाषा के रूप में हिन्दी का जो विकास हो रहा है उसके साथ कई अपेक्षाएं भी बढ़ी हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी में बुनियादी सन्दर्भ सामग्री, शैक्षिक व्याकरण, द्विभाषी, बहुभाषी कोश,

नवीन प्रौद्योगिकी पर आधारित पाठ्य सामग्री। इस क्षेत्र में व्यक्तिगत एवं संस्थागत प्रयासों में काफी सामग्री का निर्माण भारत और भारत के बाहर हुआ है।'⁵

आधुनिक युग संस्कृति बहुलता, तकनीकी, प्रौद्योगिकी बहुलता, अर्थ बहुलता, संचार बहुलता, संबन्धों की बहुलता, अभिव्यक्ति की बहुलता तथा विचारों की बहुलता का युग है ऐसे में भाषा का परिप्रेक्ष्य बढ़ जाता है। क्योंकि भाषा एक ऐसा अवयव है जो जनमानस को सींचित, सुशोभित, पोषित पुष्ट व तुष्ट करने में सिद्धहस्त है। इस दिशा में हिन्दी भी द्रुत गति से अग्रसर है। दुनियाँ की बेहतरीन और वैज्ञानिक भाषा हिन्दी अपने वैश्वरूपों के कारण विश्व पटल पर जानी पहचानी जा रही है। ई मेल इंटरनेट, एस एम एस, चैटिंग, गूगल, यू ट्यूब, याहू, जी मेल आदि में हिन्दी संचार आसानी से किया जा रहा है अर्थात् इलैक्ट्रॉनिक मीडिया व कार्पोरेट जगत में हिन्दी अपना वर्चस्व स्थापित करने में कामयाब हो रही है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। यह हिन्दी भाषा की ही स्नेह व स्नेहिल दृष्टि है कि वैश्वीकरण के बाजार में सुव्यवस्थित व सुशोभित हुई है।

सवाल हिन्दी के वैश्वीकरण का नहीं रहा है सवाल हिन्दी की वैश्विक परिपृच्छा का ही है। यह हिन्दी की ही ताकत है कि वह पूरे ग्लोब में घूमने की सहर्ष क्षमता रखती है। हिन्दी का प्रश्न जहाँ भारतीयों की मूल भावना व मूल चेतना का प्रश्न है वहीं हिन्दी भाषा के भाषायी सौन्दर्य और भाषायी परिपाक का भी प्रश्न है। यह इसलिए विश्व समुदाय में विश्वसंस्कृति की संवाहक बन रही है क्योंकि यह विश्व के वैश्वरूपों के आत्मसात करने में सक्षम है। इसीलिए इसकी भूमिका और उपयोगिता इस कदर बढ़ रही है कि विश्व भाषकों के लिए अनुकरणीय व अनुसरणीय हो गयी है। यही है हिन्दी भाषा की ताकत, ताज़गी और तात्पर्य जो हर समुदाय में भाषिक तारतम्य तथा तन्तुविन्यास स्थापित करने में सिद्धहस्त है। हिन्दी भाषा विश्व में भारतीय संस्कृति व भारतीय मूल्यों को स्थापित करने के लिए कृतसंकल्प है। कैलाशचन्द्र भाटिया का मत है कि , “गत शताब्दी के युगपुरुष डा. रामविलास शर्मा मानते हैं कि विशाल हिन्दी भाषी जनसमूह का गठन उसकी जातीय भाषा का विकास, उसका सांस्कृतिक अभ्युत्थान, उसके साहित्य की प्रगति सारे भारत देश की प्रगति की महत्वपूर्ण कड़ी है।”⁶

विदेशों में प्रवासी भारतीयों के कारण हिन्दी का अन्तर्राष्ट्रीय ग्राफ बढ़ गया है। फीजी, सूरीनाम, मारीशस, त्रिनिदाद, यूनेस्को, नेपाल, हॉलैंड, इण्डोनेशिया, दक्षिण पूर्वी, अफ्रीका, सिंगापुर, हांगकांग, खाड़ी देशों, सऊदी अरब, कोरिया, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, इटली, जर्मनी जापान, बर्मा, मलेशिया, आदि देशों में हिन्दी अपने वर्चस्व पर है। इन देशों के काफी लोग हिन्दी बोलते हैं, हिन्दी में प्रस्तुत होते हैं और हिन्दी भाषा को प्रस्तुत करते हैं। हिन्दी भाषा यहाँ एकता और एकसूत्रता का समर्थन करती प्रतीत होती है। यहाँ के मूल निवासी भी हिन्दी को आसान भाषा समझकर इसे सरलता से बोलते हैं, सहजता से सुनते हैं, आत्मीयता के भाव से हृदयंगम करते हैं। हिन्दी की विश्व पटल पर जो साख बनी है यह उसकी उदारता के कारण भी है। हिन्दी भाषा संस्कृत, अरबी, अंग्रेज़ी, फारसी, उर्दू आदि शब्दों को सुगमता से आत्मसात करती है। यह हिन्दी की तीव्र पाचनशक्ति का ही परिणाम है।

हिन्दी विश्व की भाषा बने। इसमें विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं (भारतीय और विदेशी) की भी विशेष भूमिका रही है। पत्र पत्रिकाएं आज के इस वैज्ञानिक युग की महत्वपूर्ण कड़ी हैं जिनके द्वारा हम भाषा से, संस्कृति से और मूल्यों से रू-ब-रू हो जाते हैं। मारीशस-हिन्दुस्तानी, मारीशस आर्यपत्रिका। फीजी-फीजी समाचार, भारत युग, बुद्धि, वाणी, जागृति जयफीजी, सनातन सन्देश। सूरीनाम-आर्य दिवाकर, सरस्वती, धर्म-प्रकाश, वैदिक सन्देश, प्रेमसन्देश, गुयाना-

आर्य ज्योति, ज्ञानदा त्रिनिदाद-कोहेनूर, जापान-ज्वालामुखी, यू.एन.ओ. विश्व विवेक, हिन्दी जगत, कनाडा-विश्व प्रवासी भारती, नार्वे-शान्तिदूत दक्षिण अफ्रीका-हिन्दी, बर्मा, म्यांमार-ब्रह्मभूमि, नेपाल, साहित्यालोक इंग्लैंड अमरदीप प्रवासिनी आदि विभिन्न पत्रिकाओं के द्वारा हिन्दी का विकास और विस्तार हो रहा है। हिन्दी का विश्व बाजार समृद्ध से समृद्धतर होता जा रहा है। यहाँ भाषा के वैश्वीकरण की जोरदार उपस्थिति हुई है। जनजन में आपसी सौहार्द के भाव का योग हो आपसी सामंजस्य का भोग हो यही वैश्वीकरण के मूल मन्त्र हैं। प्रो. रामवृक्ष जाट का मत है कि, “यदि भाषा और संस्कृति की दृष्टि से वैश्वीकरण को समझा जाएगा तो कहा जा सकता है कि वैश्वीकरण की धारणा यह मानती है कि संसार के सारे मनुष्य एक समान हैं उनकी समान आवश्यकताएं और कामनाएं हैं उनके एक जैसे स्वप्न और आकांक्षाएं हैं।”⁷ इसलिए वैश्वीकरण एक वैश्विक चेतना का प्रादुर्भाव है। भाषा और संस्कृति की विश्व मंगल की कामना है। एक विश्व भावना है।

हिन्दी भाषा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना परचम फहराये इसके लिए भारत के बुद्धिजीवी चिन्तक, मनीषी, राजनीतिज्ञ प्रारम्भ से ही चिन्तित रहे हैं क्योंकि हिन्दी भाषा भी अंग्रेजी, चीनी, स्पेनिश की तर्ज की भाषा है। अपने वैश्विक रूप के लिए विश्व स्तर पर जानी जाने वाली भाषा है। यह हिन्दी भाषा की जीवन्तता ही है कि यह हर इन्सान के लिए सरल व सहज भाषा साबित हुई है। इस दिशा में हर वर्ग व हर शख्स प्रारम्भ से ही प्रयासरत व प्रयत्नशील रहा है कि हिंदी विश्व मापदण्ड में श्रेष्ठ रहे और विश्व स्तर पर अपनी जोर आजमाइश करे। कैलाशचन्द्र भाटिया का मत है कि, “भारत के दो प्रधानमन्त्रियों अटल बिहारी वाजपेयी तथा पी.वी. नरसिन्हा राव ने महासभा की बैठक में क्रमशः 4 अक्टूबर 1997, 4 अक्टूबर 1988 को हिन्दी में अपना अभिभाषण विदेश मन्त्री के रूप में दे चुके हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर राजभाषा हिन्दी को प्रतिष्ठित करने की दिशा में भारत सरकार की यह पहल प्रशंसनीय रही है।”⁸ संयुक्त राष्ट्र संघ के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर पूर्व प्रधानमन्त्री चन्द्रशेखर (दक्षेस सम्मेलन) मानव संसाधन मन्त्री श्री अर्जुन सिंह (यूनेस्को की 26वीं महा-सभा) केन्द्रीय मन्त्री रामविलास पासवान (राष्ट्र मण्डलीय संसदीय सम्मेलन) आदि ने हिन्दी के गौरव की विश्व मंच पर पताका फहरायी है।

हिन्दी की विश्व परिभावना के प्रति जिज्ञासु, प्रबुद्ध, चेतनशील व कल्पनाशील हैं। शिक्षाविद हिन्दी की पाठचिन्ता इसके वैश्विक आयामों को, वैश्वरूपों के अनुसरण के लिए अपनी एक मर्यादाशील दृष्टि रखते हैं। U.N.O. में और विश्व फलक पर हिन्दी की भूमण्डलीय परिपृच्छा समादरणीय रहे, यही सब का भाव है। इस सन्दर्भ की परिपुष्टि व परितृप्ति के लिए बुद्धि प्रगल्भ व्यक्ति कार्यरत हैं- डा. चेलीशेव (रूस), डा. लोठार लुत्से (जर्मनी), प्रो. ओदोलन स्मेकल (चेकोस्लोवाकिया), शंभूनाथ (त्रिनिदाद), डा. मैकग्रेगर, डा. बृस्की डा. स्नेल और डा. तनाका आदि ऐसे प्रमुख हस्ताक्षर हैं जो हिन्दी के विश्व फलक की स्थापना एवं व्यवस्था के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं। ये विदेशी विद्वान हिन्दी के लिए इतने जिज्ञासाशील क्यों हैं, क्योंकि हिन्दी भाषा लियाकत की भाषा है, आदर्शों की भाषा है, मूल्यों की भाषा है जो बसुधैव कुटुम्ब की भावना रखती है।

हिन्दी का वैश्विक आंचल कितना समृद्ध, सशक्त, स्पष्ट व सराहनीय है यह इन आंकड़ों से साबित होता है। हिन्दी भाषा बांग्लादेश 30%, भूटान 30%, इक्वेडोर 25%, फीजी 50%, ग्वाटेमाला 54%, गुआना 50%, नेपाल 90%, मारीशस 69%, पाकिस्तान 87%, पीरव 15%, सूरीनाम 37%, अरब 50%, यमन 11% कुबैत 13%, अरब 50%, लोगों की जुबान है यह हिन्दी का विश्वस्तर पर एक विश्वसनीय रूप है, इसकी सुग्राह्यता का परिणाम है। यह हिन्दी की

उपयोगिता एवं भूमिका का ही परिणाम है कि विश्व के देशों में हिन्दी के शब्द कोष भी द्रुत गति से बनाये जा रहे हैं जर्मन-हिन्दी, रूसी-हिन्दी, हिन्दी-चैक, नेपाली-हिन्दी, हिन्दी-नेपाली, हिन्दी-डच, डच-हिन्दी आदि शब्दकोशों का निर्माण हुआ है। ये शब्दकोश विदेशों में हिन्दी के एक ऐसे प्रकाश स्तम्भ हैं जो विश्व गांव में हिन्दी की परिभावना को आलोकित प्रकाशित कर रहे हैं जिससे विश्व में हिन्दी संस्कृति व हिन्दी भाषा का निःसंकोच परिदर्शन हो रहा है। हिन्दी के आचरण और व्यवहार से लोग रू-ब-रू हो रहे हैं, विश्व के विश्व विद्यालयों में हिन्दी की अस्मिता, उपयोगिता व अर्थवत्ता के निमित्त अध्ययन- अध्यापन की प्रक्रिया भी प्रारम्भ कर दी है। अमेरिका के 60 विश्वविद्यालय रूस के 10 जापान के 3, चीन के पेइचिंग विश्वविद्यालय लन्दन के कैम्ब्रिज और यार्क विश्वविद्यालय में, पाकिस्तान के कराची विश्वविद्यालय, जापान के क्योतो आदि उच्चतर शिक्षण संस्थानों में हिन्दी की सेवा सुश्रुषा के लिए कारगर कदम उठाये गये हैं। अरूण कुमार जैमिनी का मत है कि, “अमेरिका के एक विश्वविद्यालय ने एम. बी. ए. के छात्रों को हिन्दी को दो वर्षों के लिए अनिवार्य कर दिया है..... फिलाडोल्फिया स्थित लाडर इन्स्टीट्यूट हिन्दी सिखाने का प्रोग्राम चलाएगा।... दुनिया के सबसे ताकतवर देश में हिन्दी की स्थिति बता रही है कि आने वाले दिनों में विश्व में हिन्दी की क्या स्थिति होगी।”⁹

वैश्वीकरण, वैश्वधारणा और वैश्वमूल्यों के कारण आज भाषिक संस्कृति और मूल्य संस्कृति के क्षेत्र में भूचाल सा आ गया है। भूमण्डल थरथरा उठा है। भू संस्कृति का हाशियाकरण और निष्क्रियकरण भी हो रहा है। ऐसे में हमारा दायित्व बनता है कि भाषा और संस्कृति को दीवार बनने से रोका जाए ताकि भूमण्डलीकरण की फूंक इसे गिराने दे। यह चट्टान की भाँति अडिग व स्थायी रहे।

हिन्दी भाषा विश्वस्तर पर अपनी विश्वसनीयता बनाये रखे और बनाने का जोरदार प्रयास करे क्योंकि भाषा के द्वारा ही हमें उच्चतर सामाजिक जीवन मिल जाता है। मिलने की सम्भावना बनती है। हिन्दी की विश्व साख अगर अच्छी होगी तो भारतीयों का अस्तित्व व आधिपत्य बढ़ेगा। विश्व की शिक्षा प्रणाली में हिन्दी अध्ययन और अधिगम के अनुपात में बढ़ोतरी होगी विश्व की भाषा संस्कृति में हिन्दी का नूतन प्रकरण जुड़ जायेगा यह भारतीय भाषा हिन्दी की ही बलवती भावना है कि यह विश्वगांव में प्रथम पायदान पर है इसके पीछे भारतीय भाषाओं की एक सुदीर्घ-प्रदीर्घ दृष्टि, दिशाबोध व दीप्ति भी रही है। अमरसिंह वधान ने लिखा है कि प्रसंगवश विश्व में 223 देश हैं। इनमें किसी भी देश में भारत की तरह 22 भाषाएं नहीं हैं....। भारतीय 22 भाषाओं में भारतमाता बोलती है। ये सभी भाषाएं हमारे कानों में गूंजनी चाहिए।”¹⁰ इससे लगता है कि भारत भाषा प्रतिष्ठा, भाषा सौष्ठवता की दृष्टि से शालीनताबद्ध व शालीनता सम्पन्न रहा है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा की वैश्विक परिपृच्छा विश्व समुदाय में भारतीय संस्कृति व भाषिक गौरव की स्थापना व व्यवस्था में सन्निहित है। हिन्दी भाषा का वैश्वरूप विश्वसत्र के विश्वमापदण्डों के अनुकूल है भाषायी गौरव व भाषिक प्रतिष्ठा के प्रति यहाँ कोई प्रतिकूल व शंकाकुल संवेदन नहीं है। हिन्दी का वैश्वीकरण हुआ है, हो रहा है और भविष्य में होगा क्योंकि हिन्दी भाषा सामाजिक सांस्कृतिक और भाषायी प्रदूषण से दूर 21वीं सदी में विश्वफलक पर अपने तेवर को तलाशने के लिए सत्तामूलक, ज्ञानमूलक व दिशामूलक विमर्श में समग्रतः मशगूल है। संस्कारों, आदर्शों और मूल्यों से सम्बद्ध हिन्दी भाषा की आकांक्षा व फलाशा स्वयंसिद्ध है, स्वयं प्रेरित है। ऐसे अनेकशः दृष्टांत द्रष्टव्य हैं जो हिन्दी की बहुभाषिकता, बहुशैलीपरकता और बहुबोलीपरकता से सम्बद्ध हैं जो हिन्दी के वैश्विक

परिदृश्य, परिवेश की ओर संकेत करते हैं इसमें तनिक भी भ्रम व शंका नहीं है कि हिन्दी विश्व की आवश्यकता है, विश्व चेतना का शृंगार है, विश्व भाग्य की पथ प्रदर्शक है, संरक्षक है, भविष्य की उज्वल प्रभा, सक्रिय आभा और ठोस वास्तविकता है यहाँ हिन्दी की परिभावना भूमण्डलीय व्यवस्था को आलोकित करने में स्वयंसिद्ध प्रतीत हो रही है। गौरवमयी परम्परा व गौरवपूर्ण गाथा वाली हिन्दी विश्वबाजार में एक सुदृढ़ शिला की भान्ति अडिग है, अटूट है और इसका आचरण अनुसरण करने के योग्य है। फलतः हिन्दी सर्वशक्ति सम्पन्न पवित्र गंगा की भाँति प्रतीत हो रही है जो निरन्तर आलोकित, प्रकाशित, सुव्यवस्थित, सुसंस्कृत, सुसज्जित है और अपने वैश्व रूप के लिए भविष्य में समादरणीय व अनुकरणीय रहेगी। शिव और शिवालिक इसे धूमिल, शोभाहीन व कान्तिहीन या निष्प्रभ नहीं कर पायेंगे। हिन्दी का वैश्विक धरातल विशाल से विशालतर रूपधारण करेगा और यह भाषा विश्वभाषा के समरूप एक महाभाषा की संज्ञा से अलंकृत होगी। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। भविष्य में हिन्दी भाषा व्यापक फलक पर लोगों की आवश्यकता बनेगी। संघर्षशील, गतिशील हिन्दी को विश्व बाजार में अपनी, गरिमा, गवेषणा आदि को गहराई से स्थापित करने का मौका मिलेगा। इसमें तनिक भी शंका नहीं है।

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. डा. शिवकुमार शाण्डिल्य, हिन्दी भाषा और सम्प्रेषण प्रक्रिया, पृ. 03
2. डा. नत्थन सिंह, भारतीयता के संरक्षक साहित्यकार डा. एन चन्द्रशेखर नायर पृ 12.
3. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, हिन्दी भाषा का समाजशास्त्र, पृ. 132
4. गरिमा श्रीवास्तव, भाषा और भाषा विज्ञान, भूमिका।
5. डा. सुखदेव सिंह मिन्हास (सं) वैश्वीकरण के दौर में हिन्दी, पृ. 32
6. डा. कैलाशचन्द्र भाटिया, हिन्दी भाषा का आधुनिकीकरण, पृ. 14
7. प्रो. रामवृक्ष जाट, वैश्वीकरण और हिन्दी, पृ. 68
8. डा. सुखदेव सिंह मिन्हास (सं) वैश्वीकरण के दौर में हिन्दी पृ. 59
9. अरुण कुमार जैमिनी, हिन्दी की पढ़ाई अंदाज अलहदा, कादम्बिनी पत्रिका सितम्बर 2010 पृ. 19.
10. डा. अमरसिंह बधान, भूमण्डलीकरण का भारतीय भाषाओं पर प्रभाव पृ. 121



हिन्दी अभिव्यक्ति पद्धतियों में छटा बिखेरता वनस्पति जगत सन्दर्भ - मुहावरे/लोकोक्तियां

-डॉ. नीरू मेहता

मानव की सब से बड़ी उपलब्धि भाषा और साहित्य रचना को माना जाता है। इस महानतम उपलब्धि साहित्य का भी आरम्भ से ही प्रकृति के साथ सम्बन्ध रहा है। कुछ लोग तो प्रकृति के कोमल-कान्त, अनेक प्रकार के आश्चर्यों से भरे और पल-पल में बदलते रहने वाले रूपों से ही भावप्रवण कविता और यथार्थवादी कहानी का उद्भव स्वीकार करते हैं। मनुष्य का जो कुछ और जितना कुछ भी है, उसका जो और जितना भी निर्माण और सृजन है, वह सब अपने मूल स्वरूप एवं अवधारणा में स्थूल-सूक्ष्म प्रकृति की ही देन है जो आज भी सदाबहार दुधारू गाय सदृश है। चारा, ईधन, प्राणवायु इत्यादि विविध रूपों में प्राणिमात्र के सहायक बनने वाले पेड़-पौधों के प्रति कवि की संवेदना सुकोमल तन्तुओं से जुड़नी स्वभाविक ही है। इसीलिए ही प्रकृति सदैव काव्य का एक अनिवार्य उपादान रही है।

विश्व की सभी भाषाओं के कवियों ने अपनी रचनाओं में प्रकृति सौन्दर्य के वैविध्यमय रूपों के अनगणित चित्र उकेरे हैं। हिमालय की सघन वन राशि की हरीतिमा, ब्रज की सुखद छाया देने वाली सघन कुंजें, विन्ध्याचल के वैभवपूर्ण विपिन-सहसा हृदय और नेत्रों को अपने यौवन की ओर आकर्षित करते रहे हैं। विस्मय की ऐसी स्थिति के पश्चात् ही रमणीय पदार्थों ने निस्सन्देह उस की बुद्धि और चेतना को तन्मय कर लिया होगा, तभी तो उसे कभी दृष्टान्त, उदाहरण, अन्योक्ति, रूपक, प्रतीक तथा अन्य अलंकारों - उपमानों के रूप में प्रयुक्त किया है या फिर आलम्बन - उद्दीपन रूप में। वाल्मीकि की दृष्टि अपनी उपमा - उत्प्रेक्षाओं के चयन के लिए प्रकृति के विस्तृत क्रीड़ागार में अठखेलियां करती है तो संसार से विरक्त वेद व्यास प्रकृति की जड़ वस्तुओं में संवेदनात्मक अनुभूति का आभास पाते हैं। उनकी उपमाएं निरंकुश, प्रचण्ड एवं महत्व-व्यंजक हैं।

अनुभूति अभिव्यक्ति बिना सारहीन है। साहित्य में जीवन की सत्योन्मुख स्फूर्तियां भाषा द्वारा व्यक्त की जाती हैं। अभिव्यक्ति या भाषा स्वयं एक सामाजिक प्रक्रिया है। क्रिस्टोफर कॉडवेल स्वीकार करता है कि मनुष्य ने प्रकृति से सम्मिलित संघर्ष करने के क्रम में जो साधन विकसित किए हैं, उन में भाषा सब से लचीला साधन है। भाषा मानवीय साहचर्य का उपयोगी उपकरण है। जगह-जगह जाकर अपने धर्म या मत के प्रचार द्वारा सत्य को प्रकट करना घुमक्कड़ सन्तों का जीवनोद्देश्य रहा है। जग के पथ पर यदि स्वप्न दो हैं तो सत्य दो सौ हैं, तभी तो युग पुरुष कभी भी काल की विभीषिका से त्रस्त नहीं हुआ और साहित्यकार की कलम ने यथार्थ से कन्नी नहीं काटी। जीवन समाज की धारा में बह कर आ गई कुरीतियां, अनाचार, विद्रूपताएं दबने न पाएं, सजग-सजीव साहित्यकार इसीलिए कोरे आदर्श का दामन छोड़कर घोर यथार्थ का फावड़ा अपना कर उन्हें जड़-मूल से उखाड़ने का सदैव प्रयास किया करता है। यदि ऐसा ना हुआ तो समाज भी भीतर ही भीतर से सड़ गल कर एक निरन्तर बहते रहने वाला गठित कोढ़ बन जाया करता है। सत्य माननीय है और रस आस्वादनीय। सत्योन्मुख स्फूर्तियां भावना के रूप में आत्मा की वस्तु हैं। सन्तों की वाणियों में मणिप्रवाल न्याय की भाँति मुहावरों और लोकोक्तियों / कहावतों के प्रयोग इस तथ्य के अभिप्रमाणक हैं।

प्रकृति-पुत्र वृक्ष का एक बीज उग कर जीवन भर हजारों फल-फूल प्रदान करता है। अनाज आदि का एक दाना उग कर अनायास ही ईश्वर के एक से अनेक होने के दार्शनिक तत्व का आभास करा जाता है। ऐसी प्रकृति के प्रति मनुष्य आरम्भ से ही समर्पित रहा है। वनस्पतियां धरती पर जीवन के मूलभूत अंश हैं। अतः जीवन की मूलभूत समझ विकसित करने के लिए वनस्पतियों का अध्ययन अपेक्षित है। रोटी, कपड़ा और मकान जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति से लेकर भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति के लिए बोलचाल की भाषा के कुछ अंश तक पादपों की महत्वपूर्ण भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। प्रेमचन्द, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, राजा राधिका प्रसाद सिंह, यशपाल, उपेन्द्रनाथ अशक, सुदर्शन आदि रचनाकारों ने कथा-कहानियों से लेकर दर्शन एवं चिन्तन प्रधान ग्रन्थों में कथन को धारदार और प्रभावी बनाने के लिए जिन मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग किया है, उन में अधिकांश में पादपों के नामों, पादपों के भागों तथा अन्यत्र स्थानों पर पादपों से निर्मित वस्तुओं का सहारा लिया गया है।

पादप नाम :-

सामान्य नाम	-	वैज्ञानिक नाम
(i) अनार	-	Punica Granatum(प्यूनिया ग्रेनेटम)
(ii) अरहर	-	Lens Culinaris Medik
(iii) आम	-	Mangifera Indica(मेजिफेरा इंडिका)
(iv) अंगूर	-	Vitis vinifera
(v) कपास	-	गासिपियम हरबेसियम
(vi) करेला	-	Momordica Charantia(मोमोरडिका चरेन्शिया)
(vii) खजूर	-	Phoenix Sylvestris(फिनिक्स सिल्वेस्टीस)
(viii) खरबूजा	-	Cucumis Carota(कुकमिस मेलो)
(ix) गाजर	-	Daucus carota(डौकस केरोटा)
(x) गूलर	-	फाइकस ग्लोमरेटा
(xi) गेहूँ	-	Triticum aestivum(ट्रीटिकम एस्टीवम)
(xii) चना	-	Cicer arietinum(साईसर एरेटिनम)
(xiii) चावल	-	ओराईजा सटाइबा
(xiv) जीरा	-	Cuminum cyminum(क्यूमिनन साईमिनम)
(xv) ढाक	-	व्युटिया मोनोस्परमा
(xvi) तिल	-	Sesamum indicum(सिसेमम इंडिकम)
(xvii) नीम	-	Azadirachta Indica(मिलिया अजादिरैक्टा)
(xix) बबूल	-	एकेसिया अरेबिका
(xx) बांस	-	Bambusa arundiancea (बैंबूसा आरुनडीनेकिया)

(xxi) बेर	-	Ziryphus Jujuba(झीझीपस जुजुबा)
(xxii) बैंगन	-	Solanum melongena (सालेनम मेलोन्जीना)
(xxiii) मसूर	-	Lens culinaris (लेंस क्यूलिनेरिस)
(xxiv) मिर्च	-	Capsicum Frutescens (केप्सीकम फ्रुटिसन्स)
(xxv) मूली	-	Raphanus Satinvs (रेफेनस सटाइबस)
(xxvi) मूंग	-	Vigna radiata (विजना रेजियाटा)
(xxvii) राई	-	Bressica Juncea (ब्रासिका जुनिसया)
(xxviii) लौकी	-	Lagenaria Siceraria (लेजिनेरिया वल्गेरिस)
(xxix) सरसों	-	Brassica rapa (ब्रासिका कम्पेस्ट्रीम)

पादप भाग :- जड़, डाल, पात, लकड़ी आदि।

पादप उत्पाद :- आटा, रोटी, दाल, खीर, तेल, खिचड़ी, कागज़, गाड़ी, लाठी, पगड़ी, बीन, खूँटा, झोपड़ी, टोपी आदि।

वनस्पति जगत् में फली वाले समूह, धान समूह, मूली कुल, कद्दू आदि का उल्लेख मिलता है। पादप कुलों में तीन या तीन से अधिक पादप जातियों का प्रयोग मुहावरों और लोकोक्तियों में किया गया है।

पादप जातियां :-

(क) चना, मूँग, मसूर, अरहर, बबूल ढाक (फली वाले समूह)	-	लेग्युमिनोसी कुल
(ख) गेहूँ, चावल, बाँस (धान समूह)	-	ग्रेमिनी कुल
(ग) सरसों, राई (मूली कुल)	-	क्रुसीफेसी कुल (Longipinnatus group)
(घ) करेला, लौकी, खरबूजा (कद्दू कुल)	-	कुकुरवीटेसी कुल (Cucurbita maxima)
(ङ) गाजर, जीरा (धनिया कुल)	-	अम्बेलीफरे
(च) बैंगन तथा मिर्च (आलू कुल)	-	सोलेनेसी कुल
(छ) नीम, अनार, गूलर, आम, तिल, खजूर, बेर	-	मिलीएसी, प्यूनिकेसी, मोरेसी, एनाकार्डेसी, पेडालीयेसी, पामेसी, रेमनेसी कुल।

प्रकृति सदैव साहित्य की भी सहचरी बन वासन्ती वैभव को बिखेरती रही है। विश्लेषण करने पर यह सच्चाई उभर कर सामने आई है कि जिन 30 पादप जातियों का उल्लेख मुहावरों और लोकोक्तियों ने अभी तक किया है, वे वनस्पतियों की 13 कुलों एवं 29 प्रजातियों से सम्बन्धित हैं। हिन्दी साहित्यकारों ने हिन्दी भाषा की रचना को प्रभावशाली बनाने में पेड़-पौधों की मदद भी पर्याप्त रूप से ली है जो वास्तव में महत्वपूर्ण है। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग कर गद्य लेखक भाषा में सजीवता, सरसता, संवेदना और स्वाभाविकता का विकास करता है। प्रायः शारीरिक चेष्टाओं, अस्पष्ट ध्वनियों, कहावतों अथवा भाषा के कतिपय विलक्षण प्रयोगों के अनुरूप या आधार पर निर्मित और अभिधेयार्थ से भिन्न कोई विशेष अर्थ देने वाले किसी भाषा के गढ़े हुए रूढ़ वाक्य, वाक्यांश अथवा शब्द

इत्यादि को मुहावरा कहते हैं जो कथन की शुष्कता, नीरसता को समाप्त करने में सक्रिय भूमिका निभाता है। इस के विपरीत ऐसी अवसरवादी टिप्पणी को लोकोक्ति कहते हैं जो बंधे हुए शब्दों में किसी वांछित या अवांछित स्थिति के सम्बन्ध में समाज के चिर सीमित अनुभव, ज्ञान या दृष्टिकोण की परिचायक होती है। हिन्दी भाषा मुहावरों और लोकोक्तियों की दृष्टि से खूब सम्पन्न एवं समृद्ध है क्योंकि हृदयस्थ विचारों एवं भावों को मुखरता प्रदान करने में ये अभिव्यक्ति पद्धतियाँ सक्षम भूमिका निभाती हैं। सौन्दर्य और सुगन्ध से भरपूर हिन्दी वनस्पति जगत के ऋण से उन्नत नहीं हो सकती।

मुहावरों में प्रयुक्त पादप नाम / पादप भाग / पादप उत्पाद

लकड़ी	-	अन्धे की लकड़ी / एक लकड़ी से हाँकना
खिचड़ी	-	अपनी खिचड़ी अलग पकाना
आटा	-	आटे के साथ घुन पिसना / आटे-दाल का भाव मालूम होना
कागज़	-	कागज़ काला करना / कागज़ के घोड़े दौड़ाना
मूली	-	किस खेत की मूली
मूंग	-	छाती पर मूंग दलना
तिल	-	तिल का ताड़ बनाना / तिल धरने की जगह न होना
दाल	-	दाल में कुछ काला होना / दाल न गलना
मिर्च	-	नमक मिर्च लगाना
चना	-	नाकों चने चबाना
पगड़ी	-	पगड़ी उछालना
रोटी	-	अपनी रोटी अलग पकाना
गाजर	-	मूली गाजर समझना
बैंगन	-	थाली का बैंगन
कपास	-	कपास ओटना
सरसों	-	हथेली पर सरसों उगाना
बांस	-	उल्टे बांस बरेली को
तेल	-	कान में तेल डालना
खीरा	-	ककड़ी-खीरा समझना
नाव	-	दो नावों पर पैर रखना
टोपी	-	टोपी उछालना

लोकोक्तियों / कहावतों में प्रयुक्त पादप नाम / पादप भाग / पादप उत्पाद

चना	-	अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता / थोथा चना बाजे घना
अरहर	-	अरहर की टट्टी गुजराती ताला
आम	-	आम के आम, गुठलियों के दाम / आम खाने से काम, न कि पेड़ गिनने से
करेला	-	एक करेला दूसरा नीम चढ़ा
आटा	-	कंगाली में आटा गीला
खरबूजा	-	खरबूजे को देख कर खरबूजा रंग पकड़ता है.
दाल	-	घर की मुर्गी दाल बराबर / यह मुँह और मसूर की दाल
तेल	-	छछुन्दर के सिर पर चमेली का तेल / न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी
बांस	-	न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी
सरसों	-	हथेली पर सरसों नहीं जमती
पात	-	होनहार बिरवान के होते चीकने पात / तू डाल-डाल मैं पात-पात
जीरा	-	ऊँट के मुँह में जीरा
खजूर	-	आसमान से गिरा खजूर में अटका
रोटी	-	एक तवे की रोटी क्या छोटी क्या मोटी
लकड़ी	-	लकड़ी के बल बन्दर नाचे
ढाक	-	ढाक के तीन पात

स्पष्ट है कि कवि या लेखक अपने समय के वायुमंडल में घूमते हुए विचारों को मुखरित कर देता है। ऐसे में भाषा के सहारे ही पहचान का वह सम्बन्ध बनता है जिस में सम्बन्ध सार्थक होता है। भाषा को सजीव, प्रवाहपूर्ण और आकर्षक बनाने हेतु अलंकारों के समान मुहावरों - लोकोक्तियों का प्रयोग अपेक्षित है। मुहावरा भाषा में चमत्कार प्रदर्शन हेतु होता है, जबकि लोकोक्ति भाषा को स्थिरता प्रदान करती है। पेड़-पौधों ने भाषा को जीवन्तता प्रदान की है। सच ही प्रकृति की अपूर्व भव्यता ने मानव को बलात् अपनी ओर खींचा है, औषधियां प्रदान कर उसे सुरक्षा कवच प्रदान किया है तो भाषाई क्षेत्र में भी अपनी छटा बिखेरी है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता।

सहायक स्रोत

- दुर्गाशंकर मिश्र एवं राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, साहित्य निबन्ध, लखनऊ : प्रकाशन केन्द्र.
- कैलाशनाथ भारद्वाज, आधुनिक हिन्दी रूप रचना, जालन्धर : सी. बी. सी पब्लिकेशनस, 2002-2003.
- श्री कृष्ण महाजन, पौधों ने भी बनाया है हिन्दी को सम्पन्न, hindi.web.dunia.com.
- बृजराज सिंह, जीवन विज्ञान परिचय, कोलकाता : अभिषेक प्रकाशन, 2007.
- उमाशंकर राय, जीवन विज्ञान दर्पण, कोलकाता : बापू पुस्तक भण्डार, 1983.
- कृष्ण सहाय बिलग्रामी, इंटरमीडिएट वनस्पति विज्ञान, पटना : भारती भवन, 1997.

- बदरीनाथ कपूर, हिन्दी मुहावरे और लोकोक्ति कोश, इलाहाबाद-नयी दिल्ली-पटना : लोकभारती प्रकाशन, 2007.
- Anukriti, Konyak-English-Hindi Dicrionary, Central Insitute of Indian Languages, Mysore-National Book Trust, New Delhi, 2006.
- Maneesh Soni, Shabakosh English Hindi Dictionary 2003-2007.
- Wiktionary, A Multilingual Free Encyclopaedia, 2006.
- CFILT, Indo (Hindi) wordnet, A lexical Detabase for Hindi by the Resource Centre for Indian Langaue Technology Solution, Indian Insitute of Technology Bombay, Mumbai, 2006.
- <http://www.encyclopaedia.com/topic/Plant.aspx>.
- <http://en.wikipedia.org/wiki/plant>.



हिन्दी कहानियों में दलित नारी विमर्श

-डॉ. कंचन गोयल

हिन्दी साहित्य में दलित - विमर्श ने एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। दलित - साहित्य दलित लेखकों की आत्मकथाओं से आरम्भ होकर कविता के दौर से गुजरता हुआ कहानी के क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा है। हिन्दी में प्रेमचंद की 'कफन', 'सद्गति' 'ठाकुर का कुआं' और सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की 'चतुरी चमार' जैसी दलितों के जीवन से सम्बन्धित हैं। "दलित चेतना, दलित व्यक्ति को अपने अधिकारों का बोध कराती है, उसके साथ और उसके पूर्वजों के साथ हुए अमानवीय अत्याचारों की जानकारी से सम्पन्न कर उसे सामाजिक आज्ञादी पाने के लिए बेचैन करती है। दलित चेतना रचनात्मक चेतना है। वह बदले की भावना से संचालित नहीं होती।"¹

दलित साहित्य ने बुद्ध, महात्मा फुले, डॉ० अम्बेडकर पेरियार स्वामी के जीवन दर्शन और संघर्ष से मानवतावादी दृष्टि प्राप्त कर समाप्ति के लिए एक चेतना जगाई। यही चेतना आगे चलकर साहित्य में हथियार बनकर समय में काटने में उपयोगी सिद्ध हुई। रमणिका गुप्ता के अनुसार "दलितों में इस सोच को जगाना कि वे भी मनुष्य हैं और उनके अधिकार भी स्वर्ण जातियों के समान ही हैं। बेशक उन्हें एक साजिश के तहत मानवीय अधिकारों से वंचित किया गया है, पर उन्हें इन अधिकारों को पाना है, हवा - पानी पर सबकी तरह उनका भी अधिकार है। उन्हें शिक्षित और विकसित होना है, जातियों के कटघरे तोड़ना है और नव - संस्कृति से लैस तर्कशील मनुष्य बनना है"² वर्तमान समय में लिखा जा रहा दलित साहित्य वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था का खंडन करके मानवतावाद के ढांचे में परिवर्तन लाने की मांग करता है। कहानी के क्षेत्र में 'ओम प्रकाश वाल्मीकि', 'डॉ० एन. सिंह', 'मोहनदास नैमिशराय' आदि ने दलित लेखकों के महत्वपूर्ण नाम हैं। हिन्दी में लिखित अधिकांश दलित कहानियां जातिवादी, सामंतवादी और ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध का स्वर मुखरित करती हैं। संतराम की कहानियां 'मामा की दुनियां' व 'उधार की ज़िन्दगी' दलित महिलाओं के दैहिक शोषण को उजागर करती हैं। अजय नवारिया की कहानी 'मुखौटों के बीच' दलित शिक्षिका के साथ अन्य महिला शिक्षिकाओं के शर्मनाक आचरण को चित्रित करती है। दलित कहानियाँ दलित जीवन का यथार्थ प्रस्तुत करती हैं। हिन्दू समाज द्वारा दलितों का दबाकर ऐसे पड़ाव पर खड़ा कर दिया गया जहाँ उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। दलित कहानियाँ दलितों को घृणित समाज से बाहर निकाल कर सम्मान से जीने की शिक्षा देती हैं और पाठक को समाज की विसंगतियों और भयावह सच्चाइयों से रू-ब-रू कराती हैं। अनिल कुमार के शब्दों में - "दलित साहित्य केवल साहित्य ही नहीं है बल्कि यह एक विचारधारात्मक कारवाई है। यह साहित्य दलित वर्गों में अपनी अस्मिता, स्वावलम्बन, एकता, बंधुत्व, स्वतंत्रता, समानता और न्याय के प्रति एक परिवर्तनकामी जारी चेतना का विकास करता है।"³ कुछ महिला लेखिकाएं भी दलित कहानियों के माध्यम से दलित स्त्रियों की कुण्ठा, जीवन की कठिनाइयों, सामाजिक विषमताओं, आर्थिक परवशता को तीखे व प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

इलाहाबाद में प्राचार्य के रूप में कार्यरत ममता कालिया का जन्म सन् 1940 में हुआ। भारतीय परिवेश में घुट रही

नारी की मानसिकता को व्यक्त करना ही इनकी कहानियों का उद्देश्य है। लेखिका का मानना है कि सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी या गृहस्थी के अतिरिक्त अन्य प्रतिभाओं से युक्त होने पर भी नारी को पुरुष के समान अपनी प्रतिभा को दिखाने का अवसर क्यों नहीं मिलता ? शायद परम्परागत संस्कारों में आबद्ध आज का समाज आधुनिकता की ओर बढ़ना तो चाहता है पर बढ़ नहीं पाता। तभी तो ममता कालिया ने 'रोशनी की मार' कहानी में दलित नारी के जीवन की कठिनाइयों को अभिव्यक्ति देकर आधुनिक वैचारिकता का ढोल पीटने वाले समाज को आईना दिखाने का प्रयास किया है। दलित वर्ग से संबंधित बिटिया पाखाने साफ करने का पुश्तैनी धंधा करती है, घर में सब नाते - रिश्ते होने पर भी वह यह पीढ़ी - दर -पीढ़ी चले आने वाला काम नहीं छोड़ना चाहती, क्योंकि बिटिया के कार्य से ही घर में बरकत है। दादी संबोधन की सीमा पार कर चुकी बिटिया का निम्न जाति से संबंधित होना ही पुरुष सत्तात्मक समाज में उसके दलन का कारण बनता है। पड़ोस का नौजवान राजू अपनी उम्र से बड़ी बिटिया को सम्मानीय शब्दों से सम्बोधित करने की अपेक्षा छेड़ - छाड़ जैसे शब्दों का प्रयोग करता है, "चूड़ी नहीं मेरा दिल है, देखो देखो टूटे न.....।"⁴ लेकिन बिटिया एक दिन नौजवान राजू को उत्तर देने में पकड़ते हुए उसे वास्तविकता से परिचित करवाती है, "यह चूड़ी-चूड़ी का करत हो, रिश्ते में हम तोहार चच्ची लगत है, जानो। हमारे आगे हगना-मूतना सीखे हो तुम!"⁵ पुरुष तो पुरुष 19 नंबर वाली तिवारिन भी बिटिया से छुआछूत का भेदभाव रखते हुए प्रतिदिन उसका मानसिक व आत्मिक शोषण करती है। घर की किसी भी चीज़ को बिटिया के कपड़ों के छूने भर से ही तिवारिन दबी जुबान में उसे गालियाँ देते हुए उस चीज़ को स्वयं ही साबुन-पानी और स्पंज से रगड़े बिना चैन नहीं लेती। भले ही तिवारी जी शिक्षा विभाग में उपनिदेशक हैं, लेकिन उनकी छुआछूत की मान्यता अपनी पत्नी से भिन्न होने पर भी वे उसके स्वच्छता-बोध को काबू नहीं कर पाते। एक दिन घर में बिटिया और तिवारिन के इलावा कोई नहीं था। शारीरिक अस्वस्थता के कारण तिवारिन अचानक दहलीज़ से ठोकर खाकर धड़ाम से बेसुध होकर नीचे जमीन पर गिर जाती है। बिटिया के लाख प्रयत्नों के बावजूद भी तिवारिन को होश नहीं आता। फिर बिटिया को 41 नंबर वाले डॉक्टर यादव का ध्यान आता है और डॉ. यादव प्रारंभिक जाँच करने के पश्चात् तिवारिन का ईलाज शुरू कर देते हैं। डॉ. को ईलाज के लिए बिटिया की सहायता की आवश्यकता थी लेकिन तिवारिन के व्यवहार के कारण बिटिया हिचकिचाती है, किंतु डॉ. यादव उसे जल्दी-जल्दी परिस्थिति को सम्भालने का आदेश देते हैं और गैस को जलाकर सिरिज उबालने को कहते हैं। बिटिया डरते-डरते सारा कार्य सम्पन्न कर देती है। तिवारी जी को पता चलता है कि तिवारिन की तीमारदारी बिटिया ने की तो वह अपनी पत्नी के होश में आने पर उसे वास्तविकता से परिचित नहीं करवाते लेकिन उत्साहित बिटिया का यह सुकार्य उसके पैर जमीन पर नहीं लगने देता और वह सबको घटनाक्रम से परिचित करवाती है, "उस टैम हमने यह नहीं सोचा कि बहू जी मार हमपे चिल्लात हैं, छूत मानत हैं, बस डागडर साब जौन-जौन कहत गए, हम करते चले गए। अरे जान तो जान है, बडमनई की हो, छोटमनई की हो।"⁶ लेकिन सत्य से अनभिज्ञ स्वस्थ हो चुकी तिवारिन के मुँह से त्रिपाठी जी के समक्ष अपने लिए अपशब्द सुन दलित बिटिया के धैर्य का बाँध टूट जाता है और वह कहती है, "ठीक हो गई तो गर्माए लगी। हमरे हाथ का गरमाय दूध पानी सब तोहार पेट मां है। वो बखत भी हम एहि रहैं, कौनो अउर नाहीं। आप.... हमसे छूत मानत हैं। जब बेहोस पड़ी रहीं, हमहिं चौका-चूल्हा छी कर काम किया,.... परचौ तो पूछ लो जायके डागदर साब से।"⁷ मूलतः ममता कालिया का सारा कथा-साहित्य नारी वेदना की भिन्न परतों को खोलता है। प्रस्तुत कहानी रोशनी की मार में उन्होंने दलित नारी की सामाजिक स्थिति को भिन्न अर्थों में प्रस्तुत करके उसके मानवीय एवं संवेदनशील पक्ष को उद्घाटित किया है। सिम्मी हर्षिता का जन्म 29 नवम्बर 1940 को भारत के आर्थिक रूप से सम्पन्नतम प्रांत पंजाब के रावलपिंडी

के निकट संयुक्त परिवार में हुआ। आपका लाड-प्यार का नाम सिम्मी था। स्कूल में यह नाम हरसिमरन कौर में परिवर्तित हो गया, किंतु साहित्यिक जगत में आपको जिस नाम से ख्याति मिली, वह है- सिम्मी हर्षिता। आपके पिता सरदार भगत सिंह एम० ई० एस० में (Military Engineering Service) गौरीजन इंजीनियर थे तथा उनको उर्दू, पंजाबी तथा अंग्रेजी भाषा पर अच्छा अधिकार था। 27 वर्ष की आयु में आपने आर्थिक स्वावलम्बन और स्थायित्व के लिए दिल्ली 'गुरु हरिकृष्ण पब्लिक स्कूल' (वसन्त विहार) में अध्यापन कार्य किया।

लेखिका सिम्मी हर्षिता की कहानियाँ मानवीय त्रासदी, नियति और संकट की कहानियाँ हैं, जिन्हें व्यक्ति अपनी ज़िन्दगी में लगातार झेलता चलता है। सिम्मी हर्षिता की पहली कहानी 'अपने-अपने दायरे' संचेतना-10 में जून 1969 के अंक में प्रकाशित हुई तथा वहीं से आपकी साहित्यिक जगत की यात्रा का आरंभ हुआ। सिम्मी हर्षिता की कहानियाँ नारी-विमर्श के अधूरे पहलुओं को स्पर्श करती हुई उजागर होती हैं। इन कहानियों की मूल संवेदना के विषय में डा० नरेन्द्र मोहन का कहना है, "ये कहानियाँ अधिकतर विवाहपूर्व की उलझी हुई जटिल बाहरी घटना या स्थिति के हल्के से आधार को ग्रहण करके वे अन्तर्लोक के उलझे हुए सन्दर्भों और तन्तुओं को खोलने लग जाती हैं।"⁸ कथाकार सिम्मी हर्षिता का द्वितीय कहानी-संग्रह 'धराशायी' सन् 1980 में प्रकाशित हुआ। इसमें कुल 9 कहानियाँ संग्रहीत हैं। इस संग्रह के वर्चस्व को उमाशंकर शुक्ल ने इन शब्दों में बद्ध किया है, "संकलन की प्रत्येक कहानी स्वयं में समस्या है चिंतन है, विचार है और साथ में वर्तमान समय के प्रति तीखा व्यंग्य भी है जो पैसेपन के विषय को और अधिक स्पष्टता, वक्रता एवं मौलिकता से प्रस्तुत करता है। जिसमें व्यक्ति परम्पराओं में किस प्रकार बंध कर पिसता जा रहा है। अस्तित्वहीन एवं पराक्षेपी बन गया है।"⁹ सिम्मी हर्षिता की 'धराशायी' भी दलित नारी की सामाजिक, पारिवारिक त्रासदी का अवाक् विमर्श प्रस्तुत करती है। कहानी की दलित नायिका कांता को दलित होने का अहसास बार-बार इस पुरुषसत्तात्मक समाज द्वारा करवाया जाता है- कभी उसके पति द्वारा, कभी बस में सफर कर रहे लड़कों द्वारा और कभी सिनेमा-घर के टिकट संबंधी कर्मचारियों द्वारा। लोगों के घरों में साफ-सफाई कर अपना जीवनयापन करने वाली दलित स्त्री कांता का जीवन अनेक विषमताओं से भरा है। निम्न जाति से उसका संबंधित होना ही उसके लिए किसी अभिशाप से कम नहीं। रोजाना जीवन की दिनचर्या से ऊब यदि वह जीवन के सतरंगेपन में से एक रंग अपने जीवन में भरना चाहती है तो टिकट होने पर भी उसे मनोरंजन का वह रंग भरने की अनुमति नहीं दी जाती। उन पुरुषों के बीच आकर्षण बनी कांता बहुत मुश्किल से बिना पिक्चर देखे ही लौट आती है। अपनी इस छोटी-सी खुशी के रौंदे जाने पर वह कराह उठती है... "टिकट तो इस दीन-दुनियां में भी आने-जाने का सबके पास है, पर इसमें भी सबको ठीक से और पूरा जीने का हक कहाँ मिलता है? इन्सान जहाँ भी जाता है, उसकी जाति का टिकट और टिकट की जाति भी साथ जाती है- चेहरे पर चिपकी गरीब-गुरबा भाव की जाति, नीची और ऊंची कुर्सी की जाति, पहिये और बेपहिये की जाति। बस में सफर करो तो लड़के जानबूझ के छेड़छाड़ करते हैं वे समझते हैं छोटी जाति की है क्या कह-कर लेगी?"¹⁰ पति द्वारा भी कांता को मार-पीट कर असहनीय शारीरिक यातनाएं दी जाती हैं। समाज द्वारा भी सभी प्रतिबंध दलित कांता पर ही लागू किए जाते हैं जैसे-गांव के कुएं से पानी भरने की मनाही, मंदिर में प्रवेश की मनाही आदि। ऐसा प्रतीत होता है कि सदियों का परिवर्तन भी दलित नारी के जीवन की दशा-दिशा बदलने में अक्षम है, किन्तु लेखिका द्वारा एक ओर कांता के शोषण की कहानी कही गई है तो दूसरी ओर कांता के स्व-अस्तित्व की रक्षा के लिए उठाए गए विद्रोही स्तरों की अनुगूंज ने सारे समाज को भी हिला दिया है। शासक पति के शोषण को नकार कांता मायके लौट आती है और छेड़छाड़ करने वाले लड़कों को अपनी नफरत की आग में भस्म कर देती है। समाज के प्रतिबंध भी उसे कदापि स्वीकार नहीं है। सिनेमाघर में उसे तमाशा बनाने

वाले को वह बड़ी ही सुगमता से हज़म कर लेती है, “कांता ने उस व्यक्ति को हाज़मे की हांडी में फेंककर ऊपर ढक्कन धर दिया है। अन्दर पड़ा खाता-खदबदाता रहे वह-उसे परवाह नहीं। अब वह टिकट झपट व्यक्ति जैसे उसके समाने धराशायी पड़ा है।”¹¹ लेखिका का ध्येय दलित कांता की मुक्ति मात्र समाज-उत्पीड़न से करवाना ही नहीं अपितु नारी विमर्श की भूमि पर उसे उसकी मानवीय गरिमा को लौटाना भी है। दलित नारी को मानवीय रूप में स्थापित करना ही इस कहानी की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

मैत्रेयी पुष्पा का हिन्दी साहित्य में प्रवेश बीसवीं सदी के दसवें दशक में होता है। मैत्रेयी पुष्पा का जन्म 30 नवम्बर, 1944 अलीगढ़ ज़िले के सिकुरा गाँव के ब्राह्मण परिवार में हुआ। मैत्रेयी की माँ का नाम कस्तूरी देवी, पिता का नाम हीरालाल और बाबा का नाम मेवाराम था। बचपन में गाँव वाले ‘पुष्पा’ कह कर पुकारते थे। लेकिन पिता हीरालाल मरते समय अंतिम शब्द थे मैं...त्रे...यी। “मैत्रेयी का कहानी साहित्य, उपन्यास साहित्य, औपन्यासिक आत्मकथा-उनकी हर रचना स्वयं भोगे हुए जिए हुए अनुभूत जीवन के बिम्ब अंकित करती है। उन्होंने अपनी रचनाओं में अलीगढ़ और बुन्देलखण्ड के ग्राम्यांचल के जन-जीवन का बड़ी मार्मिकता के साथ वर्णन किया है।”¹² मैत्रेयी पुष्पा के व्यक्तित्व की तारीफ करते हुए राजेन्द्र यादव कहते हैं, “कुछ अलग और नया था जो मुझे तुम्हारी तरफ खींच रहा था। गाँव, कस्बों, का परिवेश, खेतिहर संस्कृति के बनते बिगड़ते समीकरण, सम्पत्तियों को लेकर की जाने वाली फौजदारियाँ, कोर्ट कचहरियाँ, आकंठ सैक्स और स्त्री के उभरते व्यक्तित्व की तेजस्विता चुनावों-पंचायतों की बदलती तस्वीर अपराधी जनजातियों के मुख्य धारा में शामिल होने की जद्दोजहद, तुम्हारा अपना बिंदास जीवन।”¹³ मैत्रेयी पुष्पा की कहानी ‘छुटकारा’ दलित नारी की सामाजिक, मानसिक त्रासदी का सवाक् विमर्श प्रस्तुत करती है। छन्नो मेहतरानी सीता गली में संडास कमाने का काम करती है। छन्नो महज चौदह साल की उम्र से ही संडास साफ करने का कार्य करती है। छन्नो सीता गली में कुसुमी अम्मा का मकान खरीद कर रहने लगती है। दलित होने के कारण पूरी गली के लोग उसे परेशान करने लगते हैं। वे उसे भगाने के लिए संगठित होने लगते हैं। उनका मानना है कि “होने को तो छन्नो भी इंसान की मूरत है। भगवान की बनाई हुई औरत। पर यह मेहतरानी यहाँ बस जाती है मानो और इसके नाते रिश्तेदार यहाँ आते जाते हैं मानो तो गली के लोंडों का क्या होगा ?”¹⁴ छन्नो मैली उजड़ी बस्ती से निकल कर अपनी बेटी रज्जो के साथ सीता गली में यह सोच कर आती है कि रज्जो यहाँ रहकर सिलाई करेगी। रज्जो अपनी माँ छन्नो को संडास की दुनिया से बाहर निकालना चाहती है जिसमें उसकी माँ जीवन भर पिसती रही है। गली के लोग छन्नो को भगाने के लिए पत्थर बरसाते हैं। रज्जो के ऊपर जलती हुई सिगरेट फेंकते हैं। उनके घर की खिड़की जला देते हैं। उसे पुलिस द्वारा प्रताड़ित किया जाता है परन्तु छन्नो और उसकी पुत्री रज्जो इतना सब होने पर भी घर छोड़ कर नहीं जाती। छन्नो गली में संडास साफ करने का काम छोड़ देती है। “आग पड़ों के यहाँ जाना नहीं अब। अपने आप होस ठिकाने आ जायेंगे।”¹⁵ गली के लोग संडास साफ करने के लिए छन्नो को बुलाने आते हैं तो रज्जो बताती है कि उसकी माँ बीमार है तो वे लोग रज्जो से चलने को कहते हैं तो वह उनको सुनाती हुई कहती है, “गली में तो बदबू के भपारे छूट रहे हैं। कोई कैसे रहे ? मैं तो जुगन्दर की दुकान से धूप बेसांदुर सब ले आयी हूँ। हाय कितनी बदबू। उसने नाक मूंद ली।”¹⁶ सीता गली के लोग जब छन्नो को परेशान करते हैं जो रज्जो सशक्त विद्रोह करती है, “अम्मा मैं जाऊँगी। ये लोग हमें यहाँ क्यों रहने नहीं देते? अब कहाँ है पुलिस।”¹⁷ रज्जो छन्नो को मेहतरानी जैसे कार्य करने नहीं देती। स्वर्ण जाति के लोग अपने घरों में अंग्रेजी संडास बना लेते हैं। जिसे वे स्वयं साफ कर सकें। रज्जो अपनी माँ के संडास कमाने के खतम होते काम से बहुत प्रसन्न होती है। वह सिर दबाते हुए अपनी माँ से कहती है, “अब सिर क्यों दुखता है। अब तो हमें मैला साफ

करने कोई नहीं बुलायेगा। कितना अच्छा हुआ। हुआ न ?'¹⁸ इस कहानी में रज्जो और छन्नो दोनों ही नारी पात्र का विद्रोह अपने समय और समाज के अनुसार है। छन्नो हरिजनों की बस्ती छोड़ कर सवणों के मुहल्ले में घर खरीद कर रहने लगती है। बेटी रज्जो को संडास साफ न कराने की बजाए सिलाई सिखाती है। रज्जो सवणों स्त्रियों जैसे बाल कटवा और उन जैसे कपड़े पहनती है। ऐसे नारी पात्र समाज में अपने ऊपर होने वाले अत्याचार का सशक्त विरोध करते हैं।

दलित समुदाय भारतीय समाज का सबसे प्रताड़ित व यातनाग्रस्त समुदाय है और उसके जागरण के बिना भारतीय समाज में बुनियादी परिवर्तन संभव नहीं तथा इस बुनियादी परिवर्तन के लिए आवश्यक है कि दलित साहित्य का सही दिशा में विकास हो। दलित कहानियाँ दलितोत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। दलित नारी विमर्श की हिन्दी कहानियाँ सदियों से सोते हुए लोगों को जगा कर क्रांति का संचार कर रही हैं। दलितों के मन में सामाजिक समता, और स्वतंत्रता के भाव को जगा रही हैं। दलित कथाकारों ने कहानियों के माध्यम से दलितों में पैदा हो रही मुक्ति चेतना, विद्रोह की भावना का प्रभावशाली चित्रण कर दलितों में नई ऊर्जा को प्रतिबिम्बित करने का किया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. सोनिया माला, 'दलित कहानियों में चेतना के स्वर', शब्द सरोकार, अंक 41, पृ. 49
2. डॉ. रश्मि चतुर्वेदी, साक्षात्कार, 'दलित विमर्श के आलोक में' सरस्वती प्रकाशन, 2013, पृ. 115
3. अनिल कुमार, बयान (हिन्दी मासिक), 'दलित साहित्य एक वैचारिक कार्रवाई, अंक 72, जुलाई 2012, पृ. 36'
- 4.5. ममता कालिया, बोलनेवाली औरत, पृ. 44.
6. वहीं. पृ. 47-48.
7. वहीं. पृ 48
8. समीक्षा, नवम्बर-दिसम्बर, 1976. पृ. 42
9. पुनश्च, जून 1981, पृ. 43
10. सिम्मी हर्षिता, 'धराशायी' 1984, पृ.52
11. वहीं, पृ. 54
12. डॉ. कंचन गुप्ता, 'मैत्रेयी पुष्पा का कथा-साहित्य: नारी सशक्तीकरण के विशेष संदर्भ में' (शोध-प्रबन्ध), 2007, पृ. 1
13. राजेन्द्र यादव, 'अपनी नियति पहचानो मैत्रेयी', हंस, जुलाई 2006. पृ. 3.
14. मैत्रेयी पुष्पा, 'छुटकारा' हंस, अगस्त 1999, पृ. 30
- 15,16. वहीं. पृ. 35
17. वहीं. 38
18. वहीं. 39



मनीषा कुलश्रेष्ठ के कहानी संग्रह 'बौनी होती परछाई' में व्यक्त सांस्कृतिक सन्दर्भ

-डॉ. कंचन कुमारी

मनीषा कुलश्रेष्ठ आज की महिला लेखिकाओं में प्रमुख हैं। हिन्दी की युवा लेखिका मनीषा कुलश्रेष्ठ न केवल बहुआयामी प्रतिभा की धनी हैं बल्कि उनका व्यक्तित्व वर्तमान पीढ़ी के लिए अनुकरणीय भी है। लेखिका का जन्म ग्रामीण वातावरण में 26 अगस्त 1967 को घाणेरवाव गाँव में राजस्थान के पाली ज़िले में हुआ। बचपन से ही मनीषा कुलश्रेष्ठ के घर में हिन्दी, अंग्रेजी दोनों के समाचार पत्र व 'धर्मयुग', 'दिनमान', 'सारिका', 'इलस्ट्रेटेड' वीकली जैसी पत्रिकाएं आती थीं, अतः स्पष्ट है कि घर का वातावरण शैक्षिक व साहित्यिक था। इसी कारण इनके मन में साहित्यिक रुचि बढ़ती चली गयी। लेखिका "वेब पर पहली साहित्यिक वेब पत्रिका 'हिन्दी नेस्ट डॉट कॉम' का पिछले ग्यारह वर्षों से सम्पादन कर रही हैं।" ज्ञानपीठ की पत्रिका 'नया ज्ञानोदय' के लिए स्थायी कॉलम 'इंटरनेट और साहित्य' लिख रही हैं। मनीषा कुलश्रेष्ठ को 1989 में राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा 'चन्द्रदेव शर्मा' पुरस्कार प्राप्त हुआ। 2001 में कथाक्रम द्वारा आयोजित भारतीय युवा कहानीकार प्रतियोगिता में विशेष पुरस्कार से सम्मानित की गईं। 2009 में इन्हें 'डॉ. घासीराम वर्मा' साहित्य पुरस्कार और जुलाई 2013 में 'लमही' सम्मान दिया गया।

मनीषा कुलश्रेष्ठ ने जिस अनुपम साहित्य की रचना की उसका समस्त विवरण इस प्रकार है- इनके पाँच संग्रह प्रकाशित हैं- 'बौनी होती परछाई', 'कठपुतलियां', 'कुछ भी तो रूमानी नहीं', 'केयर ऑफ़ स्वात घाटी', 'गन्धर्व गाथा'। कहानी संग्रह के साथ इन्होंने तीन उपन्यासों का भी सृजन किया है। 'शिगाफ', 'शाल भंजिका', 'पंचकन्या'। 'बौनी होती परछाई' मनीषा कुलश्रेष्ठ का पहला कहानी संग्रह है, जिसका प्रकाशन वर्ष 2004 है। इस संग्रह की कहानियों में सांस्कृतिक सन्दर्भ की झलक दिखाई देती है। लेखिका ने अपने इस कहानी संग्रह में राजस्थानी संस्कृति, रीति-रिवाज, वेश-भूषा एवम् खान-पान का वर्णन किया है।

साहित्य और संस्कृति का गहरा संबंध है। संस्कृति आज के जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन चुकी है। अतः साहित्य उससे कैसे अछूता रह सकता है। किसी भी संस्कृति एवं समाज में रहने वाले व्यक्ति के अपने-अपने रीति-रिवाज व मानदण्ड होते हैं। भारतीय संस्कृति के भी अपने रीति-रिवाज हैं। रीति-रिवाजों से उस समाज में रह रहे व्यक्तियों के आचार व्यवहार तथा उनकी मान्यताओं का पता चलता है। संस्कृति का संबंध मानव समाज से है। यह भौतिक के साथ-साथ मानसिक विकास करके स्वभाव को सुन्दर बनाती है। संस्कृति मानव के मन में सामाजिक भावना उत्पन्न करके कल्याण के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करती है। बाबू गुलाबराय ने संस्कृति के विषय में कहा है, "संस्कृति शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना।" इस प्रकार मनुष्य की पहचान होते हैं उसके संस्कार। संस्कृति मनुष्य के चरित्र का आईना होती है इस प्रकार संस्कृति व्यक्तित्व व विचारों को संशोधित करती है।

मनीषा कुलश्रेष्ठ की 'बौनी होती परछाई' (बौनी अर्थात् छोटी) कहानी संग्रह की कहानियों में सांस्कृतिक परिवेश की झलक दिखाई देती है। 'बौनी होती परछाई' का शाब्दिक अर्थ है छोटी होती हुई परछाई। इसका सांकेतिक अर्थ है अस्तित्व का धीरे-धीरे छोटा होना। आधुनिकता के दौर में हमारा सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि अस्तित्व धीरे-धीरे छोटा होता जा रहा है। हमारे अस्तित्व का हास होता जा रहा है। इस संग्रह की लगभग सम्पूर्ण कहानियों में राजस्थानी संस्कृति, परिवेश, खान-पान, वेश-भूषा, रूढ़ियों आदि का वर्णन मिलता है। इसी परिवेश में पली बड़ी होने के कारण ही इन्होंने राजस्थानी परिवेश, संस्कृति का सूक्ष्म विवेचन किया है।

इसी कहानी संग्रह की 'क्या यही है वैराग्य?' कहानी में राजस्थानी संस्कृति वर्णित हुई है। राजस्थानी संस्कृति का वर्णन करते हुए लेखिका ने लिखा है, "काठ के भारी भरकम नक्काशीदार दरवाजे, उकेरे हुए सुन्दर बेल-बूटों से सजे गोखड़े, घेर-घुमेर, अंधेरी उजली सीढ़ियां। छोटे-छोटे जनाना कमरे, बड़े मर्दाना हॉल और बैठकें। चित्रकारी की हुई ऊँची छतें, दीवारों पर भी नाथ द्वारा शैली में चित्र बने थे- डोली राधाकृष्ण की थी पर जिनके रंग कहीं-कहीं उखड़ जरूर गए थे मगर फीके नहीं पड़े थे।"³ राजस्थान शब्द का अर्थ राजाओं के रहने का स्थान। राजाओं का निवास स्थान वैभव और विलासता भरा होता है। अतः लेखिका ने यहाँ रजवाड़ों की संस्कृति का वर्णन किया है। स्त्रियों और पुरुषों के लिए अलग-अलग कमरों का होना भी राजस्थानी संस्कृति का पर्दा प्रथा और लिंग भेद को दर्शाता है। 'भाग्य लक्ष्मी' कहानी में राजस्थानी संस्कृति, शान के दर्शन इन शब्दों के द्वारा व्यक्त होते हैं, "भारी रेशमी परदे पुराने फानूस भारी किवाड़ रावले की पूरी शान मौजूद थी इस कमरे में।"⁴ लेखिका ने रावले शब्द का प्रयोग यहाँ राजस्थान के रजवाड़ों के लिए प्रयोग किया है। यह रजवाड़े राजपूतों की शान माने जाते हैं। अतः स्पष्ट है राजस्थानी संस्कृति अपनी शान और राजसी ठाठ-बाट के लिए प्रसिद्ध है।

रीति-रिवाज किसी भी संस्कृति का परिचय होते हैं। रीति-रिवाज में शादी-विवाह, आतिथ्य सत्कार आदि आते हैं। 'भाग्यलक्ष्मी' कहानी में पात्र मीनू विवाह के समय राजस्थानी रीति-रिवाजों का वर्णन करते हुए कहती है, "पर बाऊली के आग्रह पर शादी पूरी राजपूती परम्परा से तीन दिन तक हुई। यहाँ तक कि पुराने रावलों की परम्परा की तरह जोधपुर से आई नाचने वालियों का मुजरा भी हुआ।"⁵ कहा जा सकता है कि राजस्थान में मुजरा एक विशेष समुदाय द्वारा राजपूतों की शादियों में प्रस्तुत किया जाता है। मुजरे की यह परम्परा राजपूतों में प्राचीन काल से चली आ रही है। शादियों में मुजरा पुराने रावलों की परम्परा थी, जो अब तक राजपूतों में निभाई जाती थी। स्पष्ट है शादी में पूरे राजपूती परम्परा का पालन अभी भी किया जाता है। इसी कहानी में विवाह के उपरान्त निभाए जाने वाले रीति-रिवाजों का लेखिका ने इस प्रकार वर्णन किया है, "चूड़ा खुला, वो पारात मे दूध डालकर अंगूठी ढूँढनेवाला खेल भी हुआ।"⁶ इस प्रकार स्पष्ट है कि लेखिका ने अपने इस कहानी संग्रह में राजस्थानी परिवारों के वैवाहिक रीति-रिवाजों का वर्णन किया है।

वेशभूषा किसी भी संस्कृति, क्षेत्र विशेष की पहचान का प्रतीक होती है। वेश-भूषा के द्वारा हम कह सकते हैं कि वह व्यक्ति किस क्षेत्र विशेष से सम्बन्ध रखता है। वेश-भूषा हमारी पहचान का प्रतीक है। 'क्या यही है वैराग्य?' कहानी में लेखिका राजस्थानी दुल्हन की वेश-भूषा का वर्णन करते हुए कहती है, "पारम्परिक पोशाक पहनकर तो वह अभिभूत हो गई थी। सोने चांदी के तारों की कढ़ाई वाले लहंगा-ओढ़नी, बाजूबंद, तगड़ी, नथ, बोरला, और भी

न जाने कितने पारम्परिक गहने उसकी सास ने बड़े आग्रह से पहनाए थे।⁷ अतः यहाँ राजस्थानी पारम्परिक आभूषणों का वर्णन किया है। विवाह के समय सास द्वारा बहू को आग्रहपूर्वक गहने पहनाये जाना राजस्थान की ही नहीं बल्कि भारतीय संस्कृति को भी दर्शाते हैं। 'भाग्यलक्ष्मी' कहानी में शादी के बाद पात्र मीनू को राजस्थानी पोशाक दी जाती है, जिसका वर्णन मीनू इस प्रकार करती है, "उन्होंने हल्का गुलाबी पतला-सा नया राजपूती बेस निकाला जिस पर हल्का चांदी के तारों का काम था। उस पर लहरिए की ओढ़नी थी।"⁸ 'बेस' राजस्थानी भाषा का शब्द है। जिसका अर्थ है पोशाक। यहां 'बेस' शब्द का प्रयोग पोशाक के सन्दर्भ में किया गया है। लेखिका का सामान्य हिन्दी के साथ राजस्थानी भाषा के शब्दों का मिश्रण करना उनकी लेखन शैली की प्रतिभा को उजागर करता है।

मनीषा कुलश्रेष्ठ ने अपने कहानी संग्रह 'बौनी होती परछाई' में खान-पान की संस्कृति को भी उजागर किया है। अलग-अलग तरह के व्यंजन के नाम आते ही किसी क्षेत्र विशेष की संस्कृति का नाम अपने आप उसमें जुड़ जाता है। "क्या यही है वैराग्य?" कहानी में खान-पान की संस्कृति को बताया है। महाराज के आतिथ्य स्वीकार करने के बाद उनके अतिथि सत्कार की तैयारियां उस प्रकार शुरू हुई, "महाराज सा का भोजन मम्मी जी स्वयं अपने हाथों से तैयार कर रही थी। अन्य सभी के लिए ब्राह्मण रसोइया दाल-बाटी चूरमें की रसोई तैयार कर रहा था।"⁹ इस प्रकार किसी शब्द के पीछे या संज्ञा के पीछे 'सा' का प्रयोग राजस्थानी भाषा में सम्मान देने के लिए प्रयोग किया जाता है। मम्मी जी जैसे शब्दों के प्रयोग के द्वारा लेखिका ने राजस्थानी संस्कृति को आधुनिकता से जोड़ा है। साथ ही साथ दाल-बाटी, चूरमा जैसे पारम्परिक व्यंजनों का भी परिचय दिया है। मीनू का सम्बन्ध राजस्थानी राजपूत परिवार से होता है परन्तु उसका विवाह राजस्थानी जैन परिवार में होता है। राजस्थानी जैन परिवारों में खान-पान को लेकर कुछ नियमों को भी लेखिका ने इस प्रकार बताया है, "यह सुमेधा का ससुराल जहाँ प्याज़ तो दूर की बात है, गोभी, अंकुरित दालें तक निषिद्ध थी और चौमासे में हरी सब्जियाँ भी।"¹⁰ इस प्रकार स्पष्ट है कि राजस्थानी जैन परिवारों में खान-पान को लेकर कुछ पाबन्दियाँ होती हैं। ('चौमासा' शब्द यहाँ वर्ष के उन चार महीनों के लिए प्रयोग किया गया है जब बरसात में हरी सब्जियाँ उपलब्ध होती हैं)।

रूढ़ियाँ भी संस्कृति का ही अंग हैं। रूढ़िवादिता का अर्थ हैं-परम्परागत बातों को मानते चले आने का सिद्धान्त। वे परम्परागत बातें, समय में बदलाव के साथ जिनमें परिवर्तन आवश्यक है। ऐसी परम्परागत बातों का मानना ही रूढ़िवादिता है। 'वीरांगना' नामक कहानी में इन्हीं रूढ़ियों का वर्णन किया है। राजस्थान में लड़कियों की शिक्षा के सम्बन्ध में जो रूढ़िगत सोच है उसका वर्णन लेखिका ने अपनी कहानियों में किया है। लड़कियों की शिक्षा पर ध्यान नहीं दिया जाता है। लड़कियों को पढ़ने के लिए अपने घर वालों के साथ संघर्ष करना पड़ता है। नीलाजंजा इसी रूढ़िवादी मानसिकता को व्यक्त करती हुई कहती है, "मैंने पढ़ने के लिए लड़ाई की है, आगे भी करनी होगी। क्योंकि ट्वैल्व के बाद इस गाँव में है ही क्या? और बाहर भेजेगा कौन? बानियों की लड़कियाँ इस गाँव में प्राइवेट बी.ए. कर ले वही बहुत है। ट्वैल्व में फर्स्ट आकर भी आगे कुछ नहीं कर पाती।"¹¹

अतः स्पष्ट है आज भी राजस्थान के राजपूत सम्प्रदाय में लड़कियों की शिक्षा को लेकर उदासीनता है। लड़कियाँ अपनी शिक्षा को लेकर जागरूक हैं, इसलिए संघर्षशील हैं। हाँ, जबकि उसी समाज के बानियों के वर्ग में लड़कियों में शिक्षा का प्रसार देखा जा सकता है।

स्पष्ट है 'बौनी होती परछाई' संग्रह की कहानियों में पूरी तरह से राजस्थानी संस्कृति की झलक दिखाई देती है। राजस्थान की संस्कृति, रीति-रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा, रूढ़ियों आदि का वर्णन 'बौनी होती परछाई' कहानी संग्रह की कहानियों में देखा जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. हरिनारायण (सं.), कथाक्रम, अंक जुलाई 2006
2. बाबू, गुलाबराय, भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, ग्वालियर: साहित्य प्रकाशन मन्दिर, 1969
3. मनीषा कुलश्रेष्ठ, बौनी होती परछाई, पृ. 25
4. वही, पृ. 43
5. वही, पृ. 42
6. वही, पृ. 42
7. वही, पृ. 25
8. वही, पृ. 43
9. वही, पृ. 28
10. वही, पृ. 26
11. वही, पृ. 110



मुंशी प्रेमचन्द कृत 'नशा' (कहानी) : संवेदना के धरातल पर

-सुश्री तेजिन्दर कौर

संवेदना मानव को लेखन से जोड़ती है। संवेदना के धरातल पर लेखक समाज की यथार्थता, रहस्यात्मकता और घोर सत्य को अपनी बुलन्द आवाज़ द्वारा सम्प्रेषित करता हुआ सामाजिकता को समय एवं स्थिति के प्रति जागरूक करवाने का प्रयत्न करता है। तत्कालीन परिवेश और परिस्थितियों को प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करना लेखक की प्रेरणा है। विचारों की तीव्रता, सुबोधता एवं समय के सत्य को एक सांचे में ढालकर लेखक अपने लेखन को मुखर करता है।

जीवन की वास्तविकता को अपनी जीवन्त शैली में प्रस्तुत करने वाले और अपनी महान रचनाएं हिन्दी साहित्य-झोली में अर्पित करने वाले मुंशी प्रेमचन्द इतिहास के देदीप्यमान सूर्य हैं। हिन्दी साहित्य के 'कथा सम्राट' की संज्ञा से अलंकृत प्रेमचन्द ने अपनी महान कृतियों के माध्यम से पाठक वर्ग के मन को झकझोर उसे तत्कालीन समस्याओं और विषमताओं के प्रति जागरूक किया है। लोक जीवन के विविध आयामों को प्रकट करती इनकी कहानियां जीवन की जीवन्तता को मुखर करती हुई सामाजिकता का संघर्ष, पीड़ा, टूटन, द्वन्द्व प्रकट कर मानव जीवन की सत्यता को स्पष्ट करती हैं।

भारतीय समाज के ग्रामीण और नगर वर्गों को आधार बनाकर उन्होंने उसकी विविध क्षेत्रीय समस्याओं का अंकन और उन समस्याओं का समाधान अपनी कृतियों में किया है। सामंतयुगीन कथा को आधार बनाकर प्रेमचन्द ने अनेक सामाजिक, ऐतिहासिक कुवृत्तियों का उल्लेख करते हुए उनके विडम्बनात्मक परिणामों की ओर भी संकेत किया है।

सामाजिक विषमता, संघर्ष एवं आदमी की बदलती मानसिकता पर आधारित कहानी 'नशा' प्रेमचन्द की चर्चित कहानियों में से एक है। शोषक और आततायी शक्तियों के बीच संघर्ष की मुंह बोलती तस्वीर प्रस्तुत करती यह कहानी जमींदारी व्यवस्था के प्रति विरोध और संघर्ष की गाथा है। प्रेमचन्द ने इसमें तत्कालीन सामाजिक सच को अभिव्यक्ति दी और ग्राम्य जीवन की विडम्बनाओं को सचित्र प्रस्तुत किया। समाज के हितचिंतक और सच्चे दिग्दर्शक होते हुए उन्होंने यह अनुभव किया कि जमींदारी के चक्र में निम्नवर्ग पिसता जा रहा है। जनता को जागरूक करने के उद्देश्य से और अपनी संवेदना के प्रस्तुतीकरण के लिए प्रेमचन्द ने जमींदारी व्यवस्था के कुत्सित कर्म को अभिव्यक्ति की है।

आलोच्य कहानी दरिद्र वर्ग के जीवन की विडम्बना को प्रस्तुत करती हुई जमींदारों की स्वाभाविक मानसिकता और शोषकीय वृत्ति का चित्रण करती है जिसके साथ आम आदमी दरिद्रता की चक्की में पिसता चला जाता है। जमींदार और निर्धन वर्ग के जीवन पर तुलनात्मक रूप से दृष्टिपात करते हुए जमींदारों के अमानुषिक व्यवहार पर भी प्रकाश डालती है।

'नौकरों ने बिस्तर लगाने में ज़रा भी देर की, दूध ज़रूरत से ज्यादा गर्म या ठंडा हुआ, साईकल अच्छी तरह साफ नहीं हुई, तो वह आपे से बाहर हो जाता।'

जमींदारों के स्वाभाव को चित्रित करता यह वक्तव्य निम्न वर्ग के शोषण को व्यक्त करता हुआ उनके प्रति संवेदना जगाता है। सामंतीय व्यवस्था का भयावह चित्र प्रस्तुत करने के साथ-साथ अमीरी के नशे में व्यक्ति के मानसिक और

व्यावहारिक परिवर्तन पर प्रकाश डालना भी कहानी का महत्त्व रहा है। अमीरों का उद्वण्ड व्यवहार और विक्षोभ दरिद्र वर्ग को दरिद्रता के चक्र से बाहर नहीं निकलने देता। उस विक्षोभ के प्रति विद्रोह और गरीब वर्ग को जागृत करना लेखक का उद्देश्य रहा है। जमींदार वर्ग या अमीर और धनवान् अपने धन, ऐशो-आराम और गरीब मजदूरों को अपनी जायदाद समझते हुए उनका मनचाहा उपयोग करते हैं, किन्तु गरीब के लिए उनके अपने हाथों से किया परिश्रम की उसकी सम्पत्ति है।

“मैं जमींदारों की बुराई करता, उन्हें हिंसक पशु और खून चूसने वाली जोंक और वृक्षों की चोटी पर फूलने वाला बंझा कहता।’ लेखक के इस कथन से परिलक्षित होता है कि तत्कालीन परिवेश में जमींदारों का कितना बोलबाला था और जमींदार गरीबों के लिए खून चूसने वाली जोंक के सामान थे।”²

मानवीय स्वभाव एवं मानसिकता की वास्तविकता को परिलक्षित करती ‘नशा’ कहानी में लेखक ने अमीरी के नशे के छा जाने पर मनुष्य की बदलती मानसिक वृत्ति पर प्रकाश डाला है। ‘मैं’ की शैली में रचित प्रेमचन्द की इस कहानी में दो मुख्य पात्र एक गरीब लड़का जिसको “मैं” की संज्ञा दी गई और दूसरा पात्र ईश्वरी है। ईश्वरी के मन मस्तिक पर तो जमींदारी का नशा पहले से ही छाया है क्योंकि जमींदारी उसके खून में है, परन्तु गरीब लड़के को जब छुट्टियों में ईश्वरी के साथ रहने का अवसर मिलता है तो उसकी मानसिकता और व्यावहारिकता पर वही परिवेश छा जाता है, जिसमें वह विचरण कर रहा है। वास्तविकता यह है कि परिस्थिति वश व्यक्ति की मानसिकता और वृत्ति बदल जाती है जिस के कारण कई बार वह खुद के अस्तित्व तक को भूल जाता है। गरीब लड़का ईश्वरी के घर के वातावरण में एकाकार हो ईश्वरी के समान व्यवहार करने का आदी हो जाता है। खुद के दैर्द्रयपूर्ण जीवन को भूल अपने आपको मालिक का बाना पहनाए वह नौकरों से कुत्सित व्यवहार करता।

“कोई साढ़े ग्यारह बजे महरा आया। बड़ा मुंह लगा नौकर था। घर के धंधों में मेरा बिस्तर लगाने की उसे सुधि न रही। अब जो याद आई तो भागा हुआ आया। मैंने ऐसी डांट बताई कि उसने भी याद किया होगा। ईश्वरी मेरी डांट सुनकर बाहर निकल आया और बोला-

“तुमने बहुत अच्छा किया। ये सब हरामखोर इसी व्यवहार के योग्य हैं।”³

‘कौआ चला हंस की चाल, अपनी चाल भूल गया’, यह उक्ति लड़के के चरित्र को उद्घाटित करती है। स्वयं की पहचान को भूलकर दूसरे का मुखौटा पहनने मात्र से जीवन बदल नहीं जाता। समय आने पर वास्तविकता अपने आप मुखर हो जाती है।

नशा कैसा भी हो उसे वर्जित ही माना जाता है। नशे की अवस्था में क्योंकि व्यक्ति अपनी सुध-बुध खो कर गलत रास्ते पर विचरन करने लगता है, इसलिए नशा एक बुरी आदत है। वास्तविकता तो यह है कि धन अमीरी और ऐश्वर्य का नशा तो ऐसा नशा है जिसके प्रभाववश व्यक्ति मानवीयता को भूल अमानवीयता के व्यवहार का शिकार हो कर अपनी मनुष्यता को धीरे-धीरे समाप्त कर देता है। बुद्धि, सद्विचार, प्रेम, लगाव और आनन्द इस नशे की नदी में बह जाते हैं और मनुष्य का मन मानवी से दानवी वृत्ति का शिकार हो अमानवीयता पर उतर आता है। मनुष्य स्वयं को बादशाह समझता हुआ अभिमान और लालच की नदी में डूबता जाता है तो उसे बचाने वाला कोई नहीं होता, स्वयं ईश्वर भी नहीं। ऐसी कुत्सित वृत्तियां इन्सान को हैवान बना देती है।

मनुष्य की इसी मानसिकता और अभिमानी वृत्ति को प्रदर्शित करती कहानी ‘नशा’ गरीब लड़के के व्यवहारगत परिवर्तन पर प्रकाश डालती है। परन्तु वापसी के वक्त गाड़ी में सफर करते समय उसे ऐसी ठोकर लगती है कि उसका

सारा नशा चूर-चूर हो जाता है और वास्तविकता उसकी आंखे खोल देती है। गाड़ी की इंटर क्लास में सफर करते समय भीड़ भरे वातावरण में उसका दम घुटने लगता है और वह उस भीड़ पर अपना क्रोध उगलने लगता है जबकि वह भूल चुका है कि अपने वास्तविक जीवन में वह कभी भी गाड़ी में सफर करने के सक्षम न हो सका। परिवेश के प्रभाववश वह इतना अन्धा हो चुका है कि अपने अस्तित्व तक को भूल चुका है। एक आवाज़ एक ठोकर की भांति उसे नशे की नींद से जगाकर उसको असल भूमि पर पटक कर उसे अहसास दिलाती है कि अमूल्य जीवन क्या है।

“अमीर होकर क्या आदमी अपनी इन्सानियत खो देता है?”

“दफ्तर मां घुस पावत नाहीं, औयै इत्ता मिजाज़?”

“व्हाट एन इडियट यू आर बीर!”(तुम कैसे ज़ाहिल हो वीर)⁴

और मेरा नशा कुछ-कुछ उतरता मालूम होता था। लेखक के उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि पराए धन और झूठ का नशा अधिक समय तक नहीं रहता। एक ठोकर व्यक्ति की वास्तविकता को उसकी आंखों के सामने ला खड़ा कर देती है।

एक प्रेरणादायी शक्ति के रूप में ‘नशा’ कहानी व्यक्ति को अपने अस्तित्व रक्षा की प्रेरणा देती है। इसके साथ-साथ शोषक और आततायी शक्ति के बीच के संघर्ष की यह कहानी सामाजिक विषमता के विरुद्ध कठोर आवाज़ भी उठाती है और आदर्श समाज की कल्पना करती है जहां स्वराज हो, कोई धनी-निर्धन या छोटा-बड़ा न हो। मानव-मानव के बीच की दूरी को समाप्त करके भाईचारे और इन्सानियत को स्थापित करना लेखक का मूल मंतव्य रहा है।

संदर्भ -

1. प्रेमचन्द की श्रेष्ठ कहानियां, स. डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ. स:-34
2. प्रेमचन्द की श्रेष्ठ कहानियां, स. डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ. स:-34
3. प्रेमचन्द की श्रेष्ठ कहानियां, स. डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ. स:-39
4. प्रेमचन्द की श्रेष्ठ कहानियां, स. डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ. स:-42
5. डॉ० इन्द्रनाथ मदान (सम्पादक), प्रेमचन्द्र की श्रेष्ठ कहानियां, प्रकाशक-हिन्दी पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, दिलशाद गार्डन, जी.टी. रोड , दिल्ली-11. संस्करण-2001.



कालजयी जीवन मूल्य तथा भक्ति साहित्य

-डॉ. अमरदीप दयोल

साहित्य, जीवन और मूल्यों का सम्बन्ध प्राचीन काल से है। संदर्भ चाहे बदल जायें, जीवन - दर्शन परिवर्तित हो जाए, काल प्रवाह के अनुरूप नयी भाषा, नये विषय एवं नयी व्याख्याएं आ जायें परन्तु साहित्य में आधारभूत तथ्य जीवन और उससे जुड़े जीवन मूल्य ही रहेगा। बाबू गुलाब राय के अनुसार, “साहित्य के मूल्य जीवन के मूल्यों से भिन्न नहीं हैं। अतः यह बात सर्वमान्य है कि जिसके जीवन में मूल्य है उसके साहित्य में भी मूल्य है।” वह साहित्य समाज द्रोही माना जाता है जिसमें जीवन के मूल्यों को आधार नहीं बनाया जाता क्योंकि सामाजिक जीवन को गतिशील बनाए रखने के लिये मूल्यों का योगदान सर्वमान्य है। साहित्य सदैव समाज को दिशा दिखाता है, समाज की दशा दर्शाता है, नये समाज के निर्माण हेतु शाश्वत जीवन मूल्यों की पुनर्स्थापना करते हुए नये मूल्यों का निर्माण भी करता है। युग बदलता है तो जीवन बदलता है और बदलते जीवन के साथ कुछ मूल्य भी बदलते हैं। वर्तमान परिवेश में भी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों के परिवर्तित होने से समाज मूल्य - संक्रमण की स्थिति से गुजर रहा है, एक ऐसी स्थिति जिसमें जीवन मूल्य जल्दी - जल्दी बदलते जा रहे हैं। वर्तमान समय का सामाजिक जीवन पारंपरिक एवं नवीन मूल्यों के मिलन - बिंदु पर खड़ा है। प्राचीनता के प्रति विद्रोह एवं नवीनता के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। इन्हीं विचारधाराओं के फलस्वरूप पुराने मूल्यों के सामने प्रश्नचिह्न लग गया है। आज विज्ञान का मानव - जीवन पर अधिक प्रभाव है। वर्तमान परिवेश का मनुष्य जीवन में ‘क्षण’ की क्षमता एवं ‘क्षण’ की महत्ता में विश्वास रखता है। परन्तु फिर भी कुछ ऐसे जीवन - मूल्य विद्यमान हैं और सदैव रहते हैं, जो मानव - कल्याण का आधारस्तंभ होते हैं, काल से परे, जो प्रत्येक युग में प्रत्येक संदर्भ में, प्रत्येक परिस्थिति में सार्थक होते हैं।

भारतीय चिंतनधारा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ माने गए हैं। जीवन के सभी मूल्य इन्हीं चारों में समाहित हैं। भक्तिकाल, जो हिंदी साहित्य का स्वर्णिम काल है, में रचित साहित्य इन्हीं मूल्यों की बात करता है। वे मूल्य जो शाश्वत हैं, जो हमेशा मनुष्य जाति को सही राह दिखाने का काम करते हैं। ये मूल्य कालातीत हैं। परिस्थितियां चाहे जो भी हों, इन जीवन मूल्यों का महत्व एवं उपादेयता अक्षुण्ण है। इन्हीं मूल्यों के कारण भक्ति साहित्य भी कालजयी है। उसकी प्रासंगिकता सदा - सर्वदा के लिए बनी रहेगी। वस्तुतः भक्तिकाल के संत तथा भक्त कवियों द्वारा प्रतिपादित यह मूल्य वर्तमान में और भी अधिक प्रासंगिक प्रतीत हो रहे हैं।

भक्तिकाल के निर्गुणवादी संत जिनमें कबीर, नानक, दादू, रैदास, मलूकदास आदि प्रमुख हैं, का उद्देश्य निस्संदेह आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर होना था तथापि उन्हें इस बात का पूरा ज्ञान था कि नैतिक मूल्यों के बिना मोक्ष अथवा ईश्वर प्राप्ति संभव नहीं है। इसीलिये उनकी वाणी में क्षमा, दया, त्याग, क्षमता, विश्वबंधुत्व आदि मूल्यों को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है। संतों का विश्वास था कि इन नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के बिना कोई भी मनुष्य ब्रह्म की अनुभूति नहीं कर सकता। संतों ने आध्यात्मिक साधना के लिये ‘संयम’ के मार्ग को मान्यता दी है। ‘संयम’ को प्राप्त करने वाला मनुष्य स्वाभाविक रूप से पंच विकारों पर विजय प्राप्त करता है।

संतों ने 'सत्य' से बड़ा कोई धर्म और पुण्य नहीं माना है। संत कबीर के अनुसार सत्य ही सबसे बड़ा तप है-

“सांच बराबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप

जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप”²

कबीर के अनुसार सत्य सुख और समृद्धि का उत्पादक है-

“सबहीं ते साँचा भला जो दिल साँचा होय।

साँच बिना सुख नहि है, कोहि करै जो कोय

साँचा सौदा कीजिए, अपने दिल में जानि

साँचा हीरा पाइये, झूठे मूलि हानि।”³

संत दादू दयाल की आस्था है कि सत्य ईश्वर का पर्याय है-

“सांचा नांव अलाह का , सोई सति करि जाणि।”⁴

मानवचेता संतों ने संसार में दया को ही सार बताया है। संत मलूकदास ने तो दया के बिना मक्का, मदीना, द्वारका, बद्रीनाथ, केदारनाथ आदि तीर्थों की महत्ता को भी व्यर्थ माना है-

“मक्का, मदिना - द्वारका, बद्री और केदार।

बिना दया सब झूठ है, कहै मकूल विचार।”⁵

संत रैदास के अनुसार दया से रहित व्यक्ति महापापी तथा नीच है-

“दया धर्म जिन्ह में नाहि, हिरदै पाप की कीच।

रविदास तिन्हहि जानि हो, महा पातकी नीच”⁶

संतों का मानना था कि समानता, एकता, मानवीय ऐक्य बोध, सामाजिक एकता का निर्माण करने के लिए मनुष्य को सभी प्रकार के संप्रदाय, जाति, वर्ण, वर्ग आदि भेदभावों को छोड़ देना चाहिए। संतों के साहित्य में मानवीयता, सामाजिकता, जाति - पाति का अभाव, हिंसा का त्याग, हिंदु - मुस्लिम एकता और विश्व प्रेम का भाव सन्निहित है।

संतों के मूल्य विचार के संदर्भ में डा० हरिश्चंद्र मिश्र ने लिखा है - “संत वर्तमान के विशृंखलित मूल्यों को तोड़कर मूल्यों से पूर्ण भावी जीवन की कल्पना करते हैं। संत वर्तमान से समझौता नहीं करना चाहते हैं। समग्र मूल्यों के साथ समाज की भावी कल्पना में डूब जाना चाहते हैं। इस दौरान उन्हें वर्तमान की परवाह भी है। वे वर्तमान होकर भावी जीवन की कल्पना नहीं करते या कि संतों की चेतना में वायवीयता नहीं है, वे मिट्टी से जुड़ना चाहते हैं। अतः आधुनिक प्रगतिशीलता की पृष्ठभूमि के रूप में इन संतों के काव्य में जीवन की अभिव्यक्ति ढूंढना आवश्यक है।”⁷

आज के भौतिकवादी युग में जब चारों ओर उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रचार - प्रसार है, और समाज मूल्य - हीनता एवं दिशाहीनता की स्थिति में पहुँच चुका है, संतों की निर्मलवाणी एक अति महत्वपूर्ण दिशा - निर्देशक का कार्य कर सकती है, क्योंकि उसमें भौतिक संसार अथवा आध्यात्मिक जगत किसी एक पक्ष की बात नहीं बल्कि भौतिक संसार में रहते हुये आध्यात्मिक विकास की बात है।

संतों की ही भांति सूफी साधक भी अनेक मानवीय मूल्यों, यथा-प्रेम, संतोष, धैर्य, दैन्य, विश्वास आदि को प्रतिपादित करते हैं। सूफियों ने सर्वाधिक महत्व प्रेम को दिया है, ऐसा प्रेम जो लौकिक स्तर से आरंभ होता है और निरंतर विकसित होते हुये अलौकिक बन जाता है। ऐसी स्थिति में साधक को संपूर्ण विश्व में प्रियतम की छवि दिखाई

देने लगती है और उसका हृदय सारे संसार के प्रति प्रेम से भर जाता है। प्रेम का यह सार्वभौमिक वैश्विक स्वरूप सूफी साधकों की सर्वाधिक महान देन है क्योंकि प्रेम सदैव देश काल की सीमाओं से मुक्त होता है तथा अपने वास्तविक रूप में वह संकीर्ण भी नहीं होता। प्रेम का यही स्वरूप वर्तमान युग में अभीष्ट है।

जायसी भारतीय सांस्कृतिक एकता के भी प्रतीक हैं। वे कवि होने के साथ - साथ समन्वय और समरसता के महान उद्घोषक भी हैं। हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मावलंबियों के लिए उन्होंने जो सांस्कृतिक आदर्श रचा है वह आज के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अनुकरणीय ही है। क्योंकि चेतना के द्वारा ही मनुष्य पशुत्व को छोड़कर दिव्यत्व की प्राप्ति करता है। मानवता, प्रेम, सह- अस्तित्व, बंधुत्व आदि सामाजिक चेतना से ही उत्पन्न होते हैं और इसी चेतना का आह्वान सूफी कवियों ने दिया है। सूफियों ने धर्म और मजहब से ऊपर उठकर मनुष्य को प्रथम स्थान दिया है। डा० शिवसहाय पाठक लिखते हैं “पद्मावत में मानवता के उस सच्चे स्वरूप का उद्घाटन किया गया है। जो प्रेम, उदारता, त्याग, साहस, सहिष्णुता और बलिदान की व्यापक भूमिका पर प्रतिष्ठित है। अतः उसका उद्देश्य व्यापक और उदार मानवता का प्रसार और मानव - हृदय का परिष्कार और विस्तार करना है, मनुष्य इस काव्य सरोवर में स्नान करके स्वाभाविक और विशुद्ध मानव बन कर निकलता है।”⁸

भक्त कवि तुलसीदास का राम काव्य तो भारतीय जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना के लिये उत्तम साधना बना है क्योंकि राम ही भारतीय संस्कृति का चरम मूल्य है। राम में करुणा, त्याग, प्रेम, मैत्री, औदार्य, सहिष्णुता, सेवा आदि महान मूल्यों की सम्यक् अभिव्यक्ति हुई है। तुलसीदास ने मानवीय मूल्यों की समग्रता के रूप में राम को ही देखा है। डा० प्रेमशंकर के शब्दों में, “तुलसी ने अपने राम को अपने समय से सम्बद्ध किया। तुलसी के राम मध्यकालीन सामंती भोग - विलासी मूल्यों को चुनौती देते हैं और इस प्रकार एक नये सक्षम काव्य - नायक बनते हैं। राम व्यक्ति चरित्र नहीं समाज नायक, लोक नायक हैं। वे उच्चतर मानव - मूल्यों के प्रतीक हैं, मूल्य - समुच्चय हैं। वे मानवीय मूल्य जिन्हें उन्होंने आचरित किया है, यह ‘पर उपदेस कुशल बहुतेरे’ की स्थिति नहीं है।”⁹

राम अनैतिकता की विध्वंसकारी प्रवृत्तियों से हमेशा संघर्ष करते प्रतीत होते हैं। वे धर्म रक्षक के रूप में दृष्टिगत होते हैं। निषाद को गले लगाना, भील एवं किरातों के साथ रहना आदि प्रसंगों के माध्यम से वह वर्ण - वर्ग भेद को समाप्त करते हैं, ह्युआछूत जैसी (केवट - प्रसंग में) सबसे मलिन सामाजिक समस्या के विरुद्ध उंगली उठाते हैं। राम ने सुग्रीव की सहायता की और बालि का वध करके तानाशाही व्यवस्था का नाश दिखाया और शोषित, पीड़ित वर्ग को सहारा दिया। तुलसी द्वारा प्रतिपादित ‘रामराज्य’ तो सभी मूल्यों का आदर्श है। डा० योगेन्द्र प्रताप सिंह के अनुसार, ‘तुलसी के राम व्यक्ति न होकर नैतिक मूल्यों की अवधारणा की स्थापना है। रावण एक तंत्रात्मक तानाशाह का प्रतीक है, ठीक उसके प्रतिकूल राम लोकतंत्र के पोषक। यदि नैतिक मूल्य की समाज तथा आचरण में अभिव्यक्ति नहीं है तो लोकतंत्र और रामराज्य आदि स्थापनाओं का कुछ भी नहीं महत्व है।¹⁰ ‘मानस’ में चित्रित ‘रामराज्य’ की प्रजा सर्वथा सुखी, संतुष्ट धर्मशील, भयहीन है-

चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय सोक न रोग
नहिं दरिद्र कोई दुखी न दीना।¹¹

आज जिस प्रजातंत्र की हम बात करते हैं या गांधी जी को जो ‘राम राज्य’ अपेक्षित था यह वही राज्य है जिसमें वैषम्य नष्ट होकर साम्य की स्थापना हो, कोई किसी से वैर न रखता हो, वहाँ सब शोक विहीन और प्रसन्न दिखाई दें। जब सभी व्यक्ति परस्पर प्रेम करते हुये अपने - आपने कर्तव्य का पालन करने लगेंगे तो त्रिताप स्वयं नष्ट हो जाएगा-

“सब नर करहिं परस्पर प्रीति, चलहिं स्वधर्म निरतश्रुति नीति।
चरिउ चरम धर्म जगमाहीं, पूरि रहा सपनेउ अघ नाही।।”

पश्चिमी देशों के नेताओं ने जिस आदर्श शासन व्यवस्था की या Welfare state की बात कही है, उसे सदियों पहले तुलसी के ‘रामराज्य’ के रूप में देखा जा सकता है।

इस प्रकार तुलसी ने जिस प्रकार अपने काव्य में मूल्यों की समुन्नत व्याख्या की है उससे उनका काव्य आज भी सर्वजन हिताय बना हुआ है।

कृष्ण भक्ति शाखा भक्तिकालीन सगुणकाव्य धारा की दूसरी सशक्त शाखा है। कृष्ण काव्य के रचयितायों ने युगीन परिस्थितियों के यथार्थ को कृष्ण और कंस के माध्यम से एक विराट फलक पर प्रस्तुत किया यद्यपि कृष्ण कवि समाज को प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत नहीं करते तथापि समाज में साम्यता की स्थापना उसकी रचनाओं का प्रमुख स्वर है। कृष्ण भक्त कवियों में मूर्द्धन्य कवि सूरदास ने लोक जीवन और किसानों की चारागाही संस्कृति का वर्णन करके सामाजिक एकता तथा समानता को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है। डा० प्रेम शंकर के अनुसार “सूर गोकुल के लगभग सभी पात्रों का सामाजिकरण करते हैं, उन्हें जीवन की खुली निर्बन्ध भूमि में उतारते हैं। यमुना के कुल कछार, वंशी वट, वृंदा वन, खुले चारागाह सब कुछ जैसे सामंती राज प्रासादों को नकारता है।”¹² भक्ति के क्षेत्र में वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्गों को समान मानते हैं क्योंकि-

‘कस्यो सुक श्री भागवत विचार।

जाति पाति कोऊ पूछत नाहि, श्रीपति के दरबार’¹³

अगर ‘रामराज्य’ तुलसी का प्रदेय है तो वृंदावन लोक सूर की देन है। इस लोक में सभी लोक समानता के आधार पर सुख, शांति और आनंद प्राप्त करते हैं।

कृष्ण भक्त कवियों ने पूजा पाठ तथा अन्य धार्मिक आचार - व्यवहारों से अधिक सामान्य जन के बीच प्रचलित उत्सवों, पर्वों, त्योहारों, झांकियों और उनकी जीवनचर्या का वर्णन किया है। कृष्ण भक्त कवियों की रचनाओं में जो ब्रजमंडल उपस्थित है, वह ग्राम जन, कृषक समाज और चरवाहों की ज़िंदगी का समाज है, सीधा - सादा, सरल और निश्छल। उनमें कोई भेद नहीं है। वह सामाजिक समानता को मानने वाला समाज है। समता और प्रेम दो भाव ही उनका संचालन करते हैं।

कृष्ण और कुब्जा के माध्यम से सूर ने इस तथ्य की स्थापना की है कि भावना ही सबसे श्रेष्ठ है और सेवा ही प्रेम का आधार है।

सूरदास ने आकाश देवता के स्थान पर पृथ्वी देव के पूजन का शुभारंभ करके सामाजिक चेतना को जागृत किया है। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, “सूर की कविता अपने समय के समाज के पीछे चलने या उसकी आलोचना करने के स्थान पर एक ऐसे समाज की रचना करती है जिसमें लोक और शास्त्र के बंधनों से स्वतंत्र मानवीय भावों और मानवीय सम्बन्धों का सहज स्वाभाविक विकास संभव हुआ है। जायसी के ‘सिंहलद्वीप’ तथा तुलसी के ‘रामराज्य’ की तुलना में सूर का ‘वृंदावन’ उस काल के सामंती समाज की सीमाओं से अधिक स्वतंत्र है। उसमें स्वतंत्र मानवीय सम्बन्धों की आकांक्षा अधिक मूर्त और ग्राह्य रूप में व्यक्त हुई है। वह मानवीय भावों की शक्ति और मानवीय सम्बन्धों के सौंदर्य का बोध जगाने वाला लोक है।”¹⁴

कृष्ण कवियों में मीरा बाई तो सीधा समाज से विद्रोह करती है। प्रेम दीवानी मीरा रानी से जोगन बन जाती है। श्रेष्ठ क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर भी चमड़े का काम करने वाले संत रैदास को अपना गुरु मानती है। सामाजिक समानता और प्रेम सिद्धांत का इससे बढ़कर अन्य उदाहरण मिलना कठिन है।

इस प्रकार देखा जाए तो भक्ति साहित्य की प्रत्येक शाखा में ऐसे मूल्य प्रतिपादित किये गये हैं जो मानव जीवन को उच्चतर भाव भूमि की ओर लेकर जाते हैं। चाहे समाज की बात हो अथवा व्यक्ति की, सांसारिक जीवन का प्रश्न हो या अध्यात्म का क्षेत्र हो, भक्ति निर्गुण ईश्वर की हो या साकार ब्रह्म की भक्तिकालीन साहित्य परंपरा मूल्यों के साथ - साथ कई ऐसे नये मूल्यों की स्थापना करता है जो आज भी प्रासंगिक है और आज उनकी उपादेयता, आवश्यकता बढ़ी ही है। इतना ही नहीं सामाजिक संरचना को अथवा मानव मात्र के जीवन को हानि पहुँचाने वाले नकारात्मक मूल्यों अथवा आचार व्यवहारों का निषेध ही नहीं किया बल्कि खुले शब्दों में उनकी निंदा भी की है। वैसे तो प्रत्येक युग का साहित्य अपने समाज के दिशा - निर्देश हेतु प्रेरक एवं उदात्त तत्वों का संकेत भी देता है। महान् साहित्यकार भविष्य द्रष्टा भी होते हैं और आने वाले समय की परिस्थितियों, प्रश्नों, समस्याओं को भांप लेते हैं तथा उनके समाधान हेतु मार्गदर्शन भी देते हैं। ऐसे साहित्य को कालजयी साहित्य माना जाता है। हमारा भक्ति साहित्य भी इसी कोटि का साहित्य है जिसमें ऐसे जीवन मूल्य समाहित हैं जो किसी भी युग में, किसी भी देश, स्थान तथा परिस्थिति में मानव समाज को दिशा-निर्देश दे सकते हैं। भक्ति साहित्य में प्रतिपादित मूल्य इस साहित्य को केवल अपने युग का दर्पण ही नहीं बल्कि आने वाले युगों के लिये प्रकाश - स्तंभ के रूप में भी स्थापित करते हैं।

संदर्भ -

1. डा० गुलाब राय, साहित्य के मूल्य, साहित्य समीक्षा, पृ० 18
2. कबीर ग्रंथावली, श्याम सुंदर दास (संपा०), साखी 349.
3. वही, साखी 67 - 68
4. दादू दयाल की बानी, भाग - 1,13/17
5. मलूक दास जी की बानी, पृ० 33
6. डॉ० पृथ्वीराज सिंह, रविदास दर्शन, पृ०81.
7. डॉ० हरिश्चंद्र मिश्र, भक्तिकालीन संत साहित्य और मानव - मूल्य, पृ०4.
8. डॉ० शिव सहाय पाठक, मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य, पृ० 197.
9. डॉ० प्रेमशंकर, भक्ति काव्य का समाज - शास्त्र, पृ० 116
10. डॉ० योगेंद्र प्रताप सिंह, तुलसी के रचना सामर्थ्य की विवेचना, पृ० 158
11. तुलसीदास, रामचरित मानम, उत्तरकाण्ड, 6143 - 44.
12. डॉ० प्रेमशंकर, भक्तिकाव्य का समाज शास्त्र, पृ० 82.
13. सूरदास, सूरसागर,पृ० 1231



‘रामचरितमानस’ में शरणागतवत्सलता की घोषणा

-डॉ. सुनीता कोहली

भारतीय संस्कृति के अमर वैतालिक गोस्वामी तुलसीदास का ‘रामचरितमानस’ हिन्दी भाषी भारतीयों का वेद ग्रन्थ है। डॉ. भगवानशरण भारद्वाज की दृष्टि में ‘रामचरितमानस’ भारत की चिरन्तन संस्कृति का निर्मल दर्पण है और है भारतीय जनता के स्वप्नों और आकांक्षाओं का ज्वलन्त दस्तावेज।¹ जिस प्रकार अस्पताल शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करता है, उसी प्रकार ‘रामचरितमानस’ शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य प्रदान करता है।² डॉ. महेश शर्मा ‘पञ्चतीर्थ’ की दृष्टि में शरणागतों-भगवत् प्रपन्नो-राम प्रपन्नो के लिए यह घोषणा है कि मैं (श्रीराम)भक्तों को अभय कर देता हूँ। योग-क्षेम का निर्वाह करता हूँ। माता की तरह रक्षा करता हूँ। ‘मम पन शरणागत भय हारी।’ ये सब भगवद् घोषणाएँ सुन्दरकाण्ड का सर्वस्व हैं। प्रपन्नो के लिए पारिजात हैं। शरणागतों के प्राण हैं। भगवान राम की आत्मा इन घोषणाओं में गूँज रही है। भक्तों की भूल-चूक को वे भूल जाते हैं। यही तो पतित पावन की पावनता -दयालुता है।³

‘रामचरितमानस’ के ‘सुन्दरकाण्ड’ में भगवान श्रीराम की ऐसी कृपा-दयालुता-शरणागत वत्सलता- पतित पावनता की सुन्दर और आश्वासन पूर्ण घोषणा मिलती है। दास शिरोमणि हनुमान के शौर्य -वीर्य पराक्रम, उत्साह मति-प्रताप-सौशील्य-माधुर्य और नीति-निपुणता की झाँकी मिलती है। ‘करहि सदा सेवक पर प्रीती’ के गुरु-मन्त्र से दीक्षित विभीषण का आत्मसमर्पण मिलता है। सीता और राम के अर्धमिलन सूचक सन्देशों का आदान-प्रदान मिलता है। परस्पर मिलन की आशा अंकुरित होती है। धैर्य और सन्तोष, आश्वासन और प्रेम की रेखा क्षितिज में दिखाई देती है।⁴

कवि ने ‘मंगलाचरण’ में परम शान्ति देने वाले भगवान राम की वन्दना की है। रामप्रिय भक्त हनुमान को सात विशेषणों से विभूषित कर उन्हें नमन किया है। डॉ. महेश शर्मा ‘पञ्चतीर्थ’ ने माना है कि कवि ने रघुपतिप्रिय दूत को रघुपति से, भक्त को भगवान से मिला दिया है। इस काण्ड में उस रघुपतिप्रिय दूत को वैसा कर्म करना है, जो उन्हें ‘दूताग्रगण्य’ की उपाधि से विभूषित कर दे।⁵ डॉ. शिवाधार चौबे ने अपने लेख ‘हनुमान द्वारा सीता की खोज: एक प्रतीकात्मक विवेचन’ में यह माना है कि ‘हनुमान’ का अर्थ है जिसका मान नष्ट हो चुका है। आत्माभिमान साधना जगत का दारुण प्रत्युह है। यही कारण है कि हनुमान बार-बार लघुरूप धारण करते हैं। मार्ग में आने वाली बाधाएँ हैं सत्वगुणी माया की बाधा -सुरसा, रजोगुणी माया की बाधा-लंकिनी, तमोगुणी माया की बाधा- सिंहिकाये तीनों ही त्रिगुणात्मिका माया के तीन रूप हैं।⁶ लंका में पवनपुत्र के साम-दाम-दण्ड-विभेद विविध रूपों की धूप छांह दर्शनीय है। कभी ब्रह्मपाश में बंध-जाना, कभी उछल कर कनक भवनों पर चढ़ जाना। अग्नि ज्वालाओं के बीच प्रलयंकर रूप धारण करना। कभी माता सीता के सामने भोलापन धारण करना, कभी कनक भूधराकार रूप धारण। कभी विप्र रूप धारणकर विभीषण से मिलना पवनपुत्र की शक्ति और आकृति के सुन्दर रूप हैं।⁷

हनुमान लंका पहुँचने पर रावण को तामसी निद्रा में सुप्त पाते हैं जबकि विभीषण स्वयं उनके प्रवेश से पहले ही सतोगुणी निद्रा से जाग जाता है। वह राम-राम सुमिरन कर, साधुता -सज्जनता की संज्ञाओं से अभिहित हो जाता है। विभीषण राम भक्त हनुमान से प्रश्न करते हैं कि आप अपना परिचय दें। क्या आप हरि के दासों में से कोई एक हैं? मेरी

हृदय रूपी भावनाएँ भक्ति से ओत-प्रोत हो रही हैं। क्या आप दीनों से प्रेम करने वाले स्वयं श्रीराम हैं जो अपने उस भक्त को 'बड़भागी' बनाने आए हैं, जो आपसे 'भक्ति -वर प्राप्त' कर आप की भक्ति करना भूल चुका है। क्या मुझ अनाथ 'तामस देही' पर भगवान श्रीराम कृपा करेंगे? विभीषण के प्रश्नों का उत्तर देते हुए हनुमान प्रभु श्रीराम का अनुग्रह, भक्त-वत्सलता, प्रभु की रीती और सेवक के प्रति उनकी प्रेम भावना का वर्णन करते हुए कहते हैं..... 'सुनहु विभीषण प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती।।' ऐसे स्वामी श्रीराम की भक्ति को भुला कर, विषय भोगी मनुष्य अपने जीवन को स्वयं दुःखमयी बनाने वाले हैं।

कवि तुलसीदास ने अशोक वाटिका प्रसंग में माता सीता के वियोग को 'कारण रूप' देकर रामभक्त हनुमान के ('प्रभु कृपा करें') 'आशीर्वाद -कार्य' का विशेष विधान रूपायित किया है। जिस समय सीता अशोक वृक्ष से अनल सदृश नूतन किसलय माँग रही थी। हनुमान ने मुद्रिका फेंकने का यह उपयुक्त अवसर समझा। मुद्रिका में तथा अनल सदृश अशोक किसलयों में अद्भुत समानता थी.... तुलसी सीता की मुद्रिका जन्य हर्षविह्वलता पर रोक लगा देते हैं। वे तुरन्त सीता के मन में द्वन्द्व उठाते हैं। यह मुद्रिका आई कहाँ से? कौन ले आया? यहाँ तो कोई नहीं दिखता। क्या मेरे अजेय पति को किसी ने जीत तो नहीं लिया? माया से ऐसी अँगूठी बनायी नहीं जा सकती। सीता इन प्रश्नों से दुःखी और व्याकुल हो जाती है। माता सीता की पीड़ा को देखते हुए तभी हनुमान प्रकट होते हैं 'रामचन्द्र गुन बरनै लागा। सुनतहि सीता कर दुख भागा ।।' सीता का प्रतीकार्थ विवेचित करती हुए डॉ. नीरजा सूद मानती है कि हनुमान द्वारा राम का यशोगान सुनकर सीता आनन्दातिरेक को प्राप्त होती है। वह अपनी स्नेहपूर्ण कृतज्ञता प्रकट करते हुए हनुमान को अजर-अमर, गुणनिधि तथा राम के कृपापात्र होने का आशीर्वाद देती है..... 'करहुँ बहुत रघुनायक छोहूँ।' डॉ. महेश शर्मा के विचार में माता सीता ने जितना स्नेहसिक्त आशीर्वाद सपूत हनुमान को दिया उतना तो अपने सपुत्रों लवकुश को भी नहीं दिया होगा। भगवान में भक्त की भक्ति स्पृहणीय या वरणीय होती है पर माता सीता अपूर्व-अनुपम आशीर्वाद हनुमान को देती हैं।¹⁰

'रामचरितमानस में शरणागतवत्सलता की घोषणा' भक्त को भगवान की पावनता और दयालुता से युक्त भक्ति पद्धति का साँचा मुहैया करती है। भक्त को भगवान की शरण में जाने से पहले अपने भीतर विभीषण के समान मानसिक संस्कारों का शोधन -बोधन-निष्कासन करना अनिवार्य है। प्रभु श्रीराम की शरण में जाने से पूर्व अपनी सांसारिक विकारों की गाँठों को खोलना अनिवार्य है। विभीषण को 'संत' की संज्ञा से विभूषित करते हुए शिवजी कहते हैं हे उमा! संत की यह महिमा है कि वे बुराई करने पर भी (बुराई करने वाले रावण की) भलाई ही करते हैं। वह रावण को काल के वश छोड़ स्वयं श्रीरघुवीर की शरण जाता है। समुद्र पार पहुँचने पर एक ओर वानर उसे शत्रु-दूत जानते हैं। दूसरी ओर सुग्रीव विभीषण के आने पर राक्षसों की माया पर सन्देह करता है, विभीषण को बाँध देने का सुझाव देता है। 'भेद हमार लेन सठ आवा । राखिअ बाँध मोहि अस भावा।।' भगवान श्रीराम कहते हैं.....

'सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी।।'

इन वचनों को सुनकर हनुमान प्रभु श्रीराम की शरणागत वत्सलता से हर्षित हो जाते हैं। विभीषण के लंका छोड़कर भगवान राम की शरण में आने पर अकेले रामभक्त हनुमान ने अपने सन्त स्वभाव, उदारता, उपकार-परायणता का परिचय दिया। 'सुनि प्रभु बचन हरष हनुमान। सरनागत बच्छल भगवाना।'

डॉ. विष्णुकान्त शास्त्री मानते हैं कि भक्त की प्रेम भावना के वशीभूत हो भगवान रामभक्त के द्वारा किये गये अपराधों और पापों को भी अनदेखा कर देते हैं। भगवान श्रीराम 'तामस देह' के कारण कुंठित विभीषण को अपनी विशाल भुजाओं से जकड़ लेते हैं। उसे हृदय से लगाकर, शोकमुक्त करते हुए, सभी भयभीतों एवं हीनता ग्रन्थि-ग्रस्तों को आश्वासन देने वाली वाणी कहते हैं-¹¹

‘तजि मद मोह कपट छल नाना । करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥’

डॉ. महेश शर्मा 'पञ्चतीर्थ' की दृष्टि में प्रभु की ऐसी घोषणा को सुनकर भक्त की अधीरता दूर हो जाती है। वह भगवदोन्मुख होने का साहस करता है। भगवदशरण भक्त के लिए कल्पवृक्ष की सुखद छाया बन जाती है। भक्तों की भूल चूक वे भूल जाते हैं। यही तो पतित पावन की पावनता -दयालुता है।¹² करोड़ों जन्मों के पापों से मुक्ति देने वाले भगवान श्रीराम के सन्मुख होने मात्र से जीव का उद्धार हो जाता है और भगवान की शरण प्राप्त हो जाती है।

**कोटि विप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू।
सनमुख होई जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥**

डॉ. विष्णुकान्त शास्त्री ने माना है कि बाहरी संत्रास से भी अधिक भयावह भीतरी संत्रास को नवजीवन के उल्लास में बदल देने में यह उक्ति मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए आज भी कल्पलता के समान है।¹³ डॉ. भगवानशरण भारद्वाज ने माना है कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने कहा यदि शत्रु भी शरण में आये और दीन भाव से हाथ जोड़कर दया की याचना करे तो उस पर प्रहार नहीं करना चाहिए। शत्रु दुःखी हो या अभिमानी, यदि वह अपने विपक्षी की शरण में जाये तो शुद्ध हृदय वाले श्रेष्ठ पुरुष को अपने प्राणों का मोह छोड़कर उसकी रक्षा करनी चाहिए। यदि वह भय, मोह अथवा किसी कामना के वशीभूत होकर न्यायानुसार यथाशक्ति उसकी रक्षा नहीं करता तो उसके इस पापकर्म की निन्दा सारे संसार में होती है। शरणागत की रक्षा न करना महान दोष है। शरणागत का त्याग स्वर्ग और सुयश की प्राप्ति को मिटा देता है और मनुष्य के बल-वीर्य का नाश करता है। जो एक बार भी शरण में आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' यह कह कर रक्षा की प्रार्थना करता है, उसे मैं अभय प्रदान करता हूँ, यह मेरा व्रत है।¹⁴

डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने स्वीकार किया है कि राम की शरण में जाते हुए किसी को अपने घोर पापों के कारण भी डरने की आवश्यकता नहीं। शरण में जाने पर भगवान राम सभी को ग्रहण कर लेते हैं। अपने इस शरणागत-रक्षण-धर्म का अत्यन्त सुन्दर विशद निरूपण राम स्वतः विभीषण की शरणागति के अवसर पर करते हैं। वे सुग्रीव की तत्सम्बन्धी चेतावनी का भी निराकरण करते हैं। भगवान श्रीराम का कथन है कि जीव संसार से व्याकुल होकर उनकी ओर अग्रसर होता है, उसी समय उस के समस्त पापों का अंत हो जाता है। जीव का रामोन्मुख होना उसके सम्पूर्ण अघों का निराकरण है। कारण यह है कि समस्त पाप मन की विकृति से होते हैं। उनका संस्कार मन पर भी पड़ता है। इसीलिए उस समय तक जीव रामोन्मुख होता ही नहीं, जब तक कि उसका हृदय निष्कलुष और निर्मल नहीं हो जाता है। भगवान का यह प्रणत-रक्षण धर्म ही भागवतों का एकमात्र अवलम्ब है।¹⁵

निष्कर्षतः 'रामचरितमानस में शरणागतवत्सलता की घोषणा' भक्ति सूत्र का निर्देश है। भक्त का पवित्र संस्कारों को धारण कर भगवान श्रीराम का शरणागत हो जाना 'रामभक्त' की परिभाषा है। मानव मन में अज्ञान का अंधेरा मानसिक विकारों से है। प्रभु श्रीराम की शरण भक्त के लिए प्रकाश स्वरूप एवं कृपास्वरूप है। सच्चा आनन्द, सच्ची खुशी और वास्तविक प्रकाश प्राप्त करने का एक स्वर्णिम अवसर राम की शरण ही है। प्रभु श्रीराम भक्त के अवगुणों को भूल, मात्र

उसकी 'रक्षा की प्रार्थना' स्वीकार करने वाले हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने विभीषण के माध्यम से सांसारिक और पारिवारिक तिरस्कार से पीड़ित मानव को भगवान श्रीराम की शरण दिलाकर आज के भटके दिशाहीन मानव को भक्ति का आदर्श पथ निर्दिष्ट किया है। आज के तनाव ग्रस्त मनुष्य को मात्र अपना मन-संस्कार शुद्ध करना है। अपने भक्ति भावों को पवित्रता और गहराई देनी है कि हे प्रभु, 'मैं तुम्हारा हूँ। तुम्हारी शरण में हूँ।' आज के भौतिकवादी दौर में मानवीय विकारों पर विजय पाने का एकमात्र उपाय भगवान श्रीराम की शरणागतवत्सलता ही है। किसी संत ने कहा है:-

जिसने अपने हाथों को संयम में कर लिया,

उसने एक सुख पाया।

जिसने जिहवा को वश में कर लिया,

उसने सौ सुख पाया।

जिसने नेत्रों को संयम में कर लिया,

उसने हजार सुख पाया।

किन्तु, जिसने मन पर विजय पाई,

वह सुखों के स्रोत पर पहुँच गया।

संदर्भ -

1. डॉ. भगवानशरण भारद्वाज, 'रामचरितमानस और आधुनिक जीवन की समस्याएँ, लोकवाणी संस्थान, दिल्ली 2004, पृ.'प्रवेश पथ'
2. डॉ. महेश सिंह यादव, 'रामचरितमानस' में उपस्थित नीतिपरक तथ्य, विश्वज्योति, नीतिशास्त्र विशेषांक, अप्रैल-मई-2014, पृ.68
3. डॉ. महेश शर्मा, 'पञ्चतीर्थ', तुलसी-मानस मन्थन, अमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992, पृ. 122
4. वहीं, पृ. 122
5. वहीं, पृ. 128
6. डॉ. शिवाधार चौबे, 'हनुमान द्वारा सीता की खोज: एक प्रतीकात्मक विवेचन', (सं.) अरविन्दर पराशर, रामचरितमानस का प्रतीकार्थ विवेचन, सनातन धर्म कॉलेज, होशियारपुर 2006, पृ. 77
7. डॉ. महेश शर्मा, 'पञ्चतीर्थ', तुलसी-मानस मन्थन, अमन प्रकाशन, नई दिल्ली 1992, पृ. 121
8. डॉ. हरिहर गोस्वामी, 'रामचरितमानस और आधुनिक मनोविज्ञान', (संपा.) राममूर्ति त्रिपाठी, तुलसी, इलाहाबाद: लोकभारती, प्र. 2013, पृ. 201.
9. डॉ. नीरजा सूद, 'सीता का प्रतीकार्थ विवेचन' (संपा.) अरविन्द पराशर, रामचरितमानस का प्रतीकार्थ विवेचन, होशियारपुर : सनातन धर्म कॉलेज, 2006, पृ. 90
10. डॉ. महेश शर्मा, 'पञ्चतीर्थ', तुलसी-मानस मन्थन, अमन प्रकाशन, नई दिल्ली 1992, पृ. 123
11. डॉ. विष्णुकान्त शास्त्री, तुलसी के हिय हेरि, इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, 2002 , पृ.- 67
12. डॉ. महेश शर्मा, 'पञ्चतीर्थ', तुलसी-मानस मन्थन, अमन प्रकाशन, नई दिल्ली 1992, पृ. 122
13. डॉ. विष्णुकान्त शास्त्री, तुलसी के हिय हेरि, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 2002 , पृ. 68
14. डॉ. भगवान शरण भारद्वाज, 'रामचरितमानस और आधुनिक जीवन की समस्याएँ, लोकवाणी संस्थान, दिल्ली 2004, पृ. 94
15. डॉ. माताप्रसाद गुप्त, तुलसीदास, विश्वविद्यालय, प्रयाग 1953, पृ. 418

कालजयी रचना 'रामचरितमानस' - प्रतीकार्थ विवेचन

-पवन कुमारी

गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी के अद्वितीय, असाधारण शक्तिशाली कवि, लोकनायक एवं मध्ययुग के महान् चिन्तक थे। उनके प्रखर व्यक्तित्व को देखकर ही नाभादास ने उन्हें कलिकाल का वाल्मीकि और स्मिथ ने मुगलकाल का सबसे बड़ा व्यक्ति एवं जार्ज ग्रियर्सन ने महात्मा बुद्ध के बाद सबसे बड़ा लोकनायक कहा है। उनकी रामचरितमानस भारत की बाईबिल है।

तुलसी जी का 'रामचरितमानस' हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य माना जाता है। जीवन की वास्तविकताओं का विष पीकर उन्होंने 'मानस' द्वारा अमृत की धारा प्रवाहित की। यह ग्रन्थ भारतीय संस्कृति एवं दर्शन का अक्षय कोष है। सम्वत् 1632 में रचित यह महाकाव्य सात काण्डों में विभाजित है।

डॉ० त्रिभुवन नाथ चौबे के विचारानुसार -

“महाकवि तुलसीदास अपने अमर ग्रन्थ 'मानस' की रचना कर जरामरण विरहित यशः कामशेष हो गये। उन्होंने स्वान्तः सुखाय रचित अपने इस ग्रन्थ का लक्ष्य परान्तः सुख ही रखा।” भक्ति और काव्य के मणिकांचन योग का प्रतीक 'मानस' अपनी प्रबन्धात्मकता, मार्मिक प्रसंग विधान, चारित्रिक- महत्ता, सांस्कृतिक गरिमा, सरस सुन्दर संवाद योजना, गंभीर भाव-प्रवाह, आलंकारिकता एवं उन्नत कलात्मकता के कारण हिन्दी साहित्य का अमर कोष है। भारतीय जनमानस में इसके प्रचार एवं प्रसार का कारण है कि 'मानस' किसी एक व्यक्ति या समाज की कथा न होकर मानवता के उत्थान की कथा है।

प्रतीकः अर्थ एवं स्वरूप - प्रतीक अंग्रेजी 'सिम्बल' का पर्याय है। प्रतीक शब्द का तात्पर्य उस प्रत्यक्ष वस्तु से है जो वस्तुतः किसी अन्य पदार्थ का बोध अथवा आभास करवाने की सामर्थ्य रखती है। आधुनिक मनोविज्ञान से हटकर हमारे देश में प्रतीकविधान की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वेद और उपनिषद् प्रतीकात्मक आख्यानों से भरे पड़े हैं। निर्गुण संतों और सूफी कवियों की रचनाएं भी प्रतीकात्मक हैं।

डॉ० अरविन्द पराशर के अनुसार

“प्रतीक क्या है? इसको परिभाषित करने के लिए इतना कह देना प्रासंगिक होगा कि यह 'शब्द' का कभी अभिधार्थ है तो कभी संकेतार्थ”

'रामचरितमानस' का आख्यान प्रतीक - योजना का सशक्त प्रमाण है। श्रीराम रमणशीलता की व्यापक सिद्धि होने के कारण, मात्र इतिहास पुरुष न होकर अक्षर पुरुष भी है। इसका उदाहरण मानस के बालकाण्ड के मंगलाचरण के प्रथम श्लोक को माना जा सकता है। जिसका प्रतिपाद्य अक्षर तत्व ही है।

डॉ० माता प्रसाद गुप्त के विचारानुसार “वस्तुतः हम भली - भाँति परिचित हैं कि आर्यवर्त तथा आर्यवर्त के बाहर

भी प्राचीन काल से जो रामकथा का प्रचार रहा, वह हमारी दिव्य संस्कृति का प्रतीक है।”

रामचरितमानस में प्रयुक्त विविध प्रतीक - ‘रामचरितमानस’ प्रतीक योजना की दृष्टि से उत्कृष्ट काव्य है। तुलसी जी के विराट व्यक्तित्व की तरह उनका प्रतीक विधान भी विराट है। ‘मानस’ की विविध कथाओं व पात्र सृष्टि के अंतर्गत उन्होंने विभिन्न प्रतीकों का सहज व स्वाभाविक प्रयोग किया है। मानस के प्रतीकों को निम्न शीर्षकों में गणित देखा जा सकता है :-

आध्यात्मिक प्रतीक - ‘रामचरितमानस’ ज्ञान, भक्ति एवं अध्यात्म की त्रिवेणी है। ‘मानस’ में आदि से अन्त तक आध्यात्मिकता की सरिता प्रवाहमान है। इस दृष्टि से इसकी प्रतीक योजना अत्यन्त मौलिक एवं सारगर्भित है। ‘मानस’ के नायक ‘राम’ आत्मा के प्रतीक है और नायिका ‘सीता’ बुद्धि की प्रतीक है। दोनों का प्रेम आत्मा और बुद्धि का मिलन है। मारीच मृगतृष्णा का प्रतीक है, पंचवटी में मारीच को देखकर सीता का लोभवश राम से यह कथन कहना इसी का प्रतीकार्थ है।

“सुनहु देव रघुवीर कृपाला, एहि मृग करि अति सुंदर छाला
सत्य संघ प्रभु वधि करि एहि, आनहु चर्म कहति वैदेही”

रावण मोह और अनाचार का प्रतीक है। लक्ष्मण विवेक एवं संयम का प्रतीक है। हनुमान भक्ति का प्रतीक है। रावण का अनुज कुंभकर्ण अहंकार का प्रतीक है। मेघनाथ चंचल वृत्ति का प्रतीक है।

पात्र योजना - प्रतीक रूप - तुलसी जी का ‘मानस’ पात्रों की प्रतीकात्मकता को भी प्रस्तुत करता है। रामभक्ति के उज्ज्वल रत्न ‘मानस’ के अधिकांश पात्र आदर्शवादित, नैतिकता, सत्यता एवं सदाचार के प्रतीक हैं। ‘मानस’ के राम केवल ब्रह्म के प्रतीक ही नहीं, केवल आदर्श राजा के प्रतीक नहीं, वे आदर्श भारतीय परिवार की गौरवशाली परम्परा के भी प्रतीक हैं।

“नृपही प्रानप्रिय तुम्ह रघुवीरा।
सील सनेह छाड़िहि भीरा”

तुलसी जी के काव्य में राम आदर्श राजा के प्रतीक हैं तो उनका शासन आदर्श रामराज्य का प्रतीक है। सीता माता आदर्श पत्नी, लक्ष्मण एवं भरत आदर्श भ्राता, कौशल्या, सुमित्रा आदर्श जननी, दशरथ आदर्श जनक, हनुमान आदर्श सेवक, सुग्रीव व विभीषण आदर्श मित्र के प्रतीक हैं। रावण असत्य का प्रतीक है। शूर्पनखा माया की प्रतीक है। इस प्रकार पात्र योजना में भी मानस में प्रतीकों की उत्तम सृष्टि हुई है।

मनोवैज्ञानिक प्रतीक - ‘मानस’ का काव्य मनोवैज्ञानिक प्रतीकों को भी प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से मंथरा ईर्ष्या की एवं कैकयी कार्यशक्ति की प्रतीक है। रावण आदिम उर्जा का मनोवैज्ञानिक प्रतीक है।

राजनीतिक प्रतीक - ‘मानस’ में राजनीतिक प्रतीकों का भी समावेश मिलता है। रावण द्वारा सीता का अपहरण तुलसी युगीन विदेशियों द्वारा भारत की स्वतन्त्रता के अपहरण का प्रतीक है। अशोक वृक्ष के नीचे बैठी सीता परतंत्र भारतमाता की ही प्रतीक है।

“निज पद नयन दिए मन राम पद कमल लीन।

परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन”

प्राकृतिक प्रतीक – तुलसी जी का ‘रामचरितमानस’ प्रकृति के सुन्दर प्रतीकों को प्रस्तुत करता है। स्थान – स्थान पर नदी, वन, पर्वत, सरोवर, ऋतुओं का बड़ा ही मनोहारी चित्रण मिलता है। यह प्राकृतिक वर्णन उपदेशात्मकता, नैतिकता, शिक्षा एवं मर्यादा के प्रतीक हैं।

“दामिनी दमक रही घन माही
खल की प्रीति यथा थिर नहीं”

“सरिता सर निर्मल जल सोहा,
संत हृदय जस गए मद मोहा।”

प्रांसगिक कथाओं में निहित प्रतीक– तुलसी के ‘मानस’ में वर्णित विभिन्न प्रांसगिक व गौण कथाओं का भी प्रतीक की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। ताड़का वध, अहिल्या उद्धार, परशुराम, शबरी, शूर्पनखा की कथाएं प्रतीकात्मक हैं।

डॉ० अरविन्द पराशर के अनुसार, “ताड़का दुष्प्रवृत्ति या पाप की प्रतीक है, अहिल्या बुद्धि की प्रतीक है, परशुराम जातिवादी संकीर्णता पर राष्ट्रीय एकता की विजय का प्रतीक है, शबरी अछूतवर्ग की प्रतीक है तो शूर्पणखा काम वासना की प्रतीक है।”

आधिकारिक कथाओं में प्रतीक– तुलसी जी के मानस में राम जी के जन्म से लेकर रावण वध तथा राम जी के राज्याभिषेक तक ‘मानस’ की आधिकारिक अथवा प्रमुख कथा का विस्तार मिलता है। कवि ने इसमें अपनी कल्पना एवं प्रतिभा शक्ति द्वारा प्रतीकों का प्रयोग किया है। कथा के पात्र, कथाएं सभी प्रतीकात्मक हैं।

“सियाराममय सब जग जानि।
करौं प्रनाम जोरि जुग पानि।।”

भाषागत प्रतीक – तुलसी का ‘रामचरितमानस’ जहां भाव पक्ष में प्रतीकात्मक है वही भाषागत रूप में भी कवि ने अनेक प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। तुलसी की भाषा में प्रतीक योजना का अनुपम सौन्दर्य दृष्टिगत होता है। राम –सीता के विवाह प्रसंग में ‘तुलसी जी’ लिखते हैं :-

“अरुण पराग जलज भरि नीके।
ससिहि भू अहि लोभ अमी के”

यहां राम जी के हाथ कमल के प्रतीक है। संदूर पराग का प्रतीक तथा राम जी की सांवली भुजा सांप एवं सीता जी का मुख चंद्र का प्रतीक है।

निष्कर्षतः तुलसीदास जी का ‘रामचरितमानस’ प्रतीकात्मकता की दृष्टि से समृद्ध काव्य है। इसमें विभिन्न प्रतीकों की योजना तुलसी जी की विराट प्रतिभा का परिणाम है। तुलसी जी की प्रतीकात्मक शैली में सौन्दर्य की अपार छटा दृष्टव्य है

“हे खग मृग, हे मधुकर श्रेणी, तुम्ह देखी सीता मृग नैनी।

खंजन सुक कपोल मृग मीना। मधुप निकल कोकिला प्रबीना।।”

वस्तुतः तुलसी जी का ‘मानस’ प्रतीकात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट काव्य रचना है।

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. डॉ० श्रिभुवन नाथ चौबे - रामचरितमानस का टीका साहित्य पृष्ठ- 13
2. डॉ० अरविन्द पराशर - रामचरितमानस की प्रतीकार्थ विवेचना - पृष्ठ - 14
3. डॉ० माता प्रसाद गुप्त - तुलसी, पृष्ठ - 78
4. डॉ० अरविन्द पराशर - रामचरितमानस की प्रतीकार्थ विवेचना - पृष्ठ - 34 - 35



भीष्म साहनी की कहानियों में नारीवादी अवधारणा

-श्रीमती ऋतु अनमोल चंद्र

“सृजनशील साहित्य की सार्थकता अपने समकालीन जीवन और परिवेश से जुड़े हुए होने में ही है। वही साहित्य सार्थक है जो जीवन और परिवेश की पूरी विविधता, व्यापकता और गहनता को, अपने तमाम संचालक सूत्रों, अभिप्रायों वर्तमान की छटपटाहटों और एक काम्य अनागत के प्रति उत्कण्ठा, अकुलाहट के साथ एक गहरी संवेदना-सम्पन्न दृष्टि से अभिव्यक्त करता है। यही दृष्टि तथा संवेदना-सम्प्रेषण की सामर्थ्य ही अच्छे लेखन की पहचान है।”¹ समकालीन कहानी मुख्य रूप से मध्यवर्ग से जुड़ी समाज चेतना को लेकर चलती है। इसमें अर्थव्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक चेतना आदि के साथ जुड़े हुए मुद्दे सामने आते हैं। इस समय की कहानी में जाति-व्यवस्था, जाति संघर्ष तथा व्यवस्था के प्रति गहरे व्यंग्य भी दिखाई देते हैं। समकालीन कहानी में नारी के विभिन्न रूपों का चित्रण मिलता है। वर्तमान युग में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंधों में बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया। मूल्य दृष्टि, नैतिक बोध और जीवन परिस्थितियां बदल जाने से नर-नारी संबंधों में परिवर्तन आना सहज था। यह परिवर्तन विवाह और विवाहेतर प्रेम संबंधों दोनों में दिखाई देता है। आजकल पुरुष एकाधिक पत्नियों या प्रेमिकाओं से प्रेमालाप करते हैं। नैतिकता का यह नया बोध है। आर्थिक दृष्टि से नारी ने जो स्वतन्त्रता प्राप्त की, समकालीन कहानी में स्त्री-पुरुष के इन बदलते संबंधों पर बहुत अधिक लिखा गया।

समकालीन हिन्दी साहित्यकारों में बहुआयामी व्यक्तित्व वाले भीष्म साहनी एक सक्रिय रचनाकार हैं जिन्होंने अनवरत साहित्य साधना से विविध विधाओं में सृजन कर समकालीन साहित्य को समृद्ध किया है। “भीष्म साहनी हिन्दी के महत्वपूर्ण कथाकार हैं। वे उन थोड़े से कथाकारों में हैं जिनके माध्यम से हम अपने समय की नब्ज पर हाथ रखकर उसकी एक-एक स्पन्दन को अनुभूत कर सकते हैं।”² वे एक कथाकार के रूप में वास्तविकता को गल्प में बदलने की कला में कुशल हैं। कृष्ण कुमार के अनुसार, “भीष्म साहनी हिन्दी के उन कथाकारों में से हैं जिन्होंने मनुष्य को उसके सपनों, उसके तमाम सुख-दुःख, हार-जीत तथा उसके संघर्ष और उसकी उपलब्धियों के साथ अपने कथा-साहित्य में प्रस्तुत किया है।”³

भीष्म साहनी के कथा साहित्य का प्रमुख संदर्भ है-आधुनिकता का चित्रण। इस आधुनिकता का अपना स्थिति-सापेक्ष यथार्थबोध है। क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था में आधुनिकता अपने भीतर के अन्तर्विरोधों से टूटने को बाध्य है। यहां पूंजीवादी व्यवस्था है कि जिसमें समन्वय, समझौता और संशोधन के द्वारा संघर्ष को भ्रमित किया जाता है और एक सुधारवादी हल खोज लिया जाता है। “भीष्म साहनी के यथार्थवाद में सामाजिक मनुष्य के नैतिक-सांस्कृतिक आधारों का उसके सम-सामयिक भौतिक परिवेश से द्वन्द्वपूर्ण सम्बन्ध है। उसमें बदलते हुए जीवन के अनुकूल बनने की तथा उसमें सक्रिय रहने की ग्रहणशीलता और विचारशीलता है।”⁴ पूंजीवादी आधुनिकताबोध हमेशा ही सामाजिक-यथार्थ की समग्रता को तोड़ता है, उसमें सामूहिक जीवन का गत्यात्मक स्वीकार नहीं होता। उसमें सामाजिक संगति के नियमों के अवहेलना होती है। साहनी जी के कथा साहित्य में आधुनिकता-बोध और यथार्थवादी विचारधारा का संघर्ष है।

भीष्म साहनी जी बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न कथाकार थे। उनका कथा-साहित्य पूर्णरूप से उनकी पैनी दृष्टि और लेखकीय प्रतिबद्धता की बात को सार्थक करता है। भीष्म साहनी जी ने हिन्दी साहित्य में एक प्रतिष्ठित कहानीकार, उपन्यासकार और नाटककार के रूप में अपना स्थान निर्धारित किया है। “भीष्म जी हिन्दी की उस कथा-पीढ़ी के प्रतिनिधि रहे हैं, जो एक रचनात्मक लेखक की तरह अपना व्यक्तित्व और सार्वजनिक जीवन जीते थे। भीष्म साहनी अपने रचनात्मक जीवन के इतने लम्बे विस्तार, उतार-चढ़ाव और मोड़ों में संवेदना के स्तर पर अविचलित और अविपथित रहे हैं, यह उनकी कहानियों की सबसे बड़ी पहचान है।”⁵ वास्तव में भीष्म साहनी प्रेमचंद युगीन कथाकार नहीं हैं। परन्तु यदि प्रेमचंद के युग की कहानी के ‘नख-शिख’ को समझने की कोशिश की जाए और उस कहानी की संवेदना को पकड़ पाएं तो भीष्म साहनी की कहानी उसी का विकास करती हुई दिख पड़ती है। “सामान्य जीवन से उठी हुई कोई बात उनकी कहानी का विषय बन जाती है। उनकी कहानियां अनायास प्रगतिशीलता के सूत्रों से बंधी हैं। समाज के अभिजात्य वर्ग पर कठोरता से प्रहार करती हुई ये कहानियां खूब पठनीय बनी रहती हैं और स्तरीय रोचकता बनाये रखती हैं। यथार्थ की गहरी पकड़ पात्रों, स्थितियों और घटनाओं के माध्यम से जो कुछ दर्ज करती है, वह पंजाब की और इस माध्यम से भारतीय जीवन की कहानी होती है।”⁶ भीष्म जी के अब तक लगभग नौ कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें लगभग 120 कहानियां संकलित हैं। इनकी कहानियों में नारी का सशक्त और अशक्त दोनों ही रूपों में मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। भीष्म साहनी जी ने अपनी कहानियों में नारी मन की सहृदयता का वर्णन किया है। उन्होंने अपनी कहानियों में आज के समय में मां के प्रेम का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। इनकी कहानी ‘**चीफ की दावत**’ में एक ऐसी मां का चित्रण किया है- जिसने अपने बेटे की पढ़ाई के लिए अपने सारे आभूषण तक बेच दिये थे। आज यही मां बेटे के लिए घर में पड़ी फालतू वस्तु बन कर रह गई है। लेकिन वात्सल्य हेतु अपने बेटे श्यामनाथ द्वारा किए गए हर एक अपमान को सहती चली जाती है और अपने बेटे की तरक्की के लिए साहब को गाना सुनाती है, हाथ मिलाती है, कमज़ोर आँखों के बावजूद फुलकारी बनाने का वचन देती है। ‘**चीफ की दावत**’ कहानी में भीष्म साहनी जी ने मां की सहज मानवीय संवेदनाओं को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। “बेटे के द्वारा अपमानित होकर भी उसके पदोन्नति के लिए, मां का आंखों से स्पष्ट दिखाई न देने पर भी फुलकारी बनाना, उसे महान बनाता है। भीष्म जी की ‘**यादें**’ कहानी में गोमा ने अपने बेटे राम लाल को भगवान से बहुत तरस-तरस कर लिया था। चार बेटियों के बाद उसका जन्म हुआ था और आज बूढ़ी गोमा चूहों के बिल सरीखी कोठरी में रहती है। गोमा का बेटा अपनी मां की सहेली लखमी को लेकर आता है। पांव की टोकर से वह अपनी मां की कोठरी का दरवाज़ा खोलता है और बिजली के अंधे बल्ब का बटन दबा देता है। लखमी के जाते ही बल्ब बुझा दिया जाता है और कोठरी में चूहों के साथ बीमार गोमा अकेली रह जाती है। इस कहानी के जरिए लेखक ने एक बेटे का उसकी मां के प्रति बेरुखी भरे व्यवहार का वर्णन किया है। जिस मां ने बेटे को इतने लाड़-प्यार से पाल-पोस कर बड़ा किया ताकि वह उसके बुढ़ापे में उसका सहारा बन कर उसे संभालेगा। परन्तु आज वही बेटा अपनी मां को अकेला रहने के लिए एक कोठरी में छोड़ देता है।

‘गंगो का जाया’ एक बहुत ही निर्धन परिवार की कहानी है। गंगो बेचारी काम से इसलिए निकाल दी जाती है, क्योंकि वह गर्भवती है और उससे मेहनत-मजदूरी वाला काम नहीं होता है। उसका पति फिर भी उसे ऐसी हालत में काम करने पर जानने के लिए मजबूर करता है।”⁸

‘गंगो का जाया’ कहानी में कहानीकार ने गंगो को संवेदनशील और भावुक मां के रूप में चित्रित किया है। इसमें गंगों की सहृदयता तथा पिता के कुटिल व्यवहार का वर्णन किया है। इसमें गंगो अपने बच्चों के गुम होने पर उनके लिए चिन्तन और अपने गर्भ में पल रहे बच्चे के लिए चिन्ता व्यक्त करती है।

प्रफुल्ल कोलख्यान के अनुसार, “सच यह भी है कि गंगो का जीवन, कुछ कहानी में है और बहुत कुछ कहानी के बाहर भी है। महिला, सशक्तीकरण और बाल-मजदूरी मिटाने के सारे संकल्प धरे-के-धरे रह गए हैं।”⁹

‘माता-विमाता’ नामक कहानी में लेखक ने बच्चे को जन्म देने वाली और पालने वाली दोनों माताओं के ममत्व भाव का चित्रण बहुत ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। भीष्म साहनी की यह कहानी मां की ममतामयी भावना को स्पष्ट करती है। इसमें उन्होंने विमाता को एक नए दृष्टिकोण से चित्रित किया है। कहानी में पहले माता और विमाता दोनों ही बच्चे को अपने साथ ले जाने के लिए झगड़ा करती हैं लेकिन जैसे ही बच्चा भूख से तड़पता हुआ रोने लगता है। तब विमाता बच्चे को गोद में लेटाए, उसे अपने आंचल से ढके, दूध पिला रही थी और पास बैठी बच्चे की मां धीरे-धीरे लाडले के बाल सहला रही थी। प्रफुल्ल कोलख्यान के अनुसार, “वक्त की गाड़ी निकल गई। भारत की संतानों की मातृभूमि दो भागों में बंट गई। सिर्फ मातृभूमि ही नहीं बंटी, मां भी बंट गई ‘माता-विमाता’ में बंट गई मां।”¹⁰

साहनी जी की आरंभिक कहानियों में भट्ठी हथौड़े से जूझते सामान्य प्रेमी-प्रेमिकाएं अन्त तक आते-आते प्रेम शब्द के बचकानेपन को समझ लेते हैं। यहां गांवों में औरतों की इज्जत नहीं और शहरों में आदमी उन पर चील कौवों की भांति झपटते हैं। वे इसी धरती के जीव हैं, इसीलिए जिजीविषा में संलग्न रहते हैं। “उनकी ‘क्रिकेट मैच’ कहानी में पर स्त्री गामी पुरुष रमेश की पत्नी पति के कारण अपने ऊपर फैशन के सौ-सौ रंग चढ़ाती है, किन्तु वह पत्नी के हरमोनियम सीखने, बाल कटवाने या ताश खेलने से भी प्रभावित नहीं होता और वह लगातार दाम्पत्य का क्रिकेट मैच हारती है।”¹¹ इस कहानी में कहानीकार ने दाम्पत्य एवं प्रेम संबंधों से अधिक स्त्री को उसकी सामाजिक हैसियत के सन्दर्भ में देखना ही अधिक पसंद करते हैं। कथानायिका पुष्पा जैसी स्त्रियां पुरुष-शासित समाज में अपनी अस्मिता खो कर ही जीवित रह सकती हैं।”

‘नीली आंखें’ एक ऐसे युवक और युवती की कहानी है जो बीस-बाईस वर्ष की अवस्था में ही घर से भाग कर विवाह कर लेते हैं और आगे चलकर उन्हें इसका दुःखद परिणाम भी भोगना पड़ता है।¹² शादी के कुछ महीने पश्चात् ही लड़का बीमार पड़ जाता है तथा अस्पताल में दाखिल हो जाता है। पत्नी के पास रहने के लिए भी कोई स्थान नहीं होता है और न ही उसे कोई आश्रय देता है। वह सड़क पर सोई हुई हैं और लोगों की भूखी नजरें उस पर पड़ती हैं तथा उनकी काम-वासना तीव्र हो उठती है। इसीलिए युवक की पत्नी राजो शहर से वापिस अपने गांव लौटना चाहती है ताकि वह शहर में उसकी ओर ताकती इन कामुक निगाहों से बच सके। साहनी जी ने इस कहानी की नायिका के माध्यम से स्त्री के प्रति समाज के पुरुष वर्ग की सोच एवं प्रवृत्ति पर व्यंग्य किया है।

समाज में वेश्यावृत्ति को आधुनिक समय में कम करने हेतु बहुत से प्रयत्न किए जा रहे हैं। लेकिन अभी भी वेश्यावृत्ति समाज में से पूरी तरह समाप्त नहीं की जा सकी है। वेश्याएं आज भी समाज में मौजूद हैं। समाज के इसी सत्य को भीष्म साहनी जी ने ‘अभी तो मैं जवान हूँ’ शीर्षक कहानी में स्पष्ट किया है। इसी कहानी में कहानीकार ने उस दैहिक और मानसिक नग्नता का वर्णन किया है। जिसमें एक स्त्री रोटी के लिए बिना किसी बात का विचार किए अपना शरीर बेचती है। वेश्या को इस बात का भी आभास तक नहीं होता है कि वह पुरुषों से कोई बीमारी भी अपने शरीर में ले सकती हैं।¹³ उन्हें इस बात की खुशी होती है कि उन्हें ग्राहकों से पैसे मिलते हैं। इस कहानी में कहानीकार ने नारी को विवशता के कारण वेश्यावृत्ति को अपना कर, शरीर बेचकर रोजी-रोटी कमाने के साधन के रूप में चित्रित किया है। वह शरीर बेचकर पैसा कमाती है, और वेश्या का जीवन व्यतीत करती है।

साहनी जी की ‘डोरे’ नामक कहानी मध्यवर्गीय परिवार को आधार बना कर लिखी गई है। इसमें प्रेम के त्रिकोण का

वर्णन किया है। एक ओर घर के मुख्य सदस्य गिरीश की पत्नी है, तो दूसरी ओर उसकी प्रेमिका अर्चना। गिरीश के दो बच्चे भी हैं। बच्चों से वह अथाह प्रेम करता है और उनके लिए सब कुछ करता है, तो अर्चना को भी बहुत चाहता है। न तो वह पत्नी को छोड़ सकता है और न प्रेमिका को। जिसके कारण पति-पत्नी के दाम्पत्य जीवन में तनाव आ जाता है। इस कहानी में कहानीकार में दोनों स्त्रियों को अलग-अलग रूप में चित्रित किया है। इसमें एक स्त्री ही दूसरी स्त्री के घर में तनावपूर्ण माहौल पैदा कर देती है।

‘घर की इज्जत’ शीर्षक कहानी झूठी सामाजिक मर्यादा और कथित मूल्यों के विरोध में खड़ी होती एक आत्म सजग युवती की कहानी है। झूठी सामाजिक मर्यादा के लिए वह अपनी कलात्मक सांस्कृतिक अभिरुचियों को दबाने एवं कुण्ठित किये जाने के प्रयासों का सक्रिय प्रतिवाद करती नज़र आती है और आज की चेतनासम्पन्न नारी की प्रतिनिधि कही जा सकती है।

भीष्म साहनी जी की ‘रास्ता’ कहानी में पुरुष की अस्थिर मानसिकता एवं नैतिक मूल्यों की गिरावट का नंगा सच ही उद्घाटित हुआ है। यह एक ऐसी युवती के दुर्भाग्य की दर्द-भरी दास्तान है जिसे जीवन में कहीं कभी कोई सुख का कतरा तक नहीं मिल पाता है और उसी आत्मपीड़न को सहते-सहते और ओढ़ते हुए वह अपने परिवार में टूट कर रह जाती है।¹⁵ यह और बात है कि अन्त में थक-हार कर वह अपने घर से भाग कर किसी युवक से विवाह कर लेती है। लेकिन इस करतूत से बौखलाए हुए उसके सास ससुर उसे अपना नहीं पाते। आखिर उसका अपना पति भी उसे छोड़ देता है। दो-तीन बार बीच में आकर वह उसे ले भी जाता है। इस बीच उसके दो बच्चे भी हो जाते हैं लेकिन अन्त में उसका पति उसको छोड़ कर चला जाता है। इस कहानी की नायिका समाज के रुढ़िवादी एवं परंपरागत दृष्टिकोण के चलते अपने पति द्वारा बार-बार त्यागी जाने के दुःख से पीड़ित है। ‘साग-मीट’ कहानी में कहानीकार ने यथार्थवादी ढंग से जग्गा नौकर की पत्नी का उसके मालिक के भाई द्वारा देह शोषण दिखाया है। जग्गा अपनी दुल्हन को साथ लेकर अपने मालिक के घर में रह रहा है। वह मालिक का बेहद वफादार नौकर है। मालिक का छोटा भाई विक्की जग्गे की अनुपस्थिति में उसकी पत्नी से अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। मालिक यह सब जानता हुआ भी अनजान बन जाता है और इस प्रकार उस धिनौने देह-शोषण को बढ़ावा देता है। घर की मालकिन सब कुछ जानते हुए भी सामाजिक रुतबे के कारण अपने देवर और पति के गलत होने पर भी साथ देने पर मजबूर है। इस कहानी में कहानीकार ने निम्न वर्ग की स्त्रियों के साथ उच्च वर्ग द्वारा किए जा रहे अमानवीय व्यवहार का चित्रण किया है।

साहनी जी की ‘राधा-अनुराधा’ शीर्षक कहानी निम्नवर्ग को आधार बना कर लिखी गई एक ऐसी राधा नामक युवती की कहानी है, जिसका पिता हर समय नशे में धुत्त रहता है। इतना ही नहीं, उसका सगा भाई भी कोई काम नहीं करता है। गरीबी के कारण तथा अपने पेट की आग बुझाने के लिए उसे लोगों के घरों में काम करना पड़ता है। अपनी कमाई से ही वह अपने परिवार का पेट पालती है। इतना होने पर भी उसका पिता संतोष नहीं कर पाता है। आगे चल कर निर्धनता के कारण राधा का पिता उसे एक बूढ़े के हाथों बेच देता है। पैसे के कारण वह अपनी बेटी का विवाह उसी बूढ़े से तय कर देता है। कहानी के अंत में एक विवश युवती की जागृति का चित्रण है, जो अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करती है और एक दिन एक युवक के साथ घर से भाग कर उससे विवाह कर लेती है। इस प्रकार इस कहानी में लेखक ने नारियों में आ रहे जागरण के लक्षणों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।¹⁶

अतः भीष्म साहनी जी की कहानियों में नारी कभी सशक्त तो कभी अशक्त दोनों ही रूपों में चित्रित हुई है। साहनी जी की कहानियों की नारी कभी ‘राधा-अनुराधा’ कहानी की नायिका राधा जैसी सशक्त नारी पात्रा के रूप में हमारे सामने

आती है तो कभी समाज क्या कहेगा ? के विषय में सोचती हुई नारी के रूप में चित्रित की गई है। 'सागमीट' में जगमे की मौत तथा उसका अपने देवर का विद्रोह न करना और चीफ की दावत में अपने बेटे की खुशी के लिए आंखों की रोशनी कम होते हुए भी उसका काम करने को तैयार हो जाती है। यह सब कुछ वह समाज में पुरुष की प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए करती है। साहनी की कहानियों में नारी आधुनिक युग बोध करवाने वाली सशक्त पात्रा के रूप में एक मां, पत्नी, प्रेमिका और वेश्या आदि सभी रूपों में चित्रित की गई है। इनकी कहानियों में परम्परागत मान्यताओं एवं रूढ़ियों के प्रति विद्रोह किया गया है। इस दृष्टि से इन्हें सामाजिक परिवर्तन और यथार्थ के निरूपण और सरोकार की सच्ची कहानियां माना जा सकता है।

डॉ. मीनाक्षी शर्मा के अनुसार, “ भीष्म साहनी की कहानियां जीवन से सीधे साक्षात्कार करने वाली कहानियां हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में जीवन की विसंगतियों और विडम्बनाओं को पूर्ण जीवंतता और गरिमा के साथ अंकित किया है।”¹⁷

संदर्भ -

1. दिविक रमेश, हिन्दी कहानी का समकालीन परिवेश, ग्रंथ निकेतन, दिल्ली, 2006
2. डॉ. मीनाक्षी शर्मा, भीष्म कहानी के उपन्यास नये मूल्यों की तलाश, विशाल प्रकाशन, दिल्ली, 2009
3. कृष्ण कुमार, कहानी के नये प्रतिमान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005
4. राजेश्वर सक्सेना, भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005
5. डॉ. मनमोहन सम्मी, भीष्म साहनी की कहानियों में सामाजिक सरोकार, यूनिस्टार पुस्तक प्रकाशन, चण्डीगढ़, 2008
6. सं. डॉ. सुधा जितेन्द्र, पंजाब का आधुनिक हिन्दी साहित्य, गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी, अमृतसर 2004
7. घनश्याम दास भुतडा, समकालीन हिन्दी कहानियों में नारी के विविध रूप, अतुल प्रकाशन, कानपुर, 1993
8. डॉ. मनमोहन सम्मी, भीष्म साहनी की कहानियों में सामाजिक सरोकार, चण्डीगढ़, 2008
9. वही
10. वही
11. सं. डॉ. सुधा जितेन्द्र, पंजाब का आधुनिक हिन्दी साहित्य, गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी, अमृतसर, 2004
12. डॉ. मनमोहन सम्मी, भीष्म साहनी की कहानियों में सामाजिक सरोकार, यूनिस्टार पुस्तक प्रकाशन, चण्डीगढ़, 2008
13. वही
14. वही
15. वही
16. वही
17. डॉ. मीनाक्षी शर्मा, भीष्म साहनी के उपन्यास नये मूल्यों की तलाश, विशाल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009



कवि एवं साहित्यकार : हरमहेन्द्र सिंह बेदी

-डॉ० भावना

भावाभिव्यक्ति के लिए किसी तरह के प्रतिमान स्थापित करने की आवश्यकता नहीं होती यह अंतर्निहित उद्देश्य स्वतः ही प्रस्फुरण का रास्ता ढूँढता है, जिस पर बाह्य परिवेश का प्रभाव रहता है। ऐसी ही प्रतिभा के धनी हरमहेन्द्र सिंह बेदी कविता में अपनी अभिव्यक्ति को पिरोते हुए अपने व्यक्तित्व की पहचान करवाते हैं और हिंदी कविता के स्तम्भ के रूप में कविता प्रेमियों तथा साहित्यकारों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं।

डॉ० बेदी जी का जन्म उस समय हुआ जब हिन्दोस्तान देश विभाजन की समस्या से जूझ रहा था। लोग अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे थे। पंजाब राज्य के होशियारपुर जिला के मुकेरियां कस्बे में जन्मे बेदी जी अमूल्य तोहफे के रूप में पैदा हुए, यह तोहफा न सिर्फ उनके परिवार को ही मिला अपितु हिंदी साहित्य के लिए भी यह एक नायाब तोहफा है। पंजाबी सभ्यता, संस्कृति और भाषा के होते हुए भी उन्होंने उत्कृष्ट हिंदी साहित्य का सृजन किया और अपनी प्रबुद्ध-पारखी नज़र और प्रगतिवादी विचारधारा से मण्डित किया।

उनकी रचनाओं को पढ़ने और आत्मसात करने का मौका मिला तो एहसास हुआ कि आम आदमी भी कहीं जिन्दा है, सिर्फ उसे जगाने की आवश्यकता है। पिता प्रीतम सिंह बेदी भले ही रेलवे स्टेशन पर मास्टर के रूप में कार्यरत थे लेकिन हरमहेन्द्र को पढ़ाने में उन्होंने अपना पूर्ण योगदान दिया। हरमहेन्द्र सिंह ने पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ से बी.ए. ऑनर्स हिंदी तथा अर्थशास्त्र में किया। उन्होंने पंजाबी और हिंदी दो विषयों में एम.ए. किया। हिंदी इनकी रुचि का विषय रहा अतः इन्होंने हिंदी में पी-एच.डी और उसके बाद डी. लिट् की उपाधि ग्रहण की। गुरुनानक देव विश्वविद्यालय में कार्यरत बेदी जी अद्यतन आधुनिक हिंदी साहित्य को सिंचित कर रहे हैं।

बेदी जी साहित्य के चितरे हैं अतः साहित्य से किसी भी तरह के खिलवाड़ के पक्षधर नहीं हैं। वे साहित्य का मूल्यांकन गहन अध्ययन द्वारा करना चाहते हैं। यही कारण है कि मोहन रakesh के निबंधकार का रूप जिसे अधिकतर आलोचकों द्वारा छोड़ दिया जाता है उसे इन्होंने मजबूती से पकड़ कर उसके तार गिन डाले। बेदी जी मानते हैं कि साहित्य के पाठक या आलोचक को सभी विधाओं के प्रति इमानदार होना चाहिए और कोई भी साहित्यिक विश्लेषण पूर्ण रूप से किया जाना चाहिए ताकि उसके साहित्यिक कर्म के साथ न्याय हो पाए। ये मानवीय दृष्टि को नया रूप देने के पक्षधर हैं। बेदी जी द्वारा सम्पादित 'पंजाब का मध्यकालीन साहित्य' में दिए गए लेखों द्वारा इनकी विलक्षण विवेचनात्मक प्रतिभा का स्वरूप सामने आता है।

अगर उनके रचनागत कर्म की बात कही जाये तो कविता लेखन के अतिरिक्त उन्होंने आलोचनात्मक लेख तथा सम्पादन का कार्य भी किया है। इन्हें एक समृद्ध आलोचक भी कहा जा सकता है। पंजाबी-हिंदी साहित्य में उनके द्वारा विभिन्न विषयों पर लिखे हुए बहुत से लेख मिलते हैं। लेकिन इनकी कविताएँ इनकी ख्याति का मूलाधार रही हैं। इनके भीतर का व्यक्ति बाल्यकाल में ही उद्वेलित हो उठा था, परिणाम स्वरूप 14-15 वर्ष की उम्र में ही उनके अंदर जल रहे दीपक ने लोगों को आलोकित करना शुरू कर दिया था। देश विघटन की परिस्थितियों का प्रभाव इनके काव्य में दिखता

है कि उनकी कविताओं के लोग डरे हैं, सहमे हैं।

जंगल और शहर के बीच

उदास और मुरझाए चेहरे

खंडहर बने जिस्म

किसको छुए ?

कौन सुने ?

दर्द भरी पुकार।

एक दिन पूर्ण होंगे

शब्द और अर्थ

जब बनेगी हमारी खुशहाली की कविता।

इनकी कविताओं में सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, प्राकृतिक रूपाकार उभरता है। 'गर्म लोहा' 'भगत सिंह अभी ज़िन्दा है', 'एक नयी शुरुआत' में उनके अंतः करण का पिघलता गर्म लोहा नज़र आता है।

इनकी कविताओं से रू-ब-रू होने का मौका मिला तो पता चला कि ये कविताएँ सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक लिबास पहने हैं। जिज्ञासावश इन विभिन्न लिबासों के बारे में बारीकी से जानने की उत्कंठा इसलिए पैदा हुई क्योंकि ये लिबास किन्हीं सामाजिक एवं कहीं न कहीं उस इन्सान से गुप्तगू कर रहा था।

'जंगल और शहर के बीच', 'देश भूगोल नहीं होता', 'भगत सिंह ज़िन्दा है', 'एक नयी शुरुआत', 'भीड़ का दर्द', 'तीसरा पात्र', 'मुखौटों के खिलाफ़' और 'गर्म लोहा' जैसी कविताओं से चित्त की वेदना जहाँ ज्वलित हुई वहीं हर्षित भी हुई।

बेदी जी की कविताओं में शहर बार-बार दिखता है। इससे एहसास होता है कि वे अपने शहर से लगाव रखते हैं और शहर की गतिविधियों को निरन्तर ऊँचे स्थान पर बैठ कर एक सूक्ष्म भेदी बन कर सब कुछ अपनी स्मृति में पिरो रहे हैं। 'जंगल और शहर के बीच' ऐसी कविता है जो सभ्य और असभ्य को एक दूसरे से सीखने के लिए प्रेरित करती है। शांत और व्यस्तता भरे जीवन में कुछ ढूँढने के लिए प्रेरित करती है।

मनुष्य चाहे गाँव में रह कर शांत जीवन जिए या फिर शहर की भीड़ में खो जाये जहाँ एक दूसरे को कोई नहीं पहचानता, वह उन्नति तभी कर सकता है जब वह समाज से मिल कर कुछ करने की ठान लेता है। जब व्यक्ति आपसी सद्भाव को पहचान पाएगा, अवश्य जंगल भी तभी खुश होंगे और शहर की सुख सुविधाएँ भी तभी अधिक सुखकर लगेंगी, हमारे अंदर की शक्ति का पता भी तभी चलेगा जब हम मिलकर आगे बढ़ने का संकल्प लेंगे। शेर जिसकी दहाड़ सुनते ही जंगल और उसमें रहने वाले प्राणी भी विचलित हो जाते हैं और शहरों में भी अफरा-तफरी मच जाती है। शेर जैसी हिम्मत और प्रभाव तभी हो सकता है जब हम संबंधों को पहचानेंगे और मिल कर आगे बढ़ेंगे।

'देश भूगोल नहीं होता' कविता में भी आपसी संबंधों के महत्व का वर्णन मिलता है। एक घर तभी घर कहा जाता है जब उस में रहने वाले व्यक्ति परिवार के रूप में आपस में मिल-जुल कर रहते हैं, एक दूसरे की भावनाओं की कदर करते हैं उसी तरह देश को संज्ञा तभी दी जाती है जब उसमें रहने वाले लोग आपसी सद्भाव को समझते हैं। सांस्कृतिक स्वभाव के बिना देश सिर्फ एक खोखली रूपरेखा के समान लगने लगता है। किसी भी देश का इतिहास तभी मान्य होता है जब उस देश की सभ्यता और संस्कृति समृद्ध हो।

बेदी जी देशद्रोही लोगों से परेशान हैं जो आम लोगों को अपना शिकार बनाते हैं। जहां एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की जान लेने पर उतारू होता है देश कभी उन्नति नहीं कर सकता। जिस तरह जंगल में अकेले जाने पर व्यक्ति जंगली जानवरों का शिकार हो सकता है उसी तरह अकेला व्यक्ति देशद्रोहियों से नहीं लड़ सकता अतः देश बनाने के लिए सभ्यता और संस्कृति महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

‘तृष्ण एका तरुणायते’ तृष्णा ही एक ऐसी वस्तु है जो हमेशा जवान रहती है, अतः मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये अनेक प्रयत्न करता है लक्ष्य प्राप्ति के लिए उसके भीतर अनेक विचार पनपते हैं लेकिन कई बार उसे ऐसे लोगों का सामना करना पड़ता है जो अंदर से कुछ और होते हैं और बाहर से कुछ और। व्यक्ति की इच्छाएं जब उसे आंदोलित करती हैं तो वह अकेला ही उन दीवारों से टकराना शुरू कर देता है जो उसके रास्ते में बाधा उत्पन्न करती हैं। जब मनुष्य के भीतर का इन्सान जागता है वह अपने साथ हो रहे अन्याय से लड़ना सीखता है।

और मैं अंदर की बेचैनी से घबरा

छू लेता हूँ सीमाएं

बेखबर लड़ता हूँ मुखौटों के खिलाफ़

‘मुखौटों के खिलाफ़’ कविता में इसी संदर्भ में बात कही गई है।

हिन्दी के प्रति अनुराग और भगत सिंह के विचारों का प्रभाव इन पर उस वक्त से देखा जा सकता है जब डॉ० विनोद दुआ के लिए लिखे गए दो शब्दों में ये भगत सिंह की बात करते हैं।

हरमहेन्द्र जी एक प्रगतिवादी और क्रान्तिकारी कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनकी क्रांति भड़काऊ नहीं, लेकिन अन्याय को सामने लाने वाली अवश्य है। ‘मुखौटों के खिलाफ़’, ‘पहचान और’, ‘एक नई शुरुआत’ कविता में कवि ने एक ऐसी क्रांति की बात कही है जो मनुष्य को अस्तित्व प्रदान करे और स्वतंत्र जीने की अनुमति दे। ‘एक नई शुरुआत’ कविता में कवि ने उन्नति के लिए प्रगतिवादी विचारधारा को आत्मसात करने का संकेत किया है। कविता के माध्यम से वे जीवन को वास्तविक रूप से जीने के लिए प्रेरित करते हैं। भावनाओं से खिलवाड़ होने पर इनकी वाणी मुखरित हो उठती है।

‘भगत सिंह जिन्दा है’ कविता में उन लोगों पर आपत्ति जताई गई है, जो भगत सिंह को सिर्फ इस लिए याद करते हैं कि उन्होंने फांसी के फंदे को चूमा था। भगत सिंह के अंदर जो क्रांति की ज्वाला थी उसे कोई नहीं समझा। उनके विचारों को जीवित रखने वाला आज कोई नहीं बचा है, भगत सिंह ने स्वयं लोगों के गले में मालाएं डाली थीं लेकिन वे महज़ फूलों की मालाएँ नहीं, अमूल्य विचारों की, जन-जन में जोश भरने की, राष्ट्रियता की और नवजागरण के सुंदर फूलों से गुंथी हुई मालाएं थीं।

कौन पहना गया यह फूलों की माला

रस्म पूरी करने को

उसने तो खुद डाली थी।

क्रांति फूलों की माला सी।

उनके विचारों में वह शक्ति थी जिससे संवेदनशून्य जनों में भी संवेदना का संचार हुआ और जन-जन में विचारों का सृजन हुआ। मनुष्य भले ही प्राणहीन हो जाता है, लेकिन उसका विचार कभी नहीं मरता, वह हमेशा स्पन्दित करने वाला

होता है। कवि लोगों को सचेत करना चाहता है कि भगत सिंह को फूलों की माला पहनाने की आवश्यकता नहीं, उनके विचार आज भी ज़िन्दा हैं। आवश्यकता है उन विचारों को आत्मसात करने की और एक सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित करने की।

क्रान्तिकारी विचारों के पुरोधा बेदी जी की कविताओं के स्वर भगत सिंह के विचारों से कम नहीं उनकी कविताओं में क्रांति उभरती है मगर शान्ति लिए हुए। इनकी 'गर्म लोहा' कविता प्रगतिशील विचारों की द्योतक है।

कवि कहते हैं हमें कुछ पाने के लिए दृढ़ निश्चय की ज़रूरत होती है। जोश इन्सान को ज़िन्दा रखता है और उन्नति की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करता है। जब मनुष्य की संवेदनाएं आंदोलित होती हैं वे स्वतः ही फौलाद बन जाती हैं। जिस तरह गर्म लोहे की तपिश दूर तक फैली होती है उसी तरह क्रांतिकारी विचार स्वयं को तो आन्दोलित करते ही हैं अपितु दूसरे भी उस से प्रभावित होते हैं।

आम आदमी के चितेरे होने का आभास इनकी कविताओं से होता है। ये हमेशा आम आदमी के साथ रहते हैं, उसे जगाते हैं और आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं। 'भीड़ का दर्द' कविता में कवि ने भीड़ के होते हुए भी रिशतों के फासलों, भटकन, सूनापन, टूटन से साक्षात् करवाया है। बहुत सी यादें इन्सान को कमज़ोर बनाती हैं उन में निराशा उत्पन्न होती है, रिशतों में कड़वाहट घुलती है और ज़िन्दगी बेरंग और रसहीन हो जाती है। लेकिन कवि कहता है कि दुःख के बाद सुख अवश्य आता है। सकारात्मक विश्वास को आत्मसात् करते हुए बेदी जी कहते हैं कि काली रात के निकल जाने के बाद सुबह अवश्य आती, अतः सुकरात जैसा कोई अन्य पुरुष भी अवश्य पैदा होगा जो नयी राह दिखाने में मदद करेगा, नयी स्फूर्ति चारों ओर फैलेगी और हम एक नयी पहचान बनाएंगे।

कोई सुकरात पान करेगा

तेज़ हवा के झोंकों से सीली दीवारों के जख्म भर जायेंगे।

बेदी जी की कविताएँ 'गर्म लोहा', 'जंगल और शहर के बीच', 'एक नयी शुरुआत', 'भगत सिंह अभी ज़िन्दा है', 'देश भूगोल नहीं होता', 'मुखौटों के खिलाफ़' ऐसी कविताएँ हैं जो देश, समाज और सभ्यता के प्रति उनकी कर्तव्य परायणता, स्नेह, भय, उदारता और चेतनात्मकता तथा पैनी दृष्टि की ओर इंगित करती हैं। इनकी कविताओं में शहर, क्रांति, मुखौटे और जंगल बार-बार, घिर-घिर कर आते हैं इससे स्पष्ट है कि ये समाज के पक्के पुरोधा हैं।

कवि बनावटी दुनिया से परेशान है। अतः बार-बार इन मुखौटों को उतारने या उनके लड़ने की बात अपनी कविताओं में कहते हैं। 'देश भूगोल नहीं होता' कविता में भेड़िये का मुखौटा नज़र आता है। 'मुखौटों के खिलाफ़' में यही मुखौटा सामाजिक विद्रूपताओं का प्रतीक है जिससे कवि अकेले लड़ने पर उतारू है और अपनी राह चुन कर लक्ष्य को प्राप्त करता है। बेदी जी की कविताओं के भाव से यह स्पष्ट है कि दृढ़ इच्छा शक्ति मनुष्य के रास्ते में आने वाली किसी भी बाधा को नष्ट कर सकती है और समाज अगर मिल कर चले तो बड़ी से बड़ी मुसीबतों का सामना किया जा सकता है। हरमहेन्द्र सिंह बेदी का आत्म संघर्ष उनकी कविताओं में परिलक्षित होता है।

बेदी जी पंडित हैं, विद्वान हैं, मिलनसार हैं, सेवा परायण हैं लेकिन इसके साथ ही निहायत ही क्रान्तिकारी विचारधारा के स्वामी हैं जो उनके साहित्य पक्ष और व्यक्तित्व की अमिट पहचान है। बेदी जी इसी तरह अनवरत लिखते रहें और हिंदी साहित्य को सिंचित करते रहें जिससे कविता प्रेमियों और समाज को एक नयी सोच और सही सोच मिले। उनका व्यक्तित्व और साहित्य सदैव गरिमामयी बना रहे।

संदर्भ -

1. कविवर डॉ० हरमहेन्द्र सिंह बेदी, रामसजन पाण्डेय पृ. 13, निर्मल पाब्लिकेशन्स, शहादरा दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001
2. कविवर डॉ० हरमहेन्द्र सिंह बेदी, रामसजन पाण्डेय पृ. 18, निर्मल पाब्लिकेशन्स, शहादरा दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001
3. पंजाब का समकालीन, हिन्दी साहित्य (सं०) हरमहेन्द्र सिंह बेदी, पृ० 17, निर्मल पब्लिकेशन शहादरा दिल्ली, संस्करण 2004.
4. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास (पंजाब के विशेष संदर्भ में), विनोद कुमार, पीयूष प्रकाशन, कबीर नगर, शहादरा दिल्ली, पृ० (1) संस्करण 2005
5. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास (पंजाब के विशेष संदर्भ में), विनोद कुमार, पीयूष प्रकाशन, कबीर नगर, शहादरा दिल्ली, पृ० (98) संस्करण 2005
6. पंजाब का मध्यकालीन हिन्दी साहित्य, (सं०) हरमहेन्द्र सिंह बेदी, प्रकाशक, रजिस्ट्रार, गुरुनानकदेव यूनिवर्सिटी अमृतसर, पृ० 196, संस्करण 2004
7. पंजाब का आधुनिक हिन्दी साहित्य, (सं०) सुधा जितेन्द्र, प्रेस एवं प्रकाशन विभाग, गुरुनानक देव यूनिवर्सिटी, अमृतसर, पृ० 155, संस्करण 2004.



रणेन्द्र के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासी विमर्श (विशेष सन्दर्भ : भूमण्डलीकरण)

-निशा चौहान

उपन्यास आधुनिक समय में साहित्य की एक शक्तिशाली और लोकप्रिय विधा है। यह देश, समाज व मानव की कहानी जितनी मार्मिकता से व्यक्त करता है, उतना कोई अन्य विधा व्यक्त नहीं कर सकती है। उपन्यास को मानव की स्थिति व गति का इतिहास कहा जा सकता है। उपन्यासकार जिस वातावरण में पैदा होता है, जिस परिवेश में पलता है और बड़ा होता है उसी वातावरण का यथार्थ चित्रण उपन्यास में करता है। इसमें जीवन के सुख-दुख को उद्घाटित करता है। उपन्यासकार का उद्देश्य सामाजिक समस्याओं का उद्घाटन कर व्यक्ति को इसके प्रति जागरूक करना होता है। मानवीयता, संवेदनशीलता और संस्कृति के बगैर कोई भी औपन्यासिक रचना असंभव है। वर्षों से सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक रूप से भी हाशिये पर रहे दलित और आदिवासी अब समकालीन राजनीतिक और साहित्यिक विमर्श की मुख्यधारा में शामिल है। आदिवासी जिस तरह सामूहिकता और निर्णय-प्रणाली में विश्वास करते हैं, सामूहिक सुख-दुख में सहभागिता करते हुए जीते हैं, उसी तरह समाज के किसी व्यक्ति पर आए संकट का सामना भी सामूहिक रूप से करते हैं। भविष्य की सुरक्षा के लिए प्रकृति या मनुष्य के शोषण से बेहिसाब धन-संचय की इच्छा रखने वाला समाज शायद यह कल्पना नहीं कर सकता कि तमाम तरह के 'शोषण' के बाद भी आदिवासी समाज आनन्द और हास्य-बोध के साथ जीता है।

उत्तर आधुनिक विमर्शों से प्रभावित लेखन में स्त्रीवाद, दलितवाद, अल्पसंख्यक व आदिवासी प्रमुख है। स्त्री विमर्श का सम्बन्ध लिंग, यौनिकता आदि विषय पर स्त्री के पक्ष में खड़ा किया, तो दलित विमर्श को हाशिये का लेखन कहा गया। दलित लेखन यदि हाशिये का लेखन है तो आदिवासी लेखन हाशिये के भी हाशिये का लेखन है। इन हाशिये के लोगों की समस्याओं को रचनाकार रणेन्द्र ने अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्त किया है। रणेन्द्र झारखण्ड के साहित्यिक जगत में उभरता हुआ एक प्रतिष्ठित नाम है जिनकी पैनी दृष्टि अपने आस-पास के हर घटना में ढूँढ लेने की क्षमता रखती है। वे प्रायः दस साल पहले साहित्य क्षेत्र में आये और कथाकार के रूप में अपनी कुछ ही कहानियों के द्वारा पाठकों और लेखकों का ध्यान अपनी ओर खींचा। उनकी प्रमुख साहित्यिक कृतियाँ इस प्रकार हैं- 1. 'ग्लोबल गाँव के देवता' (उपन्यास) 2009, 2. 'गायब होता देश' (उपन्यास) 2014। प्रत्येक रचनाकार अपने जीवन के अनुभवों को अपनी रचना के माध्यम से उसके विविध पहलुओं को रेखांकित करता है। जो उपन्यासकार एवं कहानीकार जितना ही संवेदनशील होता है उसकी कहानी एवं उपन्यास का वातावरण उतना ही मार्मिक और सजीव होता है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासी विमर्श है। आज के युग में उपन्यास अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है, जो कि सामाजिक तथा मानवीय संबंधों को मार्मिकता से उजागर करता है। रणेन्द्र का उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' झारखण्ड के आदिवासी समाज को केन्द्र पर लिखा गया एक ऐसा उपन्यास है, जो 'असुर' जनजाति के सदियों पुराने

इतिहास को, इससे जुड़ी दंतकथाओं और मिथकों को और इससे बनी असुर जाति के बारे में लोक-प्रचलित धारणाओं को न केवल खण्डित करता है, बल्कि इस और इसके साथ-साथ समूचे आदिवासी समाज के प्रति नये सिरे से सोचने-विचारने को बाध्य करता है। इस उपन्यास में वहाँ के भूगोल, इतिहास, राजनीतिक शोषण, समस्याओं व खनन कम्पनियों एवं माफियाओं की मनमानियों से अवगत कराया गया है (बॉक्साइट के खनन से प्रदूषण और स्वास्थ्य की समस्याओं से भी अवगत कराया है)। उपन्यासकार अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है। वह न तो केवल पात्रों और समाज की समस्याओं से रूबरू करवाता है बल्कि सामाजिक वातावरण को हमारे सामने उजागर करता है। वे आदिवासी संस्कृति में इतने घुलमिल गए हैं कि साहित्य के माध्यम से उनकी समस्याओं को समाज के सामने लाने को निरन्तर प्रयासरत हैं। वे साहित्य में स्त्री-पुरुष के भेद को नहीं मानते, उनका मानना है कि स्त्री पुरुषों की अपेक्षा अधिक सयानी होती है जिनका वे पूरा सम्मान करते हैं।

भूमण्डलीकरण के कारण आदिवासी समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है उपन्यास में इसका वर्णन है। किस प्रकार वैश्वीकरण से उनकी भाषा की मौत, भूगोल, सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है। प्राकृतिक संसाधनों का दोहन और उनके सामने विस्थापन की समस्याएं उत्पन्न होने का कारण भूमण्डलीकरण का बढ़ता प्रभाव ही है। सरकारी योजनाएं तो बस नाममात्र कागजों पर ही रह गई हैं। आज का युग भूमंडलीकरण का युग है। विश्व एक 'ग्लोबल विलेज' बन गया है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की संकल्पना सार्थक होती दिखाई दे रही है। व्यक्ति और समाज के जीवन में हर प्रसंग में देशी-विदेशी का फर्क मिट गया है। भारत की प्रकृति एवं सम्पत्ति सबसे अधिक वहीं है, जहाँ आदिवासी रहते हैं। देश के विकास के नाम पर पूँजीपतियों, विकसित और चतुर समाजों ने विकास के लिए आदिवासियों की एकमात्र पूँजी ज़मीन को ज़बरदस्ती छीन लिया है। आदिवासियों के साथ हुए उपन्यास और समुदाय की व्यथा का चित्रण रणेन्द्र ने अपने इस उपन्यास में किया है। इस उपन्यास में रणेन्द्र ने आदिवासी जन-जातियों के यथार्थ जीवन का चित्रण किया है जो आदिकाल से लेकर आज तक वनों पर आश्रित रही हैं, किन्तु भूमंडलीकरण की लपेट में आये गाँवों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के रूप में आ रहे ग्लोबल गाँव के नए देवता इतने खूँखार हैं कि पूरे समुदाय का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' का सूत्रधार एक ऐसा व्यक्ति है जिसे लम्बी बेरोज़गारी और अपमान की गाढ़ी काली रात के बाद बरवे ज़िला कोयल बीघा प्रखण्ड के भौरापाट नामक जगह के एक आदिवासी स्कूल की मास्टरी का प्रस्ताव मिला है। जंगलों के बीच स्थित जनजाति-स्कूल की कल्पना मात्र से उसका दिल बैठ जाता है। शिक्षक का वहीं का हो जाना उपन्यास की पूरी कथा यात्रा को एक खास तरह की आत्मीयता और स्वानुभूत पीड़ा की टीस से भर देता है। समाज की दुर्दान्तता को लेखक ने एक वाक्य में नोट किया है। डॉ. रामकुमार शिक्षक से कहता है "इस पर जीना बहुत कठिन है मास्टर साब! किन्तु मौत बड़ी आसान है।"

इस उपन्यास के ग्लोबल गाँव के दो देवता हैं- पहला बहुराष्ट्रीय कम्पनी-वेदांग। कम्पनी है विदेशी और नाम देशी। दूसरा देवता है टाटा जिसने असुरों के लोहा गलाने और औज़ार बनाने के हुनर का अन्त कर दिया है। इसलिए असुर मानते हैं कि टाटा कम्पनी ने उसका जो विनाश किया है वह असुर जाति के पूरे इतिहास की सबसे बड़ी हार है। एक बात और उल्लेखनीय है कि झारखण्ड में यह असुर समुदाय ही है, जिसने सबसे पहले खोदकर कच्चा लोहा निकाला और उसे गला कर पक्का लोहा बनाया और उससे तीर की नोक, खुरपी, कुदाल, पहिये, छुरी, फरसा आदि औज़ार एवं हथियार बनाये। ये निर्माण असुरों के प्राणवंत होने के प्रमाण हैं। इस उपन्यास में छत्तीसगढ़, मणिपुर, केरल, महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के आदिवासियों के संघर्षों में स्त्रियों की नेतृत्वकारी भूमिका एवं बहादुरी के प्रति गहरा सम्मान व्यक्त हुआ है।

मैनेजर पांडे ने अपने लेख 'यथार्थ से मिथक बनते एक समुदाय की व्यथा कथा' में स्पष्ट किया है "धरती भी, प्रकृति भी स्त्री, सरना माई भी स्त्री और उसके लिए लड़ती सत्यभामा, इरोम शर्मिला, सी.के.जानू, सुरेखा दलवी और यहां पाट में बुधनी दी और सहिया ललिता भी स्त्री। शायद स्त्री ही स्त्री की व्यथा समझती है। सीता की तरह धरती की बेटियाँ-धरती में समाने को तैयार हैं।"²

भूमण्डलीकरण उत्तर-आधुनिकता का ही विस्तार है। भूमण्डलीकरण की स्थिति ने इतिहास बोध, संस्कृति बोध के प्रचलित औजारों को बदलना शुरू कर दिया है। इस भूमण्डलीय ज्ञान-अवस्था में हम सब शामिल हैं। भूमण्डलीकरण शब्द मुख्यतः भू+मंडल+करण से बना है भू का अर्थ है पृथ्वी या धरती, मंडल का अर्थ घेरा और करण का अर्थ करने योग्य अर्थात् पृथ्वी के घेरे को एक करना। यशपाल के अनुसार "भूमण्डलीकरण का अर्थ यह नहीं है कि यह सब लोगों के लिए बराबर है। इसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसी बात बिल्कुल नहीं है।"³ आज का मनुष्य अर्थ की लोलुपता में मानवीयता को भूल चुका है। वह धन कमाने के चक्कर में पूर्ण रूप से संवेदनहीन हो गया है। समाजवादी चिन्तक सच्चिदानंद सिन्हा भूमण्डलीकरण के निहित अर्थ के स्पष्ट करते हुए कहते हैं "यह व्यवस्था सारे संसार को कुछ सशक्त पूँजीवादी प्रतिष्ठानों यानी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और उनके संकेन्द्रण के सबसे सबल केन्द्र अमेरिका के हितों की रक्षा का माध्यम बनी हुई है। संसार को एक करने की इसकी दृष्टि पूरी तरह एक आयामी है। यह सिर्फ व्यापार से दुनिया को एक करना चाहती है।"⁴ कहा जा सकता है कि अमेरिका आर्थिक रूप से अधिक शक्तिशाली होने के कारण और अपने व्यापार को बढ़ाने के लिए अपनी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा अन्य देशों पर व्यापारिक नीतियों को थोपना चाहता है। अर्थ कमाने के उद्देश्य से देशी और विदेशी बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ जंगलों और खदानों की ओर भाग रही हैं और इस भयावह घटना ने आदिवासियों के जीवन को असंख्य खतरों से भर दिया है जिससे कि उनके अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लग गया है। प्रमोद मीणा कहते हैं "आज का बाज़ार बिक्री के असीमित अवसरों का दाना डालकर आदिवासियों को अपने जाल में फंसा लेने में सफल रहा है। राज्य और बाज़ार के हस्तक्षेपों के कारण आदिवासियों की आत्मनिर्भर व्यवस्था का पतन हो रहा है।"⁵ कहा जा सकता है कि भौतिक सुविधा का लालच देकर भोले-भाले आदिवासी लोगों को फुसलाया जा रहा है ताकि उनकी खदानों व प्राकृतिक संसाधनों पर पूँजीपतियों का राज हो। 'ग्लोबल गाँव का देवता' युवा कथाकार रणेन्द्र का पहला उपन्यास है जो सन् 2009 में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने भारत के विशेषतः झारखण्ड के एक आदिवासी समुदाय के जीवन के यथार्थ उसके अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा के लिए लम्बे संघर्ष और लगातार मिटते जाने की प्रक्रिया का संवेदनशील चित्रण किया है। यह समुदाय आज 'असुर' नाम से जाना जाता है जो मुख्यतः झारखण्ड के चार जिलों गुमला, लोहरदगा, पलामू और लातेहार में पाया जाता है। इस उपन्यास में रणेन्द्र ने आदिवासी जन-जातियों के यथार्थ जीवन का चित्रण किया है जो आदिकाल से लेकर आज तक वनों पर आश्रित रही है, किन्तु भूमण्डलीकरण की लपेट में आये गाँवों का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। अपने-अपने आर्थिक हितों की सुरक्षा और व्यापक बाज़ार की तलाश के हितों में भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया का प्रारंभ बहुत पहले उन्नीसवीं शती में ही हो गया था।

बहुराष्ट्रीय-मल्टीनेशनल कंपनियों ने उदारीकरण, खुला बाज़ार, मुक्त बाज़ारजनित उपभोक्तावाद को जन्म दिया था। जिससे कि भारत जैसे विकासशील व अन्य गरीब देशों की प्राकृतिक संपदा विकसित पूँजीवादी देशों की कंपनियों की लूट का साधन बन गयी है। लेखक ने उपन्यास में ग्लोबल गाँव के दो देवताओं का मुख्य रूप से उल्लेख किया है।

पहला देवता है- विदेशी वेदांग, ग्लोबल गाँव का बड़ा देवता और दूसरा देवता है-टाटा कम्पनी। वेदांग कम्पनी बॉक्साइट के लिए पाट पर अपना कारखाना खोलना चाहती है। शिक्षक कहता है, “कुछ वर्षों से इस इलाके से बॉक्साइट बाहर नहीं भेजकर यही कारखाने खोलने की बात उठती है। लगता है वेदांग उसी टोह में आ रहा है।”⁶ कहा जा सकता है कि वेदांग नामक बहुराष्ट्रीय कम्पनी उसी बॉक्साइट बहुल इलाके में कंपनी स्थापित करने का षड्यन्त्र रचती नज़र आ रही है। जब कम्पनी को वहां स्थापित करने का विरोध होता है तो वह देसी नाम के आधार पर वापसी करने की भरपूर कोशिश करती नज़र आती है। उपन्यास के पात्र डॉ. रामकुमार इस पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं “यह कम्पनी है विदेशी और नाम रखा है ‘वेदांग’ जैसे प्योर देशी है। कितना चालू पूर्जा है इसी से पता चलता है।”⁷ इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि ये कम्पनियां लाभ कमाने किसी भी हद तक जा सकती हैं। उनकी स्वार्थपरकता का घिनौना चेहरा पाठकों के सामने आता है। लेखक यह स्पष्ट करना चाहता है कि किस प्रकार कम्पनियों द्वारा लोगों को देसी नाम के आधार पर छला जा रहा है।

ग्लोबल गाँव का दूसरा देवता टाटा कम्पनी है जिसने असुरों के लोहा गलाने और औज़ार बनाने के हुनर का अन्त कर दिया। रुमझुम कहता है “इस बार कथा-कहानी वाले सिंगबोंगा ने नहीं, टाटा जैसी कम्पनियों ने हमारा नाश किया। उनकी फैक्ट्रियों में बना लोहा, कुदाल, खुरपी, गैंता, खन्ती, सुदुर हाटों तक पहुंच गये। हमारे गलाये लोहे के औज़ारों की पूछ खत्म हो गयी।”⁸ स्पष्ट है टाटा कम्पनी ने जो विनाश किया है वह असुर जाति की सबसे बड़ी हार है। असुरों की रोजी-रोटी का प्रबन्ध लोहा गलाने से चलती है परन्तु टाटा कम्पनी ने मशीनों से उनसे अच्छे-अच्छे लोहे के औज़ार बनाने शुरू कर दिये जिससे असुरों के हुनर का लगभग अन्त ही हो गया।

यह एक संयोग है कि जिन इलाकों में आदिवासी रहते हैं उन्ही इलाकों में खनिज पदार्थ भी हैं। सत्ता और पूंजीपतियों के मेल से कम्पनियों का निजीकरण अधिक धन कमाने के उद्देश्य से किया जाता है जो कि अपने अस्तित्व के लिए लड़ते हैं। इसमें न जाने सत्यभामा शऊर जैसे लोगों की कितनी जानें चली जाती हैं। लेखक सत्यभामा की बलि को याद करता हुआ कहता है “छतीसगढ़ के रायगढ़ जिले से होकर बहने वाली एक बड़ी नदी शिवनाथ एक इंडस्ट्री समूह को बेच दी गई थी। उसका निजीकरण हो गया।”⁹ कहा जा सकता है कि बिजली के नाम पर नदियों के निजीकरण से शहर तो चमकते हैं परन्तु आदिवासी जिन्दगी में तो अन्धेरा ही छाया है और निरन्तर घना होता ही जा रहा है जिसमें कि कई आदिवासी लोगों को, जो इनका विरोध करते हैं अपनी जिंदगी से हाथ धोना पड़ता है। इस प्रकार लेखक ने अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों के आगमन से हुए विनाश को स्पष्ट किया है। औद्योगिक विकास के नाम पर न जाने कितनी संस्कृतियों और सभ्यताओं को उजड़ने का दुख झेलना पड़ा है।

लेखक ने ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ का कथा केन्द्र यद्यपि झारखण्ड के कीकट क्षेत्र के असुर समुदाय के लोगों का जीवन रखा है लेकिन वह जानता है कि जब से भारत में पूँजीवाद का भूमंडलीकरण आया है तब से पूरे देश के आदिवासी समुदायों की प्रकृति, संस्कृति और जिन्दगी खतरे में है इसलिए वे आत्मरक्षा के लिए लड़ रहे हैं। उपन्यास का युवा पात्र रुमझुम हमारा ध्यान पूंजीपतियों के शोषण की ओर खींचता है। वह कहता है “हमारा बॉक्साइट यहाँ से डेढ़ दो सौ किलोमीटर दूर जहाँ प्रोसेस होकर अल्युमिनियम से ढलता है, वह जगह सिल्वर सिटी ऑफ इंडिया कहलाती है।”¹⁰ कहा जा सकता है जो लोग सुख-सुविधाओं से कोसों दूर रहकर जीवन संघर्ष में रत हैं उनके जीवन से सुख के मूल्य पर ही दूसरा वर्ग सुखपूर्वक जीवन बिताता है। जिनकी जिन्दगी में केवल अभाव ही अभाव है वे जीवन भर संघर्ष

करते रहते हैं। देश के आर्थिक विकास के लिए योजनाओं के नाम पर उन्हीं के क्षेत्र को खोखला किया जाता है, तब भी वे कुछ नहीं कर पाते। शिक्षक जब भौरोंपाट पहुंचता है तो देखता है “छिटपुट जंगल बाकी खाली, दूर-दूर तक फैले उजाड़ बंजर से खेत। बीच-बीच में बॉक्साइट की खाली खदानें। जहाँ से बॉक्साइट निकाले जा चुके थे, वे गड्ढे भी मुँह बाये पड़े थे।”¹¹ कहा जा सकता है बड़ी-बड़ी देशी-विदेशी कम्पनियाँ प्राकृतिक संसाधनों का बेहिसाब प्रयोग कर रही हैं, जिसका प्रभाव उस क्षेत्र विशेष पर नहीं सम्पूर्ण पर्यावरण पर भी पड़ता है। उपन्यास में असुरों की भूमि पर बाहरी शक्तियों द्वारा कब्जा कर लेने के बाद ये जनजाति कुछ नहीं कर पाती।

लेखक ने पूंजीपतियों की स्वार्थपरता को दिखाने का प्रयास किया है जिसमें सभी एक हो गए हैं। उपन्यास की स्त्री ललिता यह बात अच्छी तरह से जानती है, वह शिक्षक से कहती है “ग्लोबल गाँव के आकाशचारी देवता और राष्ट्र राज्य दोनों एक-दूसरे से घुलमिल गये हैं। दोनों को अलगाना अब मुश्किल है।”¹² स्पष्ट है कि इस शोषण की प्रक्रिया के पीछे पूंजीपतियों के साथ देश की सत्ता और अपने ही राज्यों के लोगों द्वारा अंजाम दिया जा रहा है। इन सब शक्तियों ने मिलजुलकर खनिज पदार्थों को हथियाने के लिए आदिवासी क्षेत्रों के जंगल और ज़मीन पर सम्मिलित रूप से शोषण शुरू कर लिया है। जहाँ एक ओर पूंजीपति वर्ग प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कर आदिवासी शोषण पर जोर दे रहा है, वहीं सरकार अपनी खोखली योजनाओं द्वारा उनको पूर्ण समाप्ति की ओर ले जा रही है। ये सरकारी योजनाएं मात्र स्वार्थवश लायी जाती हैं। सरकार पाट पर बरसाती आलू की योजना लाती है। डिशांल्को कम्पनी का मैनेजर सबको बताता है “इस साल सरकारी बीज से खेती कीजिये। कॉर्पोरेटिव आलू खरीद लेगा और रुपया आपके नाम से बैंक में डाल देगा। उसी पैसे से अगले साल बरसात में खुद से आलू लगाना। बीच में खाता से पैसे नहीं निकालना है, चाहे भूखे मर रहे हो तब भी।”¹³ स्पष्ट है कि सरकार द्वारा बरसाती आलू योजना का लाया जाना अपने स्वार्थ के लिए है ताकि पुलिस की आंतक से पलायन कर चुके लोगों को वापस पाट पर लाया जाए और कम्पनियों के सस्ते मज़दूर की ज़रूरतें पूरी की जाएं।

ललिता सरकार की योजनाओं को समझने का प्रयास करती है वह कहती है “आज तक पाट के असुरों ने विकास के नाम पर यही कम्बल, मच्छरदानी, बकरी छगरी देखी थी ज्यादा से ज्यादा इन्दिरा आवास।”¹⁴ स्पष्ट है कि आदिवासी युवा वर्ग शिक्षा के कारण जागृत हो गए हैं और सरकारी योजनाओं का विश्लेषण करते नज़र आते हैं। ललिता कहती है “पाथरपाट में राजधानी के बड़े-बड़े हाकिमों में नाशपाती के बड़े-बड़े बगान लगा रखे थे। बीस-बीस एकड़ के बगान।... किन्तु असुरों के गाँव में नाशपाती के बगान की योजना कभी नहीं बनती।”¹⁵ स्पष्ट है कि सरकार नाशपाती के बागान की योजना असुरों के गाँवों में इसलिए नहीं लाती क्योंकि कल यहीं से बॉक्साइट निकालना पड़ गया तो सरकार का सारा पैसा डूब जाएगा। इस प्रकार हमें देखने को मिलता है। अवैध खनन की जाँच में लालचन और रुमझुम आवेदन करते हैं तो उसकी जाँच एक भ्रष्ट अधिकारी को ही दी जाती है। शिक्षक कहता है “छोटे-बड़े सभी खदान मालिकों का एक ही रवैया। लीज की भूमि पर कम ... असुर रैयत की ज़मीन में ज्यादा... दरखास्त खुद रुमझुम, लालचन... बाद में मालूम हुआ, जिला खनन पदाधिकारी की जाँच की जिम्मेदारी सौंपी गई है।”¹⁶ कहा जा सकता है कि सरकारी अधिकारी भी लाख मुनाफा कमाने के फ़िराक में रहते हैं। यहां बिल्ली को ही दूध की रखवाली करने को रहा जाता है अर्थात्, एक भ्रष्ट अफसर को जांच का काम सौंपा जाता है। आदिवासियों को लूटने के लिए ग्लोबल गाँव के देवता एक हो गए हैं। विज्ञान का सहारा लेकर जब ये राष्ट्र राज्य अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है ललिता कहती है “सैटेलाइट की आँखों से छत्तीसगढ़, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, झारखंड आदि राज्यों की खनिज सम्पदा, जंगल और अन्य संसाधन देखते हैं तो उन्हें

लगता है कि अरे, इन सब पर तो हमारा हक है।'¹⁷ स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया के साथ ही आदिवासियों के अस्तित्व के अन्त का आरम्भ होने लगता है। क्योंकि ग्लोबल गांव के देवता अपने हक को पाने के लिए वे आदिवासियों को बेघर कर उनसे निजात पाना चाहते हैं। जागरूक आदिवासी जो भी इनका प्रतिरोध करेंगे उनके खिलाफ ये मिलकर रणनीति बनाते हैं। लालचन और डॉ. रामकुमार सरकार के षडयन्त्रों का विरोध करते हैं तो पुलिस प्रशासन द्वारा उन पर अत्याचार करवाया जाता है शिक्षक कहता है “पुलिस ने रामकुमार और लालचन को उठा लिया। दोनों अलग-अलग जीपों में बैठाये गये। दोनों जीपें विपरीत दिशाओं के जंगलों में घुसीं। दोनों को एक-दूसरे का एनकाउंटर करने की न केवल बात बतायी गयी बल्कि दोनों ने ही गोली की आवाज़ सुनी।”¹⁸ स्पष्ट है कि उनके विरोध को दबाने के लिए सत्ता पर काबिज मंत्री अपने षडयन्त्रों का शिकार बनाते हैं। असुर गाँव इस दुर्दशा के जिम्मेवार छोटे-बड़े, नये-पुराने, देशी-विदेशी और सत्ता तंत्र के सभी लोग मुख्य भूमिका निभाते नज़र आते हैं।

उपन्याय में राष्ट्र राज्य मिलकर लूट, धोखाधड़ी के रूप में उभरकर सामने आए हैं। समझौता करने जा रहे आदिवासियों को एक षडयन्त्र के द्वारा उड़ाया जाता है। शिक्षक कहता है “पता चला कि लैंड माइंग बिचायी गयी थी। बातचीत के लिए जाते ललिता, बुधनी दी, गन्दुर, एतवारी, लालचन दा के बाबा और पन्द्रह लोग की धजियाँ उड़ गयी थी।”¹⁹ इस प्रकार साम्राज्यवादी शक्तियों का घिनौना चेहरा सामने आता है। लैंडमाइन्स की घटना को देखकर ग्लोबल गाँव के देवता खुश हो जाते हैं क्योंकि वह असुरजाति के पूरे इतिहास की सबसे बड़ी हार है शिक्षक कहता है “ग्लोबल गाँव के देवता खुश थे। जो लड़ाई वैदिक युग से शुरू हुई थी, हजार-हजार इन्द्र जिसे अंजाम नहीं दे सके थे, ग्लोबल गाँव के देवताओं ने वह मुकाम पा लिया था।”²⁰ कहा जा सकता है कि आर्य देवता असुरों की हत्या को अपना धर्म मानते थे और उनसे लड़ते थे परन्तु उनका विनाश नहीं कर पाये थे। वहीं ग्लोबल गाँव के देवता असुरों और अन्य आदिवासियों को अपने विस्तार के रास्ते का रोड़ा मानते हैं इसलिए इनके अस्तित्व को अनावश्यक समझते हुए इनका विनाश करने में प्रयासरत हैं।

लेखक ने उपन्यास में भूमण्डलीकरण के प्रभाव को दिखाते हुए पूँजीपतियों के रूप से रूबरू करवाने के साथ असुर संघर्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अतः आदिवासी संघर्ष की कमान रुमझुम के भाई सुनील को थमाकर संघर्ष को जारी रखा है। इस संघर्ष की बागडोर लैंडमाइन्स की घटना के बाद सुनील हॉस्टल से आकर सम्भालता है। आज भारतीय समाज में नैतिकता का ह्रास हो रहा है। समाज का शोषक वर्ग हमेशा निम्न वर्ग का भरपूर शोषण के लिए जाना जाता है। अर्थ कमाने की होड़ में चारों तरफ नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है। परिवर्तन की इस लहर में समाज का निर्धन वर्ग सबसे ज्यादा प्रभावित हो रहा है। यदि हम प्राचीनता का आधुनिकता के साथ सामंजस्य करें तो हम पाते हैं कि आज आधुनिक भारतीय समाज ज्यादा बैचन है। भौतिकता की चकाचौंध में आज का युवा वर्ग कहीं नशावृत्ति में, तो कहीं वेश्यावृत्ति में फंस रहा है। समाज का पूँजीपति वर्ग अपने निजी स्वार्थों के लिए इस चीज को बढ़ावा दे रहा है। जिससे कि समाज में अराजकता, अशांति, भ्रष्टाचार तथा मानव के जीवन मूल्यों का ह्रास हो रहा है। रणेन्द्र ने अपने उपन्यास ‘ग्लोबल गांव के देवता’ में इस समस्या को उजागर किया है।

भूमण्डलीकरण भौतिकवाद का युग है। अतः आधुनिक युवक-युवती भौतिकता की चकाचौंध में उलझकर रह गए हैं जिस कारण वह अपने नैतिक मूल्यों के पतन की ओर अग्रसर हो रहे हैं। उपन्यास में असुर लड़कियों का शारीरिक शोषण कुछ उच्च वर्ग के पूँजीपतियों द्वारा होता है तो कुछ आभूषणों और पैसों के लालच में स्वयं इसका शिकार होती हैं जिससे कि वेश्यावृत्ति का बढ़ावा मिलता रहता है। शिक्षक कहता है “खदान मे सेठ, मुंशी, क्लर्क, अफसरों के डेरों

में खटने वाली युवतियों के रंग-ढंग देखते ही देखते बदल जाते। स्नो-पाउडर, रंग-आलता, नकली जेवर से सजने लगती।'²¹ स्पष्ट है कि पैसों के लालच में असुर समाज की स्त्रियां स्वयं वेश्यावृत्ति को बढ़ावा देकर जीवन मूल्यों को नष्ट करती दिखती हैं।

शिंडाल्को कम्पनी के मैनेजर की डायरी भी वेश्याओं के नम्बरों से सजी पड़ी है। शिक्षक कहता है “सोवियत रूस के विघटन के बाद दिल्ली के सस्ते होटलों में अतिश्वेताओं की भरमार थी, जिनके मोबाइल नम्बर इनकी डायरी की शोभा बढ़ाया करते।”²² कहा जा सकता है कि वेश्यावृत्ति को बढ़ावा देने के लिए सत्ताधारी पूँजीवर्ग हमेशा आगे रहता है। मनुष्य आज ज्यादा से ज्यादा धन कमाना चाहता है उसे अनैतिक कार्यों को करने से भी परहेज नहीं है। पैसों के लालच में वेश्यावृत्ति को बढ़ावा देकर अपने मानवीय मूल्यों का पतन करता नज़र आता है। अतः लेखक ने इन पूँजीपतियों की पाश्विक वृत्तियों को पाठकों को समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अतः लेखक ने अपने उपन्यास में भूमण्डलीकरण के आक्रमक दौर को प्रस्तुत किया है। जिसमें राजनीति और अर्थनीति एक साथ चल रही है। प्रत्येक मनुष्य की धन-लोलुपता सभ्यता व संस्कृति को प्रदूषित कर रही है। अतः उसके जीवन मूल्यों का हास होता जा रहा है।

भूमण्डलीकरण की आंधी ने आदिवासी समाज को तबाह करने की अहम भूमिका निभाई है। मीडिया, सरकार और समाज की अनदेखी का ही परिणाम है कि आज अनेक जनजातियों का अस्तित्व संकट में है। राजनीति सत्ता के दबाव एवं धन लोलुपता में मीडिया भी आदिवासी की समस्याओं से किनारा करने लगा है। अगर अखबार में खबर छपती भी है तो वह किसी हैंडसम क्रिकेटर व सुन्दर मॉडल्स की खबर के सामने दब जाती है। रणेन्द्र ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ में मीडिया की भूमिका को पाठकों के सामने स्पष्ट करने का प्रयास करते नज़र आते हैं। अपने अस्तित्व के लिए लड़ रहे आदिवासियों और पुलिस मुठभेड़ में बालचन और उसके अन्य साथियों की मृत्यु होती है। दूसरे दिन शिक्षक इस आशा से अखबार पढ़ता है कि अखबार में इस संघर्ष का वर्णन ज़रूर होगा परन्तु उसे निराशा ही हाथ लगती है। शिक्षक कहता है “दूसरे दिन अखबारों में इस नृशंस हत्याकांड की खबरें खोजने पर निराशा ही हाथ लगी। एक हैंडसम क्रिकेटर के एक ओवर में लगाये गए छह छक्के की खबर सब खबरों पर भारी थी। बाकी रूटीन खबरें थी।”²³ स्पष्ट है कि राजनीति सत्ता के दबाव में रहकर मीडिया भी ऐसी खबरों से दूर रहने की कोशिश करता है। आदिवासी को असामाजिक तत्व मानकर उनसे और उनकी समस्याओं से दूरी बनाए रखने में ही मीडिया अपनी भलाई समझता है।

शिक्षक जब खबर ढूँढते-ढूँढते तीसरे पेज पर पहुंचता है उसे दो कॉलम में समाचार मिलता है जिसे देखकर वह हैरान हो जाता है। खबर इस प्रकार छपी थी “पाथरपाट में हुए पुलिस मुठभेड़ में छह नक्सली मारे गये। मारे गए नक्सलियों में कुख्यात एरिया कमांडर बालचन भी शामिल।”²⁴ स्पष्ट है कि मीडिया की नजरों में छः आदिवासियों का कोई मूल्य नहीं, क्योंकि इनके पास कोई धन, बाहुबल नहीं है जिसके आधार पर इन्हें इन्सान समझा जा सके। शान्तिपूर्ण भीड़ को नक्सली कहना पूँजीवादी व्यवस्था को सहज लगता है। यहाँ पुलिस व सेना की नृशंसता पर मीडिया पर्दा डालता है। पाट में पुलिस फायरिंग में मारे गए निर्दोष असुरों को नक्सली ठहराया जाता है। शिक्षक आगे कहता है “फिर बालचन के नृशंस कारनामों का विवरण। किसी एस.पी., दरोगा की हत्याओं और किन-किन बैंक डकैतियों में वह शामिल रहा था। एकदम आँखों देखा विवरण। अन्त में इस बात का उल्लेख था कि भागते समय नक्सली लाशें उठा ले गये। पुलिस फोर्स लाशों की तलाश कर रही है।”²⁵ कहा जा सकता है कि मीडिया पूँजीपतियों का अन्य आदिवासियों को संदेश देना चाहता है कि जो भी प्रतिरोध के लिए खड़ा होगा उसे नक्सली बनाकर उसके साथ जैसा चाहे व्यवहार कर सकते

हैं, जब चाहे गिरफ्तार कर सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट कहा जा सकता है किस प्रकार लोकतन्त्र का चौथा स्तम्भ मीडिया भी पूंजीपति सत्ता के काथ मिलकर गरीबों के शोषण में अपनी भूमिका निभा रहा है। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास में आदिवासी समुदाय की हार जो दिखाई पड़ती है उसके पीछे बहुराष्ट्रीय कम्पनी की अपार धन-शक्ति राष्ट्रीय सरकार के द्वारा उसका समर्थन और समाज में प्रलोभनों के द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थ का प्रसार एवं लोगों की संघर्ष चेतना अपने-अपने ढंग से व्यक्त होती है।

संदर्भ -

1. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, पृ. 12-13
2. रवीन्द्र कालिया, नया ज्ञानोदय मार्च-2010. पृ. 14
3. पुष्पपाल सिंह, भूमण्डलीकरण और हिन्दी उपन्यास, पृ. 16
4. ऋत्विक् राँय, लमही, जनवरी-मार्च 2014 पृ. 10
5. अनन्त कुमार सिंह, जनपथ, मई-जून 2014, पृ. 15
6. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, पृ. 80, 80, 83, 91, 16, 9, 93, 96, 95, 95, 27, 93, 93, 100, 100, 39, 53, 88, 88, 88



गीतांजलि श्री के कथा साहित्य में चित्रित नारी समस्याएं

-कल्पना रानी

गीतांजलि श्री के कथा-साहित्य का केन्द्र बिन्दु नारी है। इसलिए वे नारी अस्तित्व और नारी-अस्मिता के लिए एक क्रान्तिकारी लेखिका के रूप में जानी जाती हैं। नारी अस्तित्व से जुड़ी अनेक समस्याओं को इन्होंने अपने कथा- साहित्य के माध्यम से उठाया है। उनके कथा साहित्य में प्रतिद्वन्द्वी पात्र पुरुष वर्ग है जो इन समस्याओं का जन्मदाता न सही पर कारण अवश्य है। ऐसा प्रमुख कारण जिसने नारी जीवन के हर पहलू को प्रभावित किया है। वह पुरुष ही है जो अपनी सत्ता बरकरार रखने के लिए स्त्रियों को नियम-कायदे की जटिल मान्यताओं में बाँधे रखता है। इसके पीछे शायद उन्हें यह भय है कि नारी को पुरुष के समान समाज में यदि दर्जा मिल जाता है तो पितृसत्तात्मक व्यवस्था का ढाँचा लड़खड़ा जाएगा। नारी सदियों से सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और पारिवारिक क्षेत्रों में पुरुष से कहीं बेहतर शासक सिद्ध हुई है। यही कारण है कि उसे किसी न किसी बहाने से इन दायित्वों से अलग रखने का प्रयास किया जाता रहा है।

नारी की समस्याओं के प्रति संवेदनशील लेखिका 'गीतांजलि श्री' का कथा साहित्य नारी विमर्श का महत्वपूर्ण आधार है। उनका उपन्यास 'माई', 'तिरोहित' तथा कहानी-संग्रह 'अनुगूँज' नारी विमर्श की एक सशक्त कड़ी है। वास्तव में 'नारी विमर्श' नारी जीवन से जुड़ी समस्याओं को खुलकर समाज के फलक पर रखता है। नारी अस्मिता समाज व परिवार में नारी की सम्मानजनक भूमिका व नारी के अधिकारों व दायित्वों पर चिन्तन करना ही मूलरूप से नारी विमर्श है। आधुनिक कथा-साहित्य में महिला लेखिकाओं ने प्रमुखतः अपने साहित्य में नारी समस्याओं को उठाया है। गीतांजलि श्री ने आधुनिक महिला लेखिकाओं में अपनी उत्कृष्ट रचनाओं द्वारा विशेष ख्याति प्राप्त की है। मुख्यतः उनके उपन्यास 'माई' द्वारा उन्होंने हिन्दी साहित्य को एक उल्लेखनीय कृति प्रदान की है। 'माई' एक ऐसी औरत की कथा है, जो अपनी अस्मिता और पहचान अपने परिवार के लिए विसर्जित कर देती है। माई पूरे परिवार को सहेजती है, संभालती है, घर के सारे काम सारी जिम्मेदारियां वह चुपचाप निभाती चली जाती है लेकिन उसकी इच्छाएं व भावनाएं क्या हैं, इससे परिवार के किसी सदस्य को कोई सरोकार नहीं है। परिवार के लिए हर स्थिति, हर दबाव व संघर्ष का सामना करने वाली माई परिवार की धुरी है। उसका व्यक्तित्व इतना दबा और घुटा हुआ है कि वह किसी बात का विरोध प्रकट नहीं करती। नरेटर (सुनैना- माई की बेटी) के शब्दों में, "वह कठपुतली थी, इतनों की डोरों पे फिरकते हम उसे देखते बड़े हुए। पर इतनों के खींचने पर भी वह टुकड़ों में छितरी नहीं, साबुत रही और खिंचती रही, अपने संचालन की डोर खुद ही थामे, बस पीठ झुक गई, ये सब हमारे पल्ले नहीं पड़ रहा था। हम पगला उठे थे, कहीं और भी माई लुटी है। उसे बचाने को और भी तड़प उठे।" माई उपन्यास में लेखिका ने स्पष्ट तौर पर आधुनिक युवा पीढ़ी के अपनी माँ के प्रति चिन्ता एवं उसे ड्योढ़ी की कैद से मुक्त कराने के प्रयत्नों के साथ-साथ परम्परा एवं नैतिकता के संघर्ष को भी चित्रित किया है। परम्परागत रूढ़ियों में जकड़ी माई अपने सास-ससुर, पति की सेवा में रत तथा दिन-रात, घर-गृहस्थी के कार्यों की जीवनचर्या में व्यस्त रहती है। जिसे उसकी बेटी सुनैना तथा बेटा सुबोध सहन नहीं कर पाते। कमजोर रीढ़ की

हड्डी के कारण दिन-रात झुककर काम करने में व्यस्त माई को कैसे राहत मिले और इस यंत्रणा से त्राण मिले, इसकी चिन्ता दोनों को इतना सताती है कि वे उसके लिए सबसे लड़ते हैं, यहां तक कि अपने बाबू का भी अपमान करने में नहीं झिझकते, “बिना सोचे कह देते हैं कि इतने लोग आ गए हैं, सब खाना खाएँगे। कभी सोचने की कोशिश की है कि अन्दर किस बात पर बीतती है, कौन बीमार हो रहा है? अपनी सेहत इतनी प्यारी कि रोज़ सूर्य नमस्कार और न जाने क्या-क्या करेंगे। अन्दर वालों की खैर की परवाह की है कभी?”² परन्तु यह सब वे जिसके लिए करते हैं वह तो कुछ और ही चाहती थी। सुबोध के ऐसे व्यवहार पर बाबू तो कुछ नहीं कह पाए परन्तु माई की आँखों में अपमान बोध छलक आया, “तुमसे तो नहीं कहते हमारे जैसे बनो, तुम क्यों जबरदस्ती हमें बदलना चाहते हो? हमारी दीवार रेत की भित्ति पर खड़ी होगी, खुद ही टूट जाएगी, तुम क्यों लात जमाते हो? कभी बाबू ने सरासर सहज आवाज़ में माई को अज्ञानी कह दिया। हमारे बचपन से उठता वेदना भरा इतिहास उद्वेलित हो उठा, “आप तो पढ़-लिखकर अज्ञानी हैं, अन्धविश्वासी हैं।” और अंग्रेजी में ठोक दिया, “यू टॉक लाइक अ फूलिश इलिट्रेट।”³ परन्तु माई इसे भी सहन न कर पाई, “अंग्रेजी में अटर-पटर कुछ भी कहने की छूट मिल गई है क्या? अपने पिता की इज्जत नहीं कर सकते तो यहाँ आने की कोई जरूरत नहीं। रहो इंग्लैंड में या जहाँ भी चाहो।”⁴ वास्तव में सुबोध तथा सुनैना माई को ड्योढ़ी से निकालने के लिए तरह-तरह के प्रयत्न करते परन्तु ऐन मौके पे माई स्वयं को पीछे खींच लेती। माई का इस तरह पीछे हटना उसके संघर्षशील व्यक्तित्व से परिचित करवाता है।

माई के पति के किसी अन्य स्त्री से विवाहेतर सम्बन्ध है। बाबू अक्सर उस औरत से मिलने जाते हैं। माई सब कुछ जानती है पर चुप रहती है। उपन्यास में बाबू द्वारा उस औरत को लखनऊ ले जाने की सूचना भी मिलती है। बाबू ऑफिस का काम निकालकर उस औरत से मिलने लखनऊ भी जाते हैं। माई न तो बाबू के इस सम्बन्ध का विरोध करती है और न ही अन्य लोगों द्वारा इस सम्बन्ध की चर्चा सुनकर बाबू का बचाव करती है। इस सम्बन्ध को लेकर उसमें कोई हीनभावना भी नहीं दिखती। बस एक उदासीनता का भाव उसके भीतर घर कर गया है। सुनैना के शब्दों में, “बाबू से लड़ना इतना मुमकिन नहीं था। हम चाहते थे कि माई उनसे भी लड़े पर माई लाख ललकारो न लड़ी। उस औरत की भी बात माई ने हमसे कभी नहीं की, हममें पूछने की हिम्मत भी नहीं थी, वह तो रात की खुसुर-पुसुर में हमने सुना था कि बाबू उसे लखनऊ ले गए थे। बाद में सुबोध ने स्कूटर उसके घर के आगे अँधेरे की ओट में रोका- “वह है।” और माई के बुने स्वेटर को पहचानकर भी मुझे यकीन नहीं हो पाया।”⁵ अपने पिता के विवाहेतर सम्बन्धों के प्रति माई की यह उदासीनता उसके स्त्री होने की विवशता है। एक रोज़ क्लब में किसी परिचित के यह कहने पर कि उन्होंने बाबू को लखनऊ में किसी महिला रिश्तेदार के साथ देखा था, माई सौम्य रहकर उत्तर देती है कि लखनऊ में उनके कोई रिश्तेदार नहीं रहते। माई ने चुप रहकर भी भीतर ही भीतर इस सम्बन्ध में अपना विरोध दर्ज किया था। पर उसकी आवाज़ घर की चारदीवारी में ही घुटकर रह गई। इस चारदीवारी को न लाँघ पाना उसकी विवशता है। वह बँधी है परिवार में, संतान से और समाज की मर्यादा से। वास्तव में पारिवारिक संस्था की धुरी स्त्री की विवशता एवं उसके परित्याग पर ही टिकी होती है।

‘माई’ उपन्यास में स्त्रियों के प्रति दादा का दृष्टिकोण अति संकीर्ण एवं परम्परावादी है। सुनैना का लड़की होने के कारण बोर्डिंग स्कूल जाने की इच्छा का कड़ा विरोध होता है, “दादा चीखा करते थे कि इनका भाई फर्स्ट आया है, इन्हें क्या मिला है जो इस तरह उछल रही हैं। बाहर जाके पढ़ूँगी? हमें नहीं बिगाड़ना है अपने बच्चों का भविष्य जो ऐरी-गैरी जगह भेजें। सबकी बेटियाँ यहीं पढ़ रही हैं। उनके दिमाग खराब हैं क्या?”⁶ सुनैना के पैंट-स्कर्ट पहनने पर भी

दादा को ऐतराज है और वह उसके हम उम्र लड़कों व सहेलियों के हम उम्र भाइयों से भी मिलने-जुलने पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। सुनैना के बाबू भी बेटे-बेटी में भेदभाव बरतने में पीछे नहीं हैं। वे सुनैना को बैंक में हस्ताक्षर करते समय उसके नाम 'सुनैना तिवारी' की जगह सिर्फ सुनैना लिखने की हिदायत देते हैं क्योंकि उनका मानना है कि शादी के बाद नाम बदलता ही है तो वह पूरा क्यों लिखा जाए। परम्परागत परिवारों में यह आम मान्यता एवं चलन है कि विवाह के बाद लड़के के परिवार की जाति या नाम ही लड़की को अपने नाम के साथ लगाना पड़ता है। लड़की को बचपन से ही यह संस्कार दिया जाता है कि उसकी पहचान शादी के बाद बदल जाएगी। सुनैना के शब्दों में, "जिल्लत का आभास वक्त-बेवक्त मुझे हो जाता मैंने माई से कहा तो उसने मुझे समझाया कि बाद में नाम बदलेगा तो क्यों लिखो? और मुझे लगा अभी मैं हूँ ही नहीं या फिर सुनैना तिवारी है तो केवल मिटने के दिन के लिए है और तब होगी अगर होगी।" पितृसत्तात्मक व्यवस्था का यह रवैया स्त्री के आत्म को विकसित ही नहीं होने देता। स्त्री में पिता, भाई और शादी के बाद पति पर निर्भर होने का स्वभाव बचपन से ही विकसित किया जाता है।

'तिरोहित' उपन्यास में भी लेखिका ने इसी तरह के संघर्ष एवं द्वन्द्व को चित्रित किया है। तीन भागों में विभाजित उपन्यास लेखिका द्वारा नवीनतम प्रयोग है। कथा अलग-अलग कड़ियों में प्रवाहित होकर भी एक सूत्र में बँधी रहती है। आत्मकथात्मक शैली में पात्र आकर अपनी कथा को आगे बढ़ाकर कथा में ही विलीन हो जाते हैं। प्रथम भाग में भतीजा जिसका पालन-पोषण उसकी मुँहबोली माँ 'चच्चो' वास्तविक नाम अम्बिका ने किया है अतीत की यादों में खोया हुआ अपनी कथा सुनाता है। 'चच्चो' जिसकी मृत्यु हो चुकी है। वह उसे अपनी माँ से भी बढ़कर मानता है। फ्लैश बैक में जाकर वह विविध कड़ियों के माध्यम से अपने तथा चच्चो के सम्बन्ध के विषय में कहता है, "चच्चो, जो मेरी माँ नहीं थी, जिस बात का दुख मुझे बचपन के बाद से ज़्यादा ज़्यादा और ज़्यादा सालता रहा है। जिसे आज मैं किसी भी तरह से, हर हालत में अपनी माँ ही मानता हूँ। तुम होती तो कह देता यह सब तुमसे, चच्चो, मेरी माँ, तुम, और कोई नहीं।"⁸

उसका मानना है भली लड़की या औरत वही होती है जिसे कोई देख न सके या जो किसी को दिखना ही न चाहे, "चच्चो को किसी ने नहीं देखा। भले घर की भली लड़की, हाँग-काँग में कमाते सम्पन्न पति की पत्नी, शान्त, सौम्य, सहमकर रहने वाली, रातों में घर के अन्दर के सिवा कहीं न हो सकने वाली वह उनमें नहीं जो लम्पट अँधेरों में दिखें। जब मन में ही ऐसी बात नहीं आ सकती तो उसे कौन देख सकता है।"⁹ वह चच्चो से बहुत प्रेम करता है। चच्चो की मृत्यु से वह बिल्कुल अकेला हो जाता है। वह टूट जाता है। जहाँ वह उसे जन्म न देकर मात्र उसका पालन-पोषण करने वाली औरत से इतना प्रेम करता है, हैरत की बात है कि उसे जन्म देने वाली औरत से वह अत्यधिक नफ़रत करता है। वह उसका मुँह तक नहीं देखना चाहता, केवल इसलिए कि पुरुष की वासना का शिकार हुई वह औरत दुनिया के डर को नकार उसे जन्म देती है। यह समाज की नारी के प्रति दोहरी नीति ही है कि जो पुरुष स्त्री की देह का उपभोग कर उसे गर्भवती कर समाज की नजर में कलंकिनी बनाता है, उसके आदर-सम्मान में कोई कमी नहीं आती। ललना के गर्भ से पैदा हुआ 'बिटवा' अपने चाचा जी के साथ हमेशा सहज रहा जबकि उन्हीं के द्वारा शोषित उसे जन्म देने वाली माँ 'ललना' से नफ़रत करता है कि कहीं अपने आप से बात करता हुआ कहता है, "हँस नहीं रहा अपने पर, रो रहा हूँ इस छल पर जो मुझे गलत गर्भ ने धारण कर लिया और कितने रौशन मेरे जन्मसिद्ध अधिकारों से अलग कर दिया।"¹⁰ लेखिका ने 'तिरोहित' के माध्यम से स्त्री के प्रति स्वयं उसकी संतति के दृष्टिकोण तथा व्यवहार का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। समाज का महत्वपूर्ण अंग होने के बावजूद भी नारी पग-पग पर प्रताड़ित एवं लाँछित होती रही है। पुरुष प्रधान समाज में उसका स्थान नगण्य रहा है। वास्तव में नारी का जीवन अत्याचार, घुटन, पीड़ा एवं बंधनों से ग्रस्त दुःखी जीवन है।

भारतीय समाज में नारी तरह-तरह के बंधनों से जकड़ी हुई है। नारी की अपेक्षा पुरुष निरंकुशता पर कोई बंधन नहीं है। पुरुष जिससे चाहे प्रेम और प्रणय कर सकता है परन्तु नारी नहीं। 'तिरोहित' उपन्यास की ही मुख्य पात्र चच्चो के पति स्वयं अपनी कामेच्छा की पूर्ति अन्य स्त्री से करता है परन्तु अपनी पत्नी की भावनाओं और प्रणय निवेदन को वह इस तरह से टुकराता है कि वह औरत मन की कोमल भावनाओं का पूर्णतया हनन करके औरत पर अपने आदमीपन का शिखिसयत होने की विजय का परिचय देता है, "क्योंकि मुझे औरत चाहिए तुम नहीं।"¹¹

वह उसे धक्का देकर खुद से अलग कर देता है। ऐसा एक बार नहीं बार-बार हुआ। इन घटनाओं का प्रत्यक्षदर्शी पात्र "भतीजा कहता है, "बार-बार मैंने पलकों को मीचे देखा-चच्चो चोट खाए साँप सी अलग छिटकी खड़ी है....."¹² यह कहना सही ही होगा कि सामाजिक मर्यादाएं जहाँ औरत को नैतिकता का भय दिखाकर बाँधती हैं, वहीं पुरुष को सम्पूर्ण आज्ञादी प्रदान करती हैं। स्त्री देह स्वयं उसके लिए भय, मर्यादा एवं अपमान का कारण बन जाती है। वहीं दूसरी ओर पुरुष के लिए कोई ऐसी मर्यादा नहीं जिसका पालन करने के लिए समाज उसे बाध्य करे। जो पति चच्चो को अनेक बार टुकराता है वही चच्चो उसके नाज़ायज पल रहे बच्चे को जन्म देने वाली दूसरी औरत की जी-जान से सेवा करती है। लोग कहते, "बेचारी चच्चो, जो पति की करनी पर चूँ तक नहीं करती और उस दूसरी के सूजे पेट पर रहम करके उसकी तीमारदारी में लग गई।"¹³ औरत वही जो आदमी के मन को समझे, उसे माफ कर दे। उसे भटक कर लौट आने दे। यही समाज की नारी से हमेशा माँग रही है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने आरम्भ से ही नारी मन में इस तरह के विचार भरे कि उनका पुरुष के बिना कोई अस्तित्व ही नहीं है।

गीतांजलि श्री ने अपने कथा-साहित्य में स्त्री व उसकी नियति को अनेक स्तरों पर महसूस एवं उद्घाटित करने के साथ-साथ परम्परागत मान्यताओं की मजबूती के विरुद्ध संघर्ष करने वाली नई जीवन दृष्टि की मांग करने की भरपूर चुनौती प्रस्तुत करती हुई स्त्री का चित्रण किया है। स्त्री की पीड़ा, उसके व्यक्तित्व के विकास के रास्ते में आने वाली बाधाओं, परिवार के दायरे में अपनों के द्वारा उसका दमन और उत्पीड़न तथा पारिवारिक रिश्तों की असंवेदनशीलता इत्यादि अनेक समस्याओं का सामना करते इनके नारी पात्र इनके कथा-साहित्य में संघर्षरत दिखाई देते हैं।

"प्राइवेट लाइफ" कहानी की नायिका भी इसी तरह की परिस्थितियों से जूझते हुए दिखाई पड़ती है। लेखिका ने बड़ी ही चतुराई से स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व एवं स्वनिर्णय का प्रश्न उठाया है। तीस साल की उमर हो जाने पर भी उसके चाचा-चाची उसे शादी के लिए नहीं मना पाए और न ही नौकरी करने से रोक पाए। वह होस्टल छोड़कर एक बरसाती किराए पर ले लेती है। अपने घर की तीव्र इच्छा के चलते वह उस बरसाती में ज़रूरत का सारा सामान इकट्ठा करके अपने हाथों से सजाती है। वह अपने चाचा-चाची को जैसे ही अपने रहने की खबर देती है। उनके क्रोध का ठिकाना नहीं रहता, "अलग, अकेले रहने की क्या ज़रूरत पड़ गई? होस्टल में कौन सी कमी है? हर सहूलियत है, इज्जत है, सुरक्षा है, कोई देखनेवाला है..." यही तो वह कह रही थी। किसी देखनेवाले की ज़रूरत नहीं है। उसकी दिनचर्या तय करने वाला कोई और नहीं होगा। वे ज्वालामुखी की तरह फूट पड़े थे, "यह ज़रूरी होता है। हमारे समाज में लड़की हमेशा किसी की निगरानी में रहती है। पहले बाप, फिर पति, फिर बेटा उसकी देखभाल करता है।"

"पर मैं अपनी देख-रेख खुद करूँगी।" उसे लगा, कैसी ज़िल्लत है जो ऐसी बात को शब्द देने पड़ रहे हैं। जैसे कहना पड़े-मुझे रातों को सोने का इख्तियार है।"¹⁴ वास्तव में गीतांजलि श्री ने पितृसत्तात्मक समाज का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा नारी-जीवन के लिए बनाये गये उनके नियम-मापदण्डों का अद्वितीय चित्रण किया है जो नारी मन की

अन्तर्दशा तथा अर्न्तद्वन्द्व को उद्घाटित करता है। 'प्राइवेट लाइफ' कहानी की ये पंक्तियां सारी नैतिकता तथा आदर्शों को तार-तार कर देती है, "जब उन्हें पता चला, तब तक बहुत देर हो चुकी थी। उसने उनके हर नियम का, हर आदर्श का उल्लंघन कर दिया। वे कहते थे, वह बेशरम हो गई है। वह कहती थी, वह स्वाभिमानी हो गई है। कहती थी वह एक जिस्म से इन्सान बन गई है। वे कहते थे, वह एक इन्सान से गन्दा जिस्म बन गई है।"¹⁵ उसे लगा, उसने इज्जत से जीना चाहा था। अपनी दुनिया बनाने की कोशिश की थी-अपनी प्राइवेट लाइफ! इन्सान की अपनी निजी जिन्दगी जिसमें बहुत से मिले जुले तत्त्व हैं- शान्ति, काम, अकेलापन, दुकेलापन, दोस्त इत्यादि। परन्तु इन सब ख्वाहिशों का तो समाज में अकेली लड़की के लिए सोचना भी अपराध है, "उसे लगा, अभी, इसी वक्त, एक बलात्कार हुआ है। उसकी इंसानियत पर, उसकी बालिग अहमियत पर।"¹⁶ वस्तुतः सच तो यही है कि पुरुष की समकक्षता का संवैधानिक अधिकार पाकर भी नारी वही पुरानी सदियों की नारी प्रतीत होती है। अपनी नई पहचान बनाने की अपेक्षा द्वन्द्व एवं दुविधा से घिरकर उसका व्यक्तित्व खंडित हो रहा है।

'बेल-पत्र' कहानी की फातिमा एक मुस्लिम युवती है। वह हिन्दू लड़के ओम से प्रेम-विवाह करती है। समाज उन्हें तरह-तरह से प्रताड़ित करता है। आरम्भ में तो दोनों मिलकर सामना करते हैं। समय के साथ-साथ ओम का परिवार उन्हें स्वीकार कर लेता है। परन्तु फातिमा को अपने माता-पिता से हर रिश्ता तोड़ना पड़ता है। हमारे समाज में यह नारी के लिए बनाई गई नैतिक सीमाएं हैं जो उसे अपना सब कुछ खोना पड़ता है परन्तु जिसके लिए वह यह सब सहती है जब वो भी उसके प्रतिद्वन्द्वियों की कतार में शामिल हो जाए तो उसका हौसला ही टूट जाता है। फातिमा के अब्बा की बीमारी का सुनकर वह खुद को रोक न सकी तथा मायके पहुँच जाती है। वह अपने अम्मी-अब्बा से मिलती है तथा नमाज़ पढ़ती है। ओम इस बात को बर्दाशत नहीं कर पाता, "यह हमारा समझौता था कि धर्म से कोई साबिका नहीं होगा, उसके पचड़ों में नहीं पड़ेंगे।"¹⁷ फातिमा ने धर्म, जाति के विरुद्ध जाकर जिसके लिए सब कुछ छोड़ कर उसकी खुशी में शामिल हो उसकी अम्मा के लिए घर में हमेशा उनकी इच्छानुसार व्यवहार किया। यहाँ तक कि हमेशा पूजा-पाठ में भी शामिल रही, परन्तु जब अपनी अम्मी के कहने पर वह नोहे पढ़ती है तो ओम का इस पर प्रतिवाद उसे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। प्रस्तुत कहानी के माध्यम से लेखिका ने युवा पीढ़ी के बढ़ते कदम व ऐसी परिस्थितियों में उत्पन्न समस्याओं को चित्रित किया है। वास्तव में गीतांजलि श्री समाज की पुरानी सड़ी गली मान्यताओं को तोड़कर सामाजिक एवं वैयक्तिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील वैचारिक दृष्टिकोण रखती है। यद्यपि यह भी निर्विवाद सत्य है कि अन्तर्जातीय विवाह पद्धति अभी भी अपने शैशव काल में है और परीक्षणात्मक स्थिति से गुज़र रही है। समाज का बहुमत अभी तक इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं है परन्तु वह दिन दूर नहीं जब यह बुराई जड़ से खत्म हो जाएगी तथा नारी को इस तरह के फैसले लेने पर पछताना नहीं पड़ेगा।

'दूसरा' कहानी की नीलम एक रिपोर्टर है। वह हिन्दुस्तानी औरत की सैक्सुएलिटी पर लेख लिखती है जिसकी प्रत्येक जगह प्रशंसा की जाती है। नीलम एक स्वतंत्र विचारधारा की आधुनिक नारी है वह अपनी कामयाबी की खुशी में पार्टी का आयोजन करती है पति भगीरथ की नाराज़गी को नज़रअन्दाज करते हुए अपने मित्रों जिनमें पुरुष भी शामिल हैं पार्टी में बुलाती है। पति को उसका पुरुषों से हँस-हँसकर बातें करना बिल्कुल पसन्द नहीं। वह नीलम पर शक करता है, परन्तु दिलचस्प बात तो यह है कि जहाँ भगीरथ को अपनी पत्नी नीलम का दूसरे पुरुषों के प्रति लगाव या आकर्षण सहन नहीं होता व वह स्वयं पार्टी में जूही के प्रति इतना आकर्षित होता है वह मन ही मन नीलम की जगह जूही की

कल्पना करने लगता है तथा जब वह उसे छोड़ने जाता है तो काफी देर उसकी तरफ देखता रहता है और सोचता है, “कितना आसान है। बस यों ही झुक जाऊँ। यह चीजें कितनी आसान होती हैं, मन में आ जाए तो। कुछ हैरत से भगीरथ झुका, अपनी ही समझ को टोहता हो जैसे...”¹⁹ वास्तव में पुरुष अपनी पत्नी को वह सब करते नहीं देख सकता जिसके लिए वह खुद को स्वतंत्र समझता है।

गीतांजलि श्री के कथा-साहित्य में नारी अत्यन्त सजग एवं मुखर है। ‘अनुगूँज’ कहानी में मुनिया राहुल की पत्नी होकर भी मित्रवत है। दोनों एक-दूसरे की हर छोटी से छोटी ज़रूरत का ध्यान रखते हैं। मुनिया राहुल की रुचि का पूरा ध्यान रखती है, इसके लिए सजती-सँवरती है, पर इतनी स्वीकृत और समझदार होने पर भी मुनिया को अनेक बार राहुल की नाराज़गी का सामना करना पड़ता है। बात चाहे मुनिया की नौकरी करने की इच्छा की हो या टी.वी का अपना पसंदीदा चैनल तक देखने की, वह उसे अपनी बुद्धिमता से गलत ठहरा ही देता है, “इतनी फुर्सत है, घर बैठकर ही लिख सकती हो। बाहर ऐसी फुर्सत मिलेगी इस मुगालते में मत रहो। दूसरे शहर में नौकरी की कोई ज़रूरत नहीं।”²⁰ राहुल ने अच्छा घर तथा ज़रूरत की हर चीज़ मुनिया के लिए जुटा रखी थी। राहुल के मुनिया को इस चतुराई से समझाने पर वह खुद ही स्वयं को कोसती है। मुनिया को खुद अपनी बात तुच्छ और मूर्खातापूर्ण लगी कि उसकी फालतू सी सम्भावना के लिए राहुल इतने जतन से जुटाया नसीब छितरा दे। सारी जद्दों-जहद का फल गंवा दे। जिसका न संघर्ष है, न फल है, उसके लिए। समाज नारी की अनेक कड़ी परीक्षाएं लेता है। अभी हमारे समाज की नारी से केवल अच्छी गृहस्थिन बनने की ही अपेक्षाएं हैं। चाहे बात प्रेमचन्द युग की हो अथवा आधुनिक कथा-साहित्य की, अभी भी हमारे नारी पात्र अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व को सुरक्षित रख पाने में कामयाब नहीं हुए। नारी कभी समाज द्वारा तो कभी स्वयं उसके अपनों द्वारा ही झूठे आदर्शों, नैतिकता एवं मान मर्यादा की बेड़ियों में जकड़ी है। यदि नारी समाज या परिवार की मान-मर्यादा से बाहर कुछ स्वयं के लिए सोचे भी तो घृणा की भाषा में कुलनाशी, बिगड़ी और शिष्ट भाषा में रहस्यवादी करार दी जाती है। अतः आज समाज में स्वयं सबसे बड़ी एवं महान् आवश्यकता यह है कि पुरुष स्वयं अपने मानसिक बदलाव की पहल करें तभी नारी मुक्ति संघर्ष में सफलता प्राप्त की जा सकती है।

अतः कहा जा सकता है कि नई पीढ़ी की लेखिकाओं में गीतांजलि श्री के रचना संसार ने हिन्दी कथा साहित्य को उच्चतम कोटि तक पहुँचाने में काफी सहयोग किया है। यह इसलिए भी कहा जा सकता है क्योंकि इनके कथा साहित्य में ‘स्त्रीत्व’ का प्रतिपादन बेहद कुशलता से किया गया है। इनकी नारियाँ संघर्षशील एवं परिस्थितियों से जूझकर भी स्वयं के लिए रास्ता निकाल ही लेती हैं। वह सामने से प्रतिवाद न करके अपना खामोशी से विरोध दर्ज करवाकर एक संकेत मात्र छोड़ती हैं। गीतांजलि श्री के कथा-साहित्य में नारी समस्याओं का सूक्ष्म अध्ययन करने के बाद निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इनके पुरुष पात्र पितृसत्तात्मक समाज का प्रतिनिधित्व करते हुए स्त्री के सहयोगी न होकर अभी विरोध या प्रतिद्वन्द्व की स्थिति में हैं किन्तु लेखिका ने अपने कथा-साहित्य के माध्यम से यही कोशिश की है कि ये पात्र उनके सहयोगी बनकर नारी के ‘मानवी’ रूप की प्रतिष्ठा करने में सहायक बनें।

संदर्भ -

1. गीतांजलि श्री, माई, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 124
2. गीतांजलि श्री, माई, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 102-103
3. गीतांजलि श्री, माई, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 103

4. गीतांजलि श्री, माई, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 103
5. गीतांजलि श्री, माई, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 32
6. गीतांजलि श्री, माई, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 94
7. गीतांजलि श्री, माई, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 75
8. गीतांजलि श्री, तिरोहित, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 35
9. गीतांजलि श्री, तिरोहित, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 46
10. गीतांजलि श्री, तिरोहित, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 36
11. गीतांजलि श्री, तिरोहित, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 73
12. गीतांजलि श्री, तिरोहित, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 73
13. गीतांजलि श्री, तिरोहित, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 74
14. गीतांजलि श्री, अनुगूँज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 10
15. गीतांजलि श्री, अनुगूँज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 14
16. गीतांजलि श्री, अनुगूँज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 17
17. गीतांजलि श्री, अनुगूँज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 26
18. गीतांजलि श्री, अनुगूँज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 103
19. गीतांजलि श्री, अनुगूँज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 130



कुल्लू जनपद में प्रचलित पौराणिक लोकगाथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन

- प्रकाश चन्द

कुल्लू प्राचीन काल में 'कुलूत' नाम से जाना जाता था। महाभारत काल में कुलूत तथा त्रिगर्त गणों का उल्लेख आया है। कनिंघम ने 'कॉइन्स ऑफ एन्शियंट इंडिया' पुस्तक में एक ऐसे सिक्के का वर्णन किया है, जिस पर ब्राह्मी लिपि में 'राजन् कोलूतस्य वीरस्य' अंकित है। इस सिक्के को पुराविदों ने पहली या दूसरी शताब्दी का माना है। पौराणिक एवं सांस्कृत साहित्य रामायण, राजतरंगिणी, बृहत्संहिता आदि में भी कुलूत नाम प्रचलित है। ऐतिहासिक दृष्टि से कुल्लू पहाड़ी रियासतों में सबसे पुरानी रियासत है। कुल्लू का नाम कुलूत ही है। कुल्लू वास्तव में कुलूत का बिगड़ा हुआ रूप है, जो उच्चारण सुविधा के कारण 'त' अक्षर के लुप्त होने पर कुल्लू बन गया। आज के युग में कुल्लू जनपद हिमाचल प्रदेश का एक विस्तृत भू-भाग है। इसका क्षेत्रफल 5503 वर्ग किलोमीटर है।

कुल्लू जनपद कुदरत की गोद में बसा हिमाचल प्रदेश का एक पहाड़ी क्षेत्र है जो अपनी मनोरम प्राकृतिक सुन्दरता, प्रदूषण रहित वातावरण तथा स्वास्थ्यवर्द्धक, ठण्डी-ठण्डी पवन के लिए विश्वभर में प्रसिद्ध है। इस जनपद की ऊँची चोटियाँ सफेद मृदुल बर्फ से मानों चांदी से मढ़ी गई हों। कहीं-कहीं हरी-भरी धरती रंग-बिरंगे पुष्पों से सुसज्जित घाटियाँ, कल-कल बहते ठण्डे पानी के झरने, शीतल-पोखर, सीढ़ीनुमा खेत पर्यटक को मदहोश कर देते हैं। इन्हीं सुन्दर घाटियों में रहते हैं यहां के लोग, जो अपने जीवन को सहजता एवं लोक परम्पराओं का निर्वाह करते हुए जीते हैं। कितना सुन्दर, कितना मधुर, कितना अलौकिक है कुल्लू जनपद मानो ईश्वर ने अपने हाथों से सजाया और संवारा है। कुल्लू के जन-जीवन के विषय में सूरत ठाकुर लिखते हैं, "किसी भी समाज या उसकी सभ्यता का आइना होता है, उस समाज के प्रतिमान- वहां के खान-पान, वेश- भूषा, आभूषण आदि।"11 वर्तमान समय में इस समृद्ध संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्द्धन हेतु इसकी आवश्यकता है। यह जनपद अपनी संस्कृति में, परम्पराओं के पालन और त्योहारों को मनाने की शैली के कारण जिज्ञासा का हेतु भी है। गतवर्ष दशहरे उत्सव में सात हजार महिलाओं ने अपनी परम्परागत वेश-भूषा में सामूहिक लोक नृत्य प्रस्तुत किया जो कि विश्व मिसाल है। इस प्रकार ऐसी रीतियों द्वारा संस्कृति का संदेश पूरी दुनिया में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। कितनी ही अनूठी रीतियाँ और बाहरी दुनिया के आश्चर्यकर रिवाज यहां के जन-जीवन में विद्यमान हैं। यहां के प्रत्येक गांव-घर, घाटी-इलाके में देवों का प्रभुत्व है। तभी तो इसे देवभूमि कहते हैं।

लोक साहित्य लोक जन-जीवन का यथार्थ है। लोक साहित्य से अभिप्राय उस परम्परागत एवं सदियों से मौखिक परम्परा में रह रहे लोगों के उस साहित्य से है, जिसका प्रयोग ग्राम्य जन किया करते हैं। जो लोग अपनी पुरातन रीति-रिवाजों तथा आज के आधुनिक नव आचरणों से दूर हैं। इसके विषय में लोक साहित्य के विद्वान श्रीराम शर्मा लिखते हैं, "लोक साहित्य सर्व साधारण लोक समाज की वह मौखिक एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, जिसमें किसी अभ्यास तथा अध्ययन की अपेक्षा नहीं। इसमें आदिम मानव के अवशेष विद्यमान रहते हैं।"12 अतः लोक साधारण जन के विभिन्न क्रियाकलापों का दर्पण होता है।

लोकगाथा लोक साहित्य की एक सशक्त विधा है। इसे लोक साहित्य की सबसे उपयोगी विधा के रूप में माना जाता है। इसके विषय में लोक साहित्यकार कृष्णदेव उपाध्याय लिखते हैं, “लोकगाथा वे प्रबंधात्मक लोकगीत हैं जो आकार में किसी महाकाव्य को चुनौती दे सकते हैं और उनमें प्रधान तत्व कथा है।”³ अतः लोकगाथा ऐसी विधा है जिसका कथानक लम्बा होता है और टेक पदों की पुनरावृत्ति होती है।

पौराणिक लोकगाथाएं उन गाथाओं को कहते हैं जो किसी प्राचीन पौराणिक कथा या किम्बदन्ती को लेकर जनता में प्रचलित है। इसके विषय में श्रीराम शर्मा लिखते हैं, “पुराण शब्द का तात्पर्य सामान्यतः प्राचीन काल की वस्तुओं अथवा गाथाओं से हैं जो विस्तृत कथानक वाले हों।”⁴ अतः स्पष्ट है कि पुराण के अर्थ की ओर जाएं तो ज्ञात होगा कि प्राचीन, आख्यानों, उपाख्यानों एवं गाथाओं के एकत्र/संकलन का नाम ही है। इन लोक गाथाओं के माध्यम से हमें उस क्षेत्र की संस्कृति को जानने का आश्रय प्राप्त होता है। ये लोक गाथाएं क्षेत्र विशेष की संस्कृति एवं सभ्यता को दर्शाती हैं। संस्कृति का क्षेत्र विशाल होता है। लोक साहित्य संस्कृति को प्रकट करने का एक अंग है। संस्कृति का अर्थ सम्यक् कृति है। जो जीवन का परिष्कार करे, जिससे जीवन में सुधार हो। भौतिक उन्नति से शरीर की भूख मिट सकती है, किंतु इसके बावजूद मन और आत्मा तो अतृप्त ही बने रहते हैं। इन्हें संतुष्ट करने के लिए मनुष्य अपना जो विकास और उन्नति करता है, उसे संस्कृति कहते हैं। कुल्लू की संस्कृति के विषय में लालचन्द्र प्रार्थी ‘कुल्लू देश की कहानी’ पुस्तक में लिखते हैं, “धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराओं और रीति - रिवाजों की मुठभेड़ के बाद एक नई संस्कृति का जन्म हुआ..... परन्तु प्रत्येक समाज की प्राचीन आस्था किसी न किसी रूप में कायम रही.... दीप से दीप जलते रहे।”⁵ स्पष्ट है संस्कृति अपने नए विचारों को साथ लेकर चलती गई तथा अपनी जड़ों को भी मजबूत करती गई।

कुल्लू जनपद में लोकगाथाओं का प्रचलन आज भी विद्यमान है। भौगोलिक परिस्थितियों से यहां का जन - जीवन आधुनिक सभ्यता से पृथक हो जाता है। गाँव में सड़क, बिजली तथा आधुनिक मनोरंजन के साधनों के अभाव से जीवन जटिल हो जाता है। अतः ऐसी परिस्थितियों में लोग कवियों, कथाकारों जो बुजुर्ग लोग ही अधिक होते हैं, उनकी शरण में जाते हैं तथा लोकगाथाओं को गाकर नृत्य एवं संगीत (नाट) का आनंद लेते हैं। यहां पौराणिक लोकगाथाओं के प्रसंग अधिक विख्यात हैं। पौराणिक लोकगाथाएं वे कहलाती हैं जिनमें कल्पना का सहारा लिया जाता है तथा जो पुराणों के कथानक पर प्रचलित है। महादेऊईश्वर, हनुमानवीर, देवाकोन्या, सीआ राणी और विष्णु - नरैण आदि पौराणिक लोकगाथाएं प्रचलित हैं, जो यहां की संस्कृति को पुष्ट करती हैं। इनमें संस्कृति के विभिन्न तत्व जैसे-परम्पराएं, दया, ममता, त्याग, एकता, धैर्य तथा विश्वास को बल मिलता है।

‘महादेऊईश्वर’ लोकगाथा कुल्लू जनपद के सिराज क्षेत्र में मुख्य रूप से प्रचलित है। यह लोक गाथा शिवरात्रि को गाई जाती है, इस पर्व में शिव जी की स्तुति होती है। इसमें लोक गाथाकारों द्वारा वाद्य यंत्र जैसे-बांसुरी, ताली, ढफली, ढेंखली आदि को बजाकर पूरी रात संगीत नृत्य का क्रम चलता रहता है। इस लोकगाथा में शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन है। हिमाचल की पुत्री से शिव का विवाह तय होता है। शिव जी के भयंकर रूप को देखकर सभी देवी - देवताओं को आश्चर्य हुआ। इस विवाह में सभी भूत - पिशाच, देव - दानव आदि बारात में शामिल थे। स्वयं शिव जी जो दूल्हा थे, उन्होंने गले में नर-मुण्डों की माला धारण की हुई थी। शरीर में राख लगाकर सबके मन में विस्मय उत्पन्न किया। दूल्हा के रूप में उसकी अवस्था लोकगाथा में इस प्रकार से प्रस्तुत है-

“ऐखू चाले देवते हाथी रे भारू भाईया।

ऎखू चाले देवते हाथी रे भारू..... ।
 ऎखू चाले देवते जूगे जमांणी भाईया ।
 ऎखू चाले देवते जूगे जमांणी..... ।
 आपू चालो महादेऊ बोड़दे स्वारी भाईया ।
 आपू चालो महादेऊ बोड़दे स्वारी.... ।
 लिंगे पूंजड़े टूड़े शिंगे बोड़दे स्वारी भाईया ।
 लिंगे पूंजड़े टूड़े शिंगे बोड़दे स्वारी.... ।”

प्रस्तुत पंक्तियों में शिव जी की बारात में सभी देवता गण पालकी में थे। कई देवताओं के रथ के ऊपर छत्र शोभायमान था। लेकिन शिव जी बैल पर सवार थे। उस बैल का रूप भी ठीक नहीं था। उस बैल के सिंग नहीं थे तथा पूँछ भी आधी ही थी। स्पष्ट है कि भोलेनाथ सभी जीव-जन्तुओं, मानव-दानवों के साथ प्रेम भाव रखते हैं, इन गाथाओं से क्षेत्र विशेष के विभिन्न मनोरंजन के माध्यमों द्वारा संस्कृति के दर्शन होते हैं। आज भी ये परम्पराएं जिंदा हैं, जो आपसी एकता, बंधुत्व को समाज में कायम रखने में सक्षम होती हैं।

‘हनुमानवीर’ लोकगाथा वीर रस प्रधान एवं बुद्धि चातुर्य को प्रस्तुत करने वाली है। इस गाथा को बूढ़ी दिवाली पर्व में निरमण्ड के आखाड़ा मैदान में गाया जाता है। इसमें दो दल नृत्य करते-करते जोर-जोर से इन पदों को बारी-बारी से गाते हैं। इन्हें ‘काव’ कहा जाता है। इस लोक गाथा में सीता जी की खोज में जब हनुमान लंका में प्रवेश करता है तो उसे बावड़ी (पानी का कुंआ या स्रोत) के पास कुछ स्त्रियों से मुलाकात होती है। हनुमान वानर का रूप धारण कर लेता है। लंका की स्त्रियां उस वानर पर शंका करने लगती हैं। हनुमान ने सभी पानी भरने वाली स्त्रियों को पानी ले जाने दिया लेकिन एक स्त्री को मोह जाल में फंसा दिया। वे जानना चाहता था कि लंका में सीता माता कहां पर होगी? निम्न पंक्तियां प्रस्तुत हैं-

“एक फरेड़ी मोहिआ ढाई भाईया-2
 वेणें बोला वाईए फरेड़ी फरेड़ी भाईया-2
 तैं खिले वांदारूआ मोही भाईया-2
 वेणें बोला वांदारू राणौ भाईया-2
 ऐरू पाणी किदरा ले ढोआ भाईया-2
 वेणें बोला पाणिए फरेड़ी भाईया-2
 तुए हुए साता धरमो भाई भाईया-2
 होरी आगे गला भी न लाए भाईया-2
 दशू आणी रामा रे सीआ भाईया-2
 औंए लाई निहाउणी आज्ञा भाईया-2
 देवते री कलिया निशाणा भाईया-2
 राखसे रे कलिया बाशैणा भाईया-2 ।”

उस स्त्री ने हनुमान को वचन देने के लिए कहा - हे भाई! मैं तुम्हें बात बताती हूँ। लेकिन आपने किसी के पास नहीं बोलना। आप मेरे धर्म के भाई हो गए। आप मुझे वचन दो। हनुमान के पास वह स्त्री कहने लगी - रावण राम की सीता को हरण कर लाया है। आज उसको नहलाया जा रहा है। हम सभी आज सीता के श्रृंगार के लिए सेविकाएं हैं। हे वानर! हमने सुना है कि देवता लोग हमेशा साफ-सुथरे रहते हैं। देवताओं की ये निशानी होती है। लेकिन राक्षस तो नहाते नहीं हैं उनकी पहचान तो आलस तथा निकम्मापन होता है। यह गाथा विश्वास एवं सत्य वचन को उद्घाटित करती है। धर्म भाई पर अपने सगे भाई से भी अधिक विश्वास किया जाता है। यह लोक गाथा वीरता के साथ-साथ बुद्धि चातुर्य को भी उद्घाटित करती है।

‘सीआ राणी’ लोकगाथा सीता के विषय में प्रचलित है। यह गाथा सुबह के चौथे पहर में गाई जाती है। सारी रात नाच-गाने में मस्त होकर थक जाते हैं, तो नाटी भी ढीली हो जाती है तभी इस लोक गाथा के साथ नृत्य और गान सम्पन्न हो जाता है। सीता जब हिरण का पीछा करने लगी तो उस हिरण ने चमत्कार करना आरम्भ किया। लोकगाथा में प्रचलित ऐसा प्रसंग है - सीता ने जब हिरण को देखा तो वह उसके साथ - साथ चलने लगी। लोकगाथा प्रस्तुत है-

“सूने केरे शिंघटू होगा.... गो रामा-2

सीए आड़ो शिरा के मोहरा... गो रामा-2

मोहरे ओड़ी पाशडी ओडीगो रामा-2

पाशडी ओडी उच्छटी गो रामा...

मिरगा जूटा निहटे पाणी...।

पाशडी ओडी निहुटी गो रामा...

मिरगा जूटा मोगरे पाणी...।”

सीता जी ने जब मृग को पकड़ने की कोशिश की तो वे पानी के नल के पास पहुंच गया। सोने के हिरण को देखकर सीता ने उसे पकड़ने के लिए सिर का घूंघट उतार दिया। उससे हिरण को पकड़ने के लिए उसे नल के पास बिछा दिया, लेकिन हिरण दूर से ही पानी को पीने लगा। सीता ने नल के नीचे घूंघट का यंत्र लगाया। लेकिन फिर हिरण नल में मुंह लगाकर पानी पीने लगा। यह गाथा नारी करुणा एवं अस्थिर मन के भाव को उजागर करती है। श्रोताओं में कौतुहल एवं रोमांच पैदा करती है।

‘देवाकोन्या’ लोकगाथा कंस के अत्याचार द्वारा वासुदेव एवं देवकी के पुत्र श्रीकृष्ण पर किए गए अमानवीय व्यवहार से है। इस गाथा को किसी जागरण आदि में गाया जाता है। जब कंस कृष्ण को मारने के लिए योजना बनाता है। वे कृष्ण को निमंत्रण लेकर लाते हैं, तथा उसे बड़े भोलेपन के साथ रखते हैं। कृष्ण व कंस संवाद प्रस्तुत है-

“एकी पाटणें वाड़ो वेशो देऊ-2

दूजे पाटणें कांसो वेशो मामू-2

मामा भाणजै हांणा करा दूणा-2

वेणे बोला हे बाड़ो डेऊ-2

तेरे मामूआ खेआ कामा काजा-2

खिले मामूआ मूने छांदो हेरो लाई-2
मेरे होणे भाणजा चार-पांजे कामा-2
मेरे होणो भेटेओ भडारना-2
बेटे भडारना, कोठिए पातिष्ठा-2
कोणिए पातिष्ठा बुडुए श्रादा न-2
सोरो भांणजा ला पाजिए पाजेरू-2''

प्रस्तुत लोकगाथा में कंस व कृष्ण साथ-साथ बैठक पर बैठते हैं। कृष्ण कंस से पूछता है- हे! मामा, आपने मुझे निमंत्रण क्यों भेजा है। आपको क्या काम है? कंस बोलता है- भांजे मेरे चार-पाँच काम है। एक तो मेरे बेटे की वर्षगांठ है। दूसरा काम मेरे महल की प्रतिष्ठा करानी है, यज्ञ करना है। अगला काम मेरे पितरों के श्राद्ध है। इसलिए मेरे भांजे मैंने आपको निमंत्रण दिया है, क्योंकि महल में जो चारों तरफ डोरी लगती है। उसमें पंच पल्लव गूथे जाते हैं। उन पल्लवों को लाने के लिए आपको निमंत्रण दिया है। स्पष्ट है कि यज्ञ, दान, श्राद्ध आदि बखूबी निभाए जाते हैं। प्रत्येक धार्मिक कार्य के लिए 'भांजे' का होना आवश्यक होता है।

'विष्णु नरैण' लोकगाथा भगवान विष्णु पर है। इस लोकगाथा को जागरण (बड़े देउओ जागरो) में गाते हैं। जागरा शब्द की उत्पत्ति जागरण से हुई है। ये गीत रात में जागरण कर देवता के सामने ढँखुली-बंसुरी, थाली- डमरू के साथ गाए जाते हैं। विष्णु देव जग का पालन हार है। एक बार विष्णु ने 'मोगी' नाम की अछूत महिला के घर भोजन किया। देवताओं ने विष्णु को अपनी सभा से अलग कर दिया। विष्णु ने भी आग को पत्थर में छुपा लिया तथा पानी को गरबा (बांस के पौधे) में छुपा दिया। स्वयं स्वर्ग लोक को चले गए। सभी लोगों को इन वस्तुओं की ज़रूरत पड़ने लगी। देवताओं को प्यास लगी। वे विष्णु की खोज में निकले। विष्णु भगवान ने देखा कि वे सभी व्याकुल अवस्था में हैं, उन्होंने कच्चे चमड़े में पानी ले आया। ये प्रसंग प्रस्तुत है-

“विष्णुए आले चाबड़े दी आंणों पाणी न-2
ऐखुए देउए चीकीरा चाटी न-2
वेणे बोला विष्णु नरैणा न-2
तमें देऊवा लागौ बाटाड़ा न-2
तमें आज आले चाबड़े ओ पाणी जूटो पाणी न-2।”

प्यास से व्याकुल देवताओं ने विष्णु के कच्चे ताजे चमड़े के पानी को पीया। तब विष्णु ने कहा- हे ! देवताओ आप अब अछूत हो गए। आपने तो गन्दे चमड़े के पानी को पीया। मैंने तो साफ-सुथरा व अच्छे तरीके से परोसे गए भोजन को खाया। इन पर देवताओं ने क्षमा मांगी। स्पष्ट है कि यह लोकगाथा सामाजिक एकता को उद्घाटित करती है। इन गाथाओं में जीवन विकास की परिणति है, आस्था- विश्वास से अहिंसा का भाव उत्पन्न होता है। इससे ज्ञात होता है कि लोग विशेष में आज भी लोग व्यवहार के विकास में लोक गाथाओं का विशेष महत्व है।

अंततः कहा जा सकता है कि इन पौराणिक लोकगाथाओं में क्षेत्र विशेष के सन्दर्भ को साथ लेकर कथानक होता है। इन लोकगाथाओं में समाज के रीति-रिवाज, रहन-सहन, पवित्रता तथा नैतिकता-अनैतिकता का चित्रण मिलता है। इनमें

जहां धर्म व आस्था का सरोकार मिलता है, वहां पौराणिक पात्रों के द्वारा बुद्धि, कौशल, अद्भुत रहस्य, बाल लीलाएं तथा नारी अस्थिरता मन के उद्गार भी दृष्टिगोचर होते हैं। ये लोकगाथाएं क्षेत्र-विशेष के सांस्कृतिक जीवन का उद्घाटन तो करती हैं, साथ ही साथ लोक जन-जीवन के मनोरंजन में भी सहायक होती हैं। लोक संस्कृति में अत्यधिक अंध-विश्वास तथा रूढ़ियों से मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। आज के वैज्ञानिक युग में उन तथ्यों को ग्रहण करने की आवश्यकता है, जिनसे लोक समाज में एकता, आत्म-निर्भरता, गत्यात्मकता और कर्मशील वातावरण के निर्माण में सहायता मिल सके।

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. सूरत ठाकुर, कुल्लू व लाहुल स्पिति के वस्त्राभूषण एवं खानपान, पृ0 6
2. श्रीराम शर्मा, लोक साहित्य : स्वरूप और मूल्यांकन, पृ0 14
3. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक संस्कृति की रूपरेखा, पृ0 283
4. श्रीराम शर्मा, लोक साहित्य का सामाजिक- सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 147
5. लालचंद प्रार्थी, कुल्लू देश की कहानी, पृ0 5



वैश्विक परिदृश्य और हिन्दी भाषा

- - डॉ० कुसुम

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति के मूल ॥

बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटे न हिय को शूल ॥. 1

हिन्दी हमारी राजभाषा है। भाषा हमारे भावों को अभिव्यक्त करने का माध्यम होती है। भाव हृदय से उद्भूत और प्रसूत होते हैं। किसी भी राष्ट्रीय भाषा में उस राष्ट्र के प्राण बसे होते हैं। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात जब भाषा को लेकर विवाद हुआ तब भारत सरकार द्वारा “राजभाषा आयोग” का गठन कर दिया गया। इस आयोग के अध्यक्ष वी०जी० खेर थे। सम्पूर्ण राष्ट्र की भाषाओं का अध्ययन करने के पश्चात 1955 में गठित इस आयोग ने सन् 1956 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। सन् 1957 को इस रिपोर्ट को भारत के संविधान की 08वीं अनुसूची में तथा भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित अन्य अट्ठारह भाषाओं को सम्मिलित किया गया। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 से 351 तक भाषाई व्यवस्थाओं को स्पष्ट करने के अनुच्छेद हैं। संविधान की मूल भावना के अनुसार “संघ की राज भाषा हिन्दी होगी और उसकी लिपि देवनागरी होगी”² ऐसी व्यवस्था की गयी है। लेकिन दक्षिणी भारतीय राजनीतिक लोग भाषा को मध्य में रखकर राजनीति कर रहे हैं। इस कारण राजनीति के अखाड़ा बन जाने के कारण आज तक हिन्दी राष्ट्र भाषा बनने के प्रयास में लगी है।

वैश्विक स्तर पर आज ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की परिकल्पना चरितार्थ हो गयी है। आज हम किसी देश प्रदेश, ग्राम के निवासी न होकर ‘विश्व ग्राम’ के निवासी बन गए हैं। संचार क्रान्ति के नवाचार और नवोन्मेष के कारण ऐसा सम्भव पाया है। मौखिक, लिखित, मुद्रित, दूर संचार, टेलीग्राम, वायरलेस इत्यादि से अपनी संचार यात्रा आरम्भ करके उससे और अधिक आगे निकल आए हैं। आज का युग ‘मीडिया का युग’ है। आज के समय में “पारस्परिक क्रियात्मक संचार प्रणाली पर विशेष बल दिया जा रहा है”³ भाषा के अभाव में किसी राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती। जब हमारा-हमारी जनता के साथ भावनात्मक प्रगाढ़ लगाव ही नहीं होगा तब हम सत्ता का संचालन कैसे करेंगे? भावनात्मक ढंग से जुड़ने के लिए एक भाषा की आवश्यकता है। जिससे हम अपनी जनता के साथ जुड़ सकते हैं। इस अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए एक प्रश्न के उत्तर में सुप्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ्यूशियस ने कहा था “यदि भाषा ठीक नहीं होगी तो हम अपना भाव व्यक्त नहीं कर सकेंगे। जब भाषा ही समझ में नहीं आएगी, तो हम न्याय नहीं कर सकेंगे। जब न्याय नहीं कर सकेंगे तो असन्तोष होगा, जब असन्तोष होगा तो बगावत फैलेगी और जब बगावत फैलेगी तो राज कहाँ रहेगा?”⁴ आज जब भारत के असंख्य लोग विदेशों में जाकर बसे हैं। वे अपने भारतीय आचार, विचार, व्यवहार के साथ अपनी भाषा हिन्दी को भी अपने साथ लेकर गए हैं। विश्व का कोई राष्ट्र ऐसा नहीं है जहाँ पर भारतीय न हों।

हिन्दी आज के परिदृश्य में केवल भारत की भाषा बन कर नहीं रह गयी है। वह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्पूर्ण विश्व की भाषा बन गयी है। जब भारतीय व्यक्ति ही वैश्विक व्यक्ति बन गया है। तब उसकी भावनाओं की गंध को संजो कर रखने वाली हिन्दी का वैश्विक भाषा का बनना अनिवार्य ही था। मीडिया ने इसे इस रूप में प्रस्तुत करने में विशेष

सहयोग प्रदान किया है। टेलीफोन, टेलीग्राम, टेलेक्स, ई० मेल, ई० फैक्स, सेल्यूलर, पेजर, टेली, टैक्सट, माइक्रोचिप्स और उपग्रह माइक्रोव्स इत्यादि के अस्तित्व में आ जाने के कारण अब सारा संसार हमारे घर जैसा हो गया है। इनके द्वारा विश्व के अन्यान्य देशों में व्यापार, कारोबार, श्रम अथवा सेवा करने वाले भारतीय अपनी राजभाषा हिन्दी में अपनी अनुभूतियाँ अपने देशवासियों को सुगमता के साथ प्रेषित करते हैं। उमसे अपने देश के समाचार भी अपनी भाषा में सुनते हैं। वैश्विक परिदृश्य इस वैचारिक आदान प्रदान के कारण हिन्दीमय होता जा रहा है। भविष्य में इसमें कोई न्यूनता नहीं आएगी इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि की प्रबल संभावनाएँ हैं। हिन्दी के प्रसार की असीम सम्भावनाओं के देखते हुए यह कथन समीचीन ही है “भाषा मानव के बहुमुखी विकास के साथ न केवल कदम से कदम मिला कर चलती हैं, प्रत्युत वह भावी विकास के लिए भी नूतन आयाम खोलती है। मानव की आधुनिकता की रचना में वास्तविक रूप से स्वतंत्र बल जन संचार माध्यम हैं”⁵ प्रत्येक भारतीय का यह निश्चित दायित्व बनता है कि वह अपने जन जीवन को विश्व के किसी भाग में चलाने के लिए अपने निर्वहन, व्यापार, व्यावसाय, श्रम, या सेवा के लिए दूसरी, तीसरी, चौथी भाषा किसी भी अन्य भाषा को क्यों न बना ले, वह स्थिति और परिस्थिति जन्म है। लेकिन मुख्यभाषा अपनी राष्ट्र भाषा हिन्दी को ही रखना चाहिए।

अवश्यकता इस बात की है हम हिन्दी का किस स्तर तक प्रचार, विस्तार, और परिमार्जन करने में समर्थ होते हैं। उसकी जटिलताओं को कितना व्यावहारिक बना सकते हैं। उसकी दुरूहताओं को किस स्तर तक सामान्य बना कर उसे आम भाषा और जन सामान्य की भाषा बनाने में सहयोग कर सकते हैं। उसकी प्रकाण्डता के पाखण्ड को जितना अधिक से अधिक साधारण किया जाएगा उतना ही इसका विकास संभव है। यह किताबों, ग्रंथों, काव्यों, महाकाव्यों की अपेक्षा आम आदमी की भाषा जितनी शीघ्र बनेगी, इसको विश्व भाषा बनने में उतना ही कम से कम समय लगेगा। इसकी व्यापक और विराट छवि इतनी विस्तृत हो जाए, जिससे संसार की सारी भाषाएँ इसको साथ लेकर चलने में गौरव अनुभव करें। भारतीयता का भविष्य इसके भविष्य के साथ जुड़ा है। निरन्तर अबाध प्रयास हमारे राजनीतिक स्तर पर भी ऐसे हों, जिस तरह संयुक्त राष्ट्र संघ में विश्व की अन्य भाषाओं को स्थान प्राप्त है। हिन्दी का भी उसमें अपना स्थान हो। प्रयास इस दिशा में पहले भी हुए। आज हो रहे हैं। समाचार पत्र भी अपने को प्रतियोगिता के आधार पर इस घोषणा से रंगते हैं। समय के साथ सारे रंग धुंधले होकर समाप्त हो जाते हैं। ये असंभव या असाधारण की परिधि में नहीं आता। ये कोई अनहोनी नहीं है। यदि हो सकता हो तो प्रत्येक स्तर पर इसको करने और कराने के लिए सम्पूर्ण निष्ठा से कार्य योजना बना कर किया जाये। भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। यहाँ अधिसंख्य भारतीय हिन्दी बोलते हैं। जो नहीं बोल पाते हैं वे भी इसको समझने की स्थिति में हैं। फिर ऐसे कौन से कारण हैं जिनको दृष्टिगत रखते हुए इसे संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा नहीं बनाया जा सकता ?

उत्तरोत्तर सूचना प्रौद्योगिकी के विकास के कारण संसार का प्रत्येक राष्ट्र अपने को विश्वराष्ट्र बनाने में कोई कसर नहीं कर रहा है। वह विश्व के सारे व्यवसाय उनकी तकनीकी और उससे जुड़े वैज्ञानिकों, अभियंताओं, भाषा विदों, समाज सेवियों और चिकित्सकों को प्रतिस्पर्धात्मक रूप से अपनी ओर आकर्षित करने में लगा है। उसमें अपने समय का सर्वोत्तम देने की उत्कट अभिलाषा हिलोरें ले रही है। कम्प्यूटरीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण कम्प्यूटर पर हिन्दी में काम करने की सुविधा हेतु सूचना एवं प्रौद्योगिकी विभाग एवं राज भाषा विभाग द्वारा भारत में अत्यधिक प्रयास किए जा रहे हैं। इण्टरनेट पर भी हिन्दी अपनी उपस्थिति की प्राथमिकता से उपलब्ध है। भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों ने हिन्दी के पाठकों हेतु हिन्दी साहित्य के एक लाख पृष्ठ अपनी वेबसाइट पर उपलब्ध करा दिए हैं। अनेकानेक लेखक, विचारक, निबन्धकार और शोध छात्र अपनी आवश्यकतानुसार इनका उपयोग कर रहे हैं। सारा विश्व विशाल जनसंख्या

वाले भारत को विश्व के रूप में देख रहा है। प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता के कारण उनके उपयोग को विश्वजनमानस ललचाई आंखों से देखता है। वह भारत की भाषा के प्रचार को अपने देशों की प्राथमिकताओं में स्थान देकर यहाँ की संस्कृति और सभ्यता की ओर आकर्षित है।

हिन्दी भाषा को अभी कुछ दिन पूर्व आस्ट्रेलिया के पाठ्यक्रम में समाहित किया गया है। ये ही नहीं विश्व के सर्वाधिक विकसित राष्ट्र अमेरिका में उसके विख्यात विश्वविद्यालय पेनसिल्वेनिया में एम०बी०ए० के छात्रों हेतु हिन्दी का दो वर्षीय पाठ्यक्रम अनिवार्य कर दिया है। जिसमें वे अपने उत्पादों का प्रचार और विस्तार भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले राष्ट्र में उसकी भाषा में कर सकें। वे अपने उत्पादों, उद्योगों और पदार्थों की गुणवत्ता को अपार जन समूह के समक्ष हिन्दी में रख सकें। अमेरिका, अंग्रेजी या किसी अन्य भाषा में रखने के कारण उनकी बात को गिने चुने लोग समझेंगे। हिन्दी में अपने विचारों की अभिव्यक्ति से आम आदमी उनकी बात को सुनेगा और समझेगा। जब विश्व के इतने विकसित राष्ट्र हिन्दी को आत्मसात् करने हेतु प्रयासरत हैं तब कुछ न कुछ तो ऐसा अवश्य होगा। जो उनके आकर्षण को इस ओर आकर्षित कर रहा है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० आत्मा राम कहते हैं :- “हिन्दी में लिखते रहें तकनीकी शब्दों का निर्माण और उनका प्रयोग भी होता जाएगा। हिन्दी विज्ञान लेखन में तकनीकी शब्दों को आड़े नहीं आना चाहिए”⁶ विश्व के संख्या बल के आधार पर विश्व भाषाओं में हिन्दी तीसरे सोपान पर आती है। यह इसका गौरव नहीं अपमान ही है। ये अपने राष्ट्र और अपनों के बीच में अभी तक उपेक्षित है। कुछ बड़े दिखायी देने वाले भारतीय अन्दर से इतने छोटे हैं। वे अंग्रेजी को शासकीय भाषा मान हिन्दी से किनारा किए हुए हैं।

अत्यन्त संकट पूर्ण स्थिति यह है कि अभी तक हिन्दी अपने हिन्दी प्रदेशों के उच्च शिक्षा संस्थाओं तथा अनुसंधान संस्थानों की भाषा नहीं बन पायी है। पूर्ण राष्ट्र भाषा को अधूरे संकल्प ने अपूर्ण राष्ट्र भाषा बना रखा है। इस द्विविधा पूर्ण स्थिति को देखते हुए भाषा के विकास का दर्द अपने दिल में रखने वाले कवि धूमिल की कविता द्रष्टव्य है। “भाषा को रख दिया है उन्हें मालूम है कि भूख से भागा हुआ आदमी/ भाषा की ओर जाएगा/ भाषा उस तिकडमी दरिन्दे का कौर है/ जो सड़क पर और है/ संसद में और है/ इसीलिए बाहर आया/सड़क के अन्धेरे से निकल कर सड़क पर आया/ भाषा ठीक करने से पहले आदमी को ठीक कर/ आ अपने चौदहों मुखों से बोलता हुआ।” विश्व हमारी ओर आकर्षित है। हम अपने से मुंह फेरे बैठे हैं। आखिर ये दूषित मानसिकता कब तक चलेगी। हम अपने बाज़ार को अपनी दुर्बलाताओं के कारण दूसरों के हाथों में दे रहे हैं। क्या हो गया है हमारी मानसिकता को। संसार हमें अपेक्षा की दृष्टि से देख रहा है। वह हमसे अपना मार्ग दर्शन चाहता है। हम अपने राष्ट्रवासियों को उपेक्षा की दृष्टि से देख रहे हैं। कवि अपने अन्तर्मन की व्यथा को बिना किसी लाग लपेट के साथ निर्भय भाव से व्यक्त करता है। वह अपने सत्य उजागर करने वाले विचार को सामने रख अपनी बात कहता है। इसका परिणाम क्या होगा। इस ओर वह कभी सोचता नहीं। न जाने कितने विचारक, कवि, लेखक और पत्रकार सत्ता के हाथों समाप्त कर दिए गये। लेकिन उन मरे लोगों का नाम आज भी इतिहास के पन्नों में स्वर्ण अक्षरों में लिखा है। जबकि सत्ताएं मिट्टी से मिल गयीं “इस कठिन समय में भाषा के कारीगरों ने अन्तर्वस्तु को दर किनार करते हुए भाषा की प्रौद्योगिकी को इतना विस्तार दिया है कि शेष सभी विषय बौने हो गए हैं।

आज की हिन्दी संसार की दृष्टि में मानक एवं आधुनिक होती जा रही है। इसका मुख्य कारण विज्ञापन हैं। इनमें जो हिन्दी प्रयोग की जा रही है, उसका शब्द चयन, वाक्य गठन, सादृश्य विचलन, समानान्तरण इत्यादि महत्वपूर्ण है। ऐसी स्थिति में आज की कम्प्यूटर क्रान्ति अधिक जोश के कारण अपने ही पैरों के नीचे हिन्दी को कुचल डालना चाहती

है। इस दिशा की ओर हिन्दी विस्तारक गम्भीरता से विचार कर रहे हैं। हिन्दी आज भी प्रयोजनिक व्यक्तित्व संभाले हुए है। उसका रस चूसने, उसे निष्प्राण करने, उसकी हरीतिमा को बदलने के प्रयास तो लम्बे समय से हो रहे हैं। फिर कुछ ऐसा अवश्य है। जो हिन्दी की अस्मिता को तार-तार होने से बचाए हुए हैं इसको भले ही संसद में प्रौद्योगिक संस्थाओं में, विज्ञान में और चिकित्सा क्षेत्र में अभी अवमूल्यन की स्थिति से दो-चार होना पड़ रहा हो। लेकिन आम भारतीय के भावों की भंगिमा इसकी लहरों में लहराती है। वे इसे अपनी माँ, मातृभूमि और मातृभाषा के रूप में स्वीकार कर इसका स्वागत और सम्मान स्वाभिमान के साथ करते हैं। यदि दक्षिण भारतीय अपनी भाषा के लिए सड़कों पर उतर सकते हैं तो इसकी महत्ता को बनाए रखने हेतु हिन्दी भाषी भी पीछे हटने वाले नहीं हैं। जिस भाषा के प्रचार-प्रसार की घोषणा भारतीय संविधान करता हो। उसको दुर्बल कौन कर सकता है। हमारी राष्ट्रीय सोच इसके साथ असंदिग्ध रूप से सन्निहित है। भारतीय प्रचार माध्यम वह चाहे टेलीविज़न हो, रेडियो हो या कोई अन्य माध्यम हो, साफ सहज और सरल बोध गम्य हिन्दी का प्रयोग करते हैं। जिनकी भाषा के भाव सरलता से मानव मन का स्वीकार्य होते हैं। उनके कोई चमक-दमक बाह्य आडम्बर नहीं होता। भाषा अपने उद्देश्य को स्वाभाविकता से पूर्णअध्यक्ष, हिन्दी विभाग करती है। विचारों की संरचना और उसकी बोधगम्यता को वह अपने श्रोताओं तक पहुँचाने में समर्थ है।

हिन्दी ऐसी भाषा है, जिसमें उपसर्ग और प्रत्यय तक के माध्यम से नवीन शब्दों का निर्माण संभव है। इनका प्रयोग आवश्यकता के अनुसार हो रहा है। नवीन शब्दावली संचार माध्यमों के माध्यम से बाजार में आ रही है। जिससे इसका शब्द सागर विशाल से विशालतर हो रहा है। वैश्वीकरण और भाषा के सम्बंधों को स्वीकार करने वालों ने यह स्वीकार कर लिया है कि यदि दुनिया में भाषाओं के भवन को निर्माण किया जाए, तो अंग्रेजी, रूसी, स्पेनी, बांग्ला, पुर्तगाली, मलय, जापानी के साथ हिन्दी भाषा को भी ऊपरी सोपान पर रखना होगा। भारतीय भारत, नेपाल, पाकिस्तान, सूरीनाम, दक्षिण अफ्रीका, कनाडा और कई अन्य पश्चिमी देशों में फैले हुए हैं। जो हिन्दी में व्यवहार करते हैं। इनकी भले ही विधिवत गणना न हो फिर भी इसकी बोलने वाले की संख्या अन्य भाषाओं के बोलने वालों की संख्या से कम नहीं है। हिन्दी को विश्व भाषा बनाने वाला, उसको अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य को साथ जोड़ने वाला एक मात्र कोई साधन है तो वह मीडिया ही है। जिसने इसे वैश्विक भाषा बना दिया है। “ संभव है कि हिन्दी अभी एक घिरी हुई और संघर्ष में फंसी भाषा की छवि देती हो। विडम्बना ये है कि खासतौर से उदारीकरण के बाद आए जापान में तरह-तरह की सामग्री के ज्यादा से ज्यादा पाठकों श्रोताओं और दर्शकों के दम पर पनपने वाले मीडिया बाज़ार जिसमें उन्नीसवीं सदी से पनप रहा प्रिंट मीडिया दस के दशक में बनी फिल्में, फिर रेडियो और बाद में आया टी.वी. शामिल है, ने हिन्दी को दुनिया की सबसे बड़ी भाषाओं में से एक बनने की संभावनाओं से लैस कर दिया है”⁹ विश्व के साथ जुड़ते और बढ़ते हुए सम्पर्कों के कारण तकनीकी विस्फोट के कारण हिन्दी भाषा ने अनेक भाषाओं के शब्दों को आत्मसात किया है। जहां तक प्रिंट मीडिया का प्रश्न है उसने एक परिनिष्ठित हिन्दी का निर्माण किया है। जो गोष्ठियों में व्यवहार में आती है। टी.वी. ने अपने माध्यम से इस भाषा को ही एक विराट बोली में परिवर्तन कर दिया। ऐसा करने से प्रिंट मीडिया की शिकायत है। एक स्थिर परिनिष्ठित भाषा को वैश्विक बना कर उसे दैनिक क्रिया कलापों को भाषा में बदल देना एक क्रान्तिकारी कदम नहीं तो और क्या है। जो दूर दर्शन और उसके अन्य हिन्दी चैनलों ने किया है। “जैसे उद्योग धंधों की एक टेक्नॉलाजी है। वैसे ही भाषा भी वैज्ञानिक धंधे की एक टेक्नॉलाजी है। टेक्नॉलाजी में टेक्निकल शब्दों की भरमार हो तो उसे विज्ञान समझने के भ्रम से बचाना और जरूरी है”¹⁰

कुछ लोग कम्प्यूटर के आरम्भिक काल में इसको साहित्य विरोधी मानते थे। इसको संस्कृति विरोधी और पाश्चात्य

सभ्यता का आक्रमण स्वीकार करते थे। अब इसी कम्प्यूटर के द्वारा ही हिन्दी को वैश्विक परिदृश्य से जोड़ कर उसको भूमण्डल की भाषा बना दिया तो इसका गुणगान करते हैं। यदि हम किसी अन्य तकनीकी को टोकने का प्रयास करेंगे तो अपनी तकनीकी को दूसरों के पास कैसे पहुँचा पायेंगे। आज हिन्दी में सर्च की सुविधा उपलब्ध है। माइक्रोसाफ्ट, गूगल, याहू और इण्टरनेट पर हिन्दी का सूचना भण्डार है। इन तकनीकों ने हिन्दी के विकास और विस्तार को वैश्विक परिदृश्य पर स्थापित कर दिया है। यह संस्कृति और भाषा को व्यापकतम स्तर पर विस्तार करने का एक सबल माध्यम है। प्रतिदिन नए-नए संचार माध्यमों के कारण हिन्दी प्रवाह तीव्र से तीव्रतम होता जा रहा है। श्रव्य माध्यम आकाशवाणी है जो अपने क्रान्तिकारी परिवर्तनों के द्वारा हिन्दी को जन-जन तक पहुँचाने हेतु कृत संकल्प है। इससे भी अधिक और सुखद भविष्य हेतु हिन्दी को और अधिक समृद्ध तथा संकल्पशील होना होगा। इसे वैश्विक स्तर पर प्रोत्साहित करने हेतु कुछ सतत संलग्नता की आवश्यकता है। जो हुआ है और जो हो रहा है यह भी हिन्दी को वैश्विक परिदृश्य में स्थापित करने में कुछ कम कार्य नहीं है। भारत के संविधान के अनुच्छेद 375 में स्पष्ट रूप से अपना अभिमत स्पष्ट किया गया है। संघ का कर्तव्य होगा कि वह हिन्दी को भारत की सामाजिक संस्कृति के सम्पूर्ण तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाये। इसी क्रम में हिन्दी को जीवन्तता प्रदान करने के लिए दूरदूरदर्शन को विदेशी शब्द, तत्सम तथा देशज शब्दों को भी हृदयंगम करने की आवश्यकता होगी। अपने भावों को सरल से सरलतम ढंग से हम किस प्रकार दूसरों तक पहुँचा सकते हैं। हिन्दी के माध्यमों से हमारा ये ही प्रयास हो। आज का वैश्विक परिदृश्य हिन्दी के अनुकूल है। उसने विभिन्न प्रकार के संचार माध्यमों के द्वारा हिन्दी को आत्मसात किया है। हिन्दी विश्व मानव के साथ कदम से कदम मिला कर चलने की स्थिति में आ सकती गयी है। सम्पूर्ण निष्ठा से प्रयास करने की स्थिति में वह संयुक्त राष्ट्र की भाषा भी अवश्य बनेगी।

सम्दर्भ सूची -

1. भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र - भारतेन्दु ग्रंथावली से उद्धृत
2. डॉ. अम्बेडकर द्वारा विरचित - भारतीय संविधान अनुच्छेद 343 से 351 तक
3. सूचना क्रान्ति और विश्व भाषा हिन्दी - प्रो. हरि मोहन
4. प्रयोजनमूलक हिन्दी- म. प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी
5. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी - खण्ड - एक पृष्ठ 22 - डॉ. राम विलास शर्मा
6. आजकल पत्रिका - सितम्बर 2008 पृष्ठ 47
7. संसद से सड़क तक - कविता प्रसिद्ध रचनाकार - धूमिल
8. हिन्दी अनुशीलन मार्च-जून-2007 संयुक्तांक 172 पृष्ठ - 97
9. रविकांत वर्चुअल कफ्रंट्स दि रियल - तहलका - दिल्ली
10. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी - खण्ड - एक - पृष्ठ- 22 डॉ. विलास शर्मा



‘बिरजू तो मारा ही जाएगा’

-राकेश वत्स

पत्नी ने आकर सूचना दी - ‘आप से कोई मिलने आया है!’

उसने शेव करने का काम जारी रखते हुए सवाल किया, ‘कौन है?’

पत्नी के होंठ काबू से बाहर होकर फैल गये, क्योंकि बड़े घर की बेटी होने की वजह से उसे गांव के गंवार लोगों से बड़ी चिढ़ थी- ‘कहता है आपका रिश्तेदार है और रामपुर गाँव से आया है।’

‘रामपुर गांव से!’ शेव करता हाथ वहीं का वहीं रुक गया और उसकी नज़रें पत्नी की बड़प्पन की गरिमा से भरी नज़रों से जा टकराई।

पत्नी को पति की आंखों में एक अजीब- सा वहशीपन उतरता नज़र आया। धीरे - धीरे उसने पति के चेहरे की रंगत बदलते भी देखा। उसकी अपनी आवाज़ में भी थोड़ी थरथराहट उतर आई- ‘क्यों, क्या बात है?’

वह संभला - ‘नहीं, कोई बात नहीं है। तुम उसे ड्राईंग रूम में बिठाओ, मैं अभी आता हूँ।’

पत्नी पति की तरफ हैरानी से देखती हुई चली गयी। उसने बची शेव जितना जल्द हो सकता था पूरी की और फिर मुंह धोने के लिये शीशे के सामने जा खड़ा हुआ।

पलभर में ही शीशा उसके सामने टी.वी की रंगीन स्क्रीन की तरह दमक उठा। पूरी स्क्रीन पर एक चेहरा उभरा, जान से भी प्यारी इकलौती बहन संध्या का चेहरा। मरणासन्न औरत का चेहरा। टूटती हुई सांसों में एक काले नाम का रहस्य खोलता हुआ चेहरा। जिस नाम ने बहन के साथ जंगली सूअर जैसा व्यवहार किया था और अपनी हवस मिटाकर बहन की देह को तेज़ धार वाले चाकू से गोंदकर फरार हो गया था।***

उसके बाद पुलिस के भ्रष्ट अफसर, डरपोक समाज और अंधी - बहरी कचहरियों का लम्बा घूसखोरी इतिहास। फिर अन्त में चश्मदीद गवाह की वजह से बिरजू का बाइज्जत बरी हो जाना और उसकी वजह से खुद बूढ़ी - बीमार माँ के साथ गांव छोड़ने के लिए मजबूर होना।*** एक एक करके उसके जेहन की आँखों के सामने से गुज़रता चला गया।

उसे लगा कि उसकी आंखों में ज्वालामुखी का लावा ठाठें मार रहा है और शरीर का पोर - पोर उस लावे की आंच से झुलस रहा है। पर उसने अपने आप को संभाला। पानी के छींटे मारकर लावे को पत्थर बनाया और तौलिये से चेहरे की नमी को पोंछकर ड्राईंग रूम में पहुंच गया।

गांव से आने वाला आदमी उसे देखते ही खड़ा हो गया - ‘राम राम मोहन भाई।’

‘अरे, जगदीश, नमस्ते - नमस्ते, बैठिये - बैठिये।’

जगदीश बैठ गया।

‘कहो, क्या हालचाल है?’ वह भी उसके सामने वाली कुर्सी पर पसर गया।

‘हम तो ठीक हैं, तुम अपनी सुनाओ।’ जगदीश ने अपने मटमैले हाथों को एक - दूसरे से आलिंगनबद्ध करके सहलाना शुरू किया।

‘मैं भी बिल्कुल ठीक हूँ।’ उसने हाथ की अंगूठी के नगीने को आस्तीन के कपड़े पर रगड़ कर चमकाया।

‘वो तो मैं देखई रिहा सूँ।’ जगदीश ने टी.वी., फ्रिज और शीशे की अलमारी में सजी बहुत - सी कीमती चीजों की तरफ देखते हुए तृप्ति का एहसास दिखाया। ‘अपन गाओं को तो आप बिलकुले भूल गए।’

‘अरे नहीं, गाँव को मैं कैसे भूल सकता हूँ। कुछ बिजनेस ही ऐसा शुरू कर लिया है कि बस...’

‘मैं भी योही सोच रेआ था कि कोई ना कोई मजबूरी जरूर रई होगी, नहीं तैं जहां आदमी ने जन्म लिया हो, खेला - कूदा हो, बड़ा हुआ हो, उस धरती को आदमी कैसे भूल सकेअै भला?’

‘तुम ठीक कह रहे हो, आदमी सब कुछ भूल सकता है पर अपना बचपन नहीं भूल सकता।’

‘बचपन कैसे भूला जा सके। वो तलाब के किनारे गिल्ली - डंडा खेलना, अखाड़े माँ जाके कुस्ती लड़ना, बगीचे मां कबड्डी खेलना, सोहन - दीपू - किसना सब नहर पर नहाने तैं पहले बंदर पकड़ने को फाँस बनाकर बैठा करते थे संग - संग। याद सै ना तमे, सब का सब याद सै ना?’

जगदीश ने याद दिलाया तो उसे सब कुछ याद आ गया। पर उस याद में सबसे बड़ी याद ने उसे उकसाया कि वह उस नाम के बारे में पूछे जो मरती हुई बहन के होठों से निकला था। लेकिन कैसे पूछे वह उस नाम के बारे में? अगर कल यही आदमी बिरजू का खात्मा हो जाने के बाद पुलिस की तरफ से गवाह के रूप में खड़ा हो गया और बोल पड़ा कि मैं बिरजू के बारे में उससे पूछताछ करता रहा हूँ तो : : : ? नहीं - नहीं, उसे अपनी योजना की भनक भी किसी को नहीं पड़ने देनी चाहिए। सब कुछ अपने मन की पिटारी में ही बंद रखना चाहिए। उसने बड़ी ही होशियारी से पहले गाँव के कुछ दूसरे लोगों के बारे में पूछा - ‘इंस्पेक्टर की तो ट्रांसफर हो गयी होगी तहसील के थाने से?’

जगदीश ने जवाब दिया : ‘हां, इंस्पेक्टर जादव का तबादला तो थम के गाओं छोड़ने के चार - पाँच महीने बादी हो गया था।’

‘और उसका वह भानजा, क्या नाम है उसका?’

‘कौन भानजा? ...हां : : : बिरजू ! वो तो गाओं मां ही डटा सै। कुछ दिन पैले उसने कोठी बनायी सै अपनी। हाँ : : : ,दो मंजली कोठी सै भाई, वो तो बहुत बड़ा आदमी हो गया सै।’

‘क्या कह रहे हो तुम।’ उसकी आंखे फटी की फटी रह गयीं।

‘ठीक कह रिया सूँ प्यारे भाई, आजकल पापी और गुंडे ही फलै - फूलै सै। सरीफों की तो भगवान भी सुध नहीं लेबे सै। थम अपने आपको ही बाचों, क्या हुआ थमके मुकद्दमे का कचैरी मां ? सब जाने सैं कि थारी भैन का कातिल बिरजू सै, पर फिर बी वो साफ छूटके आगिया। पुलिस के हथकंडों मां साबत हो गया कि लड़की ने खुदकसी की सै। के कर लिया थमने और हमने उस गुंडे का? ससुरा उसी तरों दनदनाता घूमे - फिरै सै। दिन दुगनी रात चौगुनी तरक्की कर रिहा सै। जमीन सै, ट्रैक्टर सै, मोटर साईकिल सै, और पूरे गाओं मां इज्जत सै। सब उसके धोरे हाथ वाँधकै चलै सै। इलाके के एम.पी.अर एम. एल. ए भी उसकी पीठ पै हाथ धरै सै। समझ रहे ना थम? आज इसे लोगों का जमाना सै।’

पर उसे तो कुछ सुनाई ही नहीं दे रहा था। उसकी मुट्टियां कस गयीं थीं। दांत आपस से भिंच गये थे। कानों में बस एक ही वाक्य जमकर रह गया था - ‘के कर लिया थम ने और हम ने उस गुंडे का?’

पत्नी चाय लेकर आयी तो जगदीश का प्रबचन थम गया। अब वह भाभी जी से दोनों बच्चों की राजी-खुशी पूछने में रुचि ले रहा था। इस जानकारी पर खुशी ज़ाहिर कर रहा था कि लड़का और लड़की दोनों शहर के किसी बड़े स्कूल के बोर्डिंगहाऊस में रहकर अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। पत्नी के मायके के बारे में भी वह कुछ रोचक सवाल कर रहा था। पत्नी भी खुशी-खुशी सवालों का जवाब दे रही थी, क्योंकि वह समझ गयी थी कि यह गंवार आदमी कोई ऐरा-गैरा नत्थू खैरा नहीं, बल्कि उसके पति के साथ खेला-कूदा पति का लंगोटिया यार है। लेकिन वह इस बातचीत में भी एक गूंगे और बहरे आदमी की तरह भाग ले रहा था। उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह अपने आप को कैसे संभाले, जिससे उसके अंदर के संसार की उसकी पत्नी तक भी छ़ाया तक न देख सके।

उसके हाथ में चाय का प्याला आया तो घूंट भरते ही उसे लगा जैसे वह किसी का पेशाब पी रहा है। सचमुच क्या कर लिया उसने और गाँव वालों ने उस गुंडे का ? कहां है जन-शक्ति ? कहां है लॉ एंड आर्डर ? और कहां है सर्वशक्तिमान भगवान का अलौकिक न्याय ? धरे के धरे रह गये सबके सब। पर नहीं, मैं उसे दंड ज़रूर दूंगा। कानून को हाथ में लेकर भी दूंगा। जब तक उसे खत्म नहीं कर देता तब तक मेरी आत्मा को चैन नहीं आयेगा।

पत्नी के चले जाने के बाद जगदीश फिर चालू हो गया। अपने आप ही उसके साथ कटे बचपन के दिनों की याद दिलाता रहा। इस बीच जो-जो परिवर्तन गाँव में हुए उनकी तफसील समझाता रहा। वह बिना उसकी कोई बात सुने बस यूँ ही हाँ-हूँ करता रहा। उसके दिमाग में तो बन रही थी बिरजू को खत्म करने की योजना। वह अपनी उस कल्पना की योजना के तालाब में अपने अन्तर्मन से समूचा का समूचा डुबकियाँ लगा रहा था।

किसी के हाथ उसने बिरजू को बाहर खेत में बुला लिया है। उसके चेहरे को देखते ही बिरजू के चेहरे का रंग फीका पड़ गया है। उसने बिना कोई सवाल किये बिरजू के पैरों में मजबूत रस्सी का फंदा कस लिया है और कांटेदार झाड़ियों में से होता हुआ नोकीले पत्थरों पर तब तक घसीटता रहा है जब तक जिस्म जगह-जगह से फूटकर उसके प्राण नहीं निकल गये हैं।

इसके बाद उसकी कल्पनाशक्ति ने दूसरी करवट ली - सारा गाँव बिरजू की लाश को घेरे थू-थू कर रहा है। उसकी अपनी प्रशंसा के पुल बांधे जा रहे हैं। वीर-बहादुर हो तो भई मोहन जैसा। के रावण ने बदला लियो राम तैं जो इस जोधा ने इस राक्षस तैं बदला लियो सैं। इस तरों के वीर-जोधा ही धरती माता की गोद मां धरम-करम बचाके रखे सैं। वाह बई वाह, ऐसे वीर-बहादुर कूं हमारा परनाम सैं।

चाय खत्म हुई तो जगदीश हाथ से हाथ साफ करता हुआ खड़ा हो गया - 'अच्छा तो इब इजाजत देओ।'

जगदीश को एकदम खड़ा होते देख वह अपने कल्पना लोक से नीचे उतरा - 'बस, चल दिये?'

'हां, और के?'

'खाना खाकर चले जाते।' वह भी खड़ा हो गया और कलाई की घड़ी पर वक्त देखने लगा।

'ना, खाना शादी वालों के यहां खांगे। थारी भाबी बी साथ सैं ना। बरात बस इबी बापस जागी अर मेरी दूंड हो रई होगी।'

'भाभी को भी साथ नहीं लेकर आये?'

'बो दोनों तरफ की बिचकौली सैं भागवान। रिस्ता बीचमें पड़के उसी ने करबाया सैं। दोनों धिरों मैं उसकी हर बखत ज़रूरत पड़ै सैं। फिर कभी आँगै तो थारै पासी टिकां गे। अच्छा राम राम।... कभी गाओं का चक्कर लगाओ बाल-बच्चों नै साथ लैके।'

‘जरूर लगाऊंगा गांव का चक्कर , और जल्द ही लगाऊंगा। बाल-बच्चे अब संभल गये हैं, घर-बार भी अब ठीक ही ठीक है, अब नहीं लगाऊंगा तो फिर कब लगाऊंगा गांव का चक्कर ।’ बोलकर वह जगदीश को फाटक तक छोड़ने बाहर आया और सड़क पर जाते हुए उसे गौर से देखने लगा।

पीठ पीछे से उसे लगा जैसे जगदीश बिरजू की चाल चल रहा है। उसी तरह झूमता हुआ जैसे मदमस्त हाथी। उसके दिमाग में सवाल कौंधा-पत्थरों पर घिसट कर बिरजू जब मर जायेगा, तब क्या पुलिस उसे कत्ल के केस में गिरफ्तार नहीं कर लेगी? बहुत यातना भोगनी पड़ती है थाने की हवालात में मुजरिम को। मार-मार कर भुरथा बना देते हैं पूछताछ करने वाले और फिर फांसी होने से पहले जेल की काल कोठड़ी। ताजी हवा आने के लिए झरोखा तक नहीं होता उस छोटी-सी कोठड़ी में। क्यों न किसी नये किस्म के हथियार से उस कमीने का अंत किया जाये ? ... जब अंत हो जाये तब उसी हथियार की गोली से अपना भी अंत कर लिया जाये।

जगदीश ने मोड़ काटने से पहले मुड़कर उसे देखा तो वह सकपका गया। क्या सोच रहा होगा जगदीश? कहीं उसे शक तो नहीं हो गया कि मैं बिरजू का कत्ल करने की योजना बना रहा हूँ? अगर उसने दबाव में आकर इस योजना की भनक पुलिस वालों को दे दी तो? पुलिस छोटी-छोटी बात को आसानी से बड़ी बना लेती है। तिल का पहाड़ बनाना पुलिस को ट्रेनिंग में ही सिखा दिया जाता है। काम सिरे भी न चढ़े और वह पहले ही शक की बिना पर हवालात में बंद कर दिया जाये तो? नहीं-नहीं, उसे पूरी तरह से सावधान रहना चाहिए। कोई छोटा - मोटा सबूत भी अपने आसपास नहीं छोड़ना चाहिए। कमाल तो इस बात का होना चाहिए कि साँप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे। हाँ : : : , लाठी भी न टूटे।

अपने अंतिम फैसले से वह इतना आश्वस्त हुआ कि सीधा बाथरूम में पहुंच गया। गीजर चलाकर पानी की धार को उंगली से छूकर देखा। पानी काफी गर्म आ रहा था। गर्म पानी के फुव्वारे के नीचे बैठकर वह मन और शरीर की थकान उतारने लगा।

उतरती थकान में उसने घर से निकलने के तुरन्त बाद सहसे पहला काम पिस्तौल का लाइसेंस लेने के लिए अर्जी देने का सोचा, ओर विचार किया कि इसके लिए किस बड़े आदमी की सिफारिश लगवाई जाए। सही आदमी की याद आ जाने के बाद उसकी बाछें खिल गयीं। फुआरे के संगीत के साथ किसी मोहक फिल्मी धुन को गुनगुनाते हुए उसने हथियार मिल जाने तक अपनी दूसरी तमाम योजनाएं स्थगित करके ताक पर रख दीं, और साबुन को नाक के पास ले जाकर मुग्धभाव से ऐसे गर्दन हिलाने लगा जैसे वह टीवी के विज्ञापन का मॉडल हो।

आखिर एक दिन ऐसा भी आया जब पत्नी ने आकर सूचना दी - ‘कुछ पुलिस वाले आपसे मिलना चाहते हैं।’

‘क्या कहा? पुलिस वाले!’ देखते ही देखते उसके चेहरे का रंग फीका पड़ गया।

‘हां, उनके साथ शायद कोई अफसर भी है।’ पत्नी ने पुलिस के बारे में अपनी जानकारी बघारी।

‘क्यों, पुलिस अफसर का मुझसे क्या वास्ता?’ उसने महसूस किया कि उसकी अपनी आवाज़ कुछ बैठ सी गयी है।

‘अब मुझे क्या पता, जाकर खुद ही पूछ लो क्या वास्ता है।’ पत्नी उसके बेमतलब के सवाल से झुंझला उठी।

‘तुम ही क्यों नहीं पूछ लेती कि क्या काम है?’

‘मैं औरत जात और पुलिस के सामने, ना बाबा ना, आप खुद ही जाकर पूछ लें।’

‘प्लीज़, सिर्फ इतना पूछकर बता दो कि उन्हें काम क्या है। अगर मुझसे ही मिलने आये हैं तो कुर्सियां बाहर

निकालकर उन्हें बारजे में बिठाओ।' उसने पत्नी के हाथों को अपने हाथों में लेकर इस तरह से इसरार किया कि पत्नी को उसकी बात मान लेनी ही पड़ी।

पत्नी के बाहर निकलते ही वह दरवाजे के पास पर्दे के पीछे आकर खड़ा हो गया और झिरी में से आदमियों को देखने की कोशिश करने लगा। आदमी तो नहीं दिखायी दिये पर पत्नी की आवाज़ सुनाई दे गयी - 'वो तो इस वक्त बाथरूम में हैं, जो भी काम हो आप मुझे बताएं, मैं उनकी पत्नी हूँ।'

इसके साथ ही उसे पुलिस वालों की तरफ से जवाब भी सुनाई दिया - 'देखिये, आपके पति मोहनलाल जी ने डी.सी.एम. साहब के यहां पिस्तौल का लाइसेंस लेने के लिए दर्खास्त दी थी, हम लोग उसी के बारे में छानबीन करने आये हैं।'

'अच्छा-अच्छा, आप आइये, अंदर आ जाइये।' पत्नी ने लोहे का फाटक खोल दिया।

जब तक पुलिस वाले अंदर आये तब तक वह खुद ही दरवाजा खोलकर बाहर निकल आया - 'हां-हां, बहुत देर पहले मैंने अपने वकील को एप्लिकेशन देने के लिए कहा था। ज्यादा देर हो गयी है ना, कुछ याद ही नहीं रहा। आइये आइये, अंदर आ जाइये।' उसने अर्दली की तरह आगे बढ़कर दरवाजे का पर्दा उठाया और साथ ही पत्नी को आदेश भी दिया - 'बढ़िया-सी कॉफी बनाओ और कुछ खाने के लिए भी लाओ।'

पुलिस वालों ने जो सवाल पूछे उसने नोटों की भाषा में उनका जवाब दे दिया। रही-सही कसर कॉफी के साथ परोसे गये देसी घी में तले काजुओं और बादामों ने पूरी कर दी। सब कुछ ठीक-ठाक निपट जाने के बाद उसकी खुशी दबाये नहीं दब रही थी। इस समझ ने दिमाग को कुछ ज्यादा ही स्फूर्त कर दिया था कि जब पुलिस वाले खुश-खुश चले गये हैं और उनकी रिपोर्ट भी फेवर में चली जायेगी तो समझें कि लाइसेंस मिलने में ज्यादा देर नहीं है। देश में बना कोई छोटा-मोटा सस्ता पिस्तौल नहीं खरीदेंगे, नौ गोली का बड़ा पिस्तौल लेंगे, विदेशी, ताकि गोली खाकर आदमी पानी भी न मांग सके और चीख भी उसके जबड़ों में ही दबी रह जाये। उसने हाथ आगे-पीछे करके थोड़ी वर्जिश की और दांत भींच कर उनके बीच से ही गुर्राया - 'अब देखता हूँ, वह कुत्ता मेरे हाथ से कैसे बचता है; उसकी खोपड़ी के चिथड़े-चिथड़े न कर दिये तो मेरा नाम नहीं!'

लेकिन उसे डी.सी.एम. साहब के सामने भी तो पेश होना पड़ेगा। अफसर के क्रॉस क्वेश्चनों का भी सामना करना पड़ेगा। यह मसला सामने आते ही उसका जोश थोड़ा टंडा पड़ा। अगर अफसर ने सवाल कर लिया कि पिस्तौल तुम्हें किस सम्पत्ति की हिफाजत के लिए चाहिए तो क्या जवाब देगा? हां, क्या जवाब होगा उसके पास?

जवाब मिला - अपनी सारी सम्पत्ति का हवाला दे देगा।

सवाल फिर आया - अगर इनकम टैक्स वालों को उसके इस हवाले की जानकारी मिल गयी तो : : : ? क्या वे सम्पत्ति देखने के लिए पुलिस को साथ लेकर उसके पास नहीं आ धमकेंगे?

जवाब मिला - हां, यह खतरा तो ज़रूर है। उसकी सांसें में भारीपन आ गया - यह तो बहुत बड़ी गलती होगी। बल्कि यूँ कहना चाहिये कि बलंडर। टैक्स वालों का किया गया जुरमाना तो आदमी को दिवालिया तक बना डालता है। वैसे भी आज के ज़माने में हथियार का लाइसेंस लोगों की नज़रों में आना भी खतरे से खाली नहीं है। कई गुंडे तो सिर्फ हथियार हासिल करने के लिए ही हथियार के मालिक को जान से मार देते हैं।

अब वह होठों पर उंगली रखकर कोई ऐसी तरकीब सोचने लगा जिससे किसी किस्म का खतरा भी न उठाना पड़े

और बहन के कातिल को उसके किये की सजा भी दी जा सके। उसने अपनी समझ में इजाफा किया कि जो काम कानून न कर सके उसे आदमी को अपने हाथ में ले लेना तो जरूर चाहिए लेकिन जरा बचकर, ऐसा न हो कि कानून का फंदा मुजरिम की गर्दन की बजाय उसी के गले में आ पड़े।

उसे याद आया कि जरायमपेशा लोगों की सच्ची कहानियां छापने वाली एक मैगजीन में उसने पढ़ा था कि कुछ चालाक लोग पुलिस के साथ मिलकर अपने आपको हवालात में बंद दिखा देते हैं। रात को चुपचाप हवालात से बाहर आकर कत्ल करते हैं और सुबह होने से पहले फिर हवालात में बंद हो जाते हैं। ऐसा करने से न तो कानून उनका कुछ बिगाड़ सकता है और न पुलिस, क्योंकि थाने का रोजनामचा उन्हें थाने में बन्द दिखाकर उसकी पूरी मदद करता है। उसके दिमाग ने निर्णय लिया कि यह तरीका सबसे अच्छा है। इससे सांप भी मर सकता है और लाठी पर भी खरोंच तक नहीं आयेगी।

उसने फैसला किया कि किसी दोस्त या दलाल की मार्फत पुलिस से इस परपत्र के लिए राब्ला कायम किया जाये। पहले इसी तरह की कोशिश की जाये और अगर कामयाबी न मिले तो फिर हथियार का लाइसेंस लेने की बात सोची जाए।

फौरन ही उसने फोन का रिसीवर उठाया और अपने लाइसेंस की एप्लिकेशन देने वाले वकील दोस्त का नम्बर मिलाया। मिल जाने पर दुआ-सलाम हो जाने के बाद सीधा सवाल किया - 'यहां की कोतवाली का एस.एच, ओ. आजकल कौन है?'

जबाब आया- 'क्यों, अपना एक यार है।'

उसकी जैसे बाछें खिल गयीं - 'अच्छा, तुम्हारा परिचित है।'

जवाब आया - 'परिचित नहीं, दोस्त है दोस्त। क्यों, कोई काम है क्या?'

'हाँ काम है।'

'क्या काम है?'

'फोन पर बताने वाला नहीं है। कल सुबह मैं तुम्हें तुम्हारे घर पर आकर बताऊंगा।'

'कोई चिंता की बात है?'

'नहीं, चिंता की कोई बात नहीं है। ठीक है, मैं तुम्हें कल सुबह मिलूंगा।' कहकर उसने रिसीवर रख दिया। लेकिन महसूस किया कि उसका चेहरा पसीने से तर हो गया है, दिल की धड़कन तेज चल रही है और होठों पर कसावट-सी उतर आयी है।

उसने माथे और चेहरे का पसीना पोछा, पानी पिया और फिर उसी तरह कुर्सी पर आ बैठा। अब उसके दिमाग में एक नया सवाल था- क्या इस वकील के बच्चे को इस तरह के रहस्य की बात बतानी उचित होगी? वकील लोग किसी के मित्र नहीं होते, उन्हें तो सिर्फ पैसों से मतलब होता है, कहीं सारी जिंदगी इस राज के सहारे ब्लैकमेल करता रहा तो : : : : ?

सुझाव मिला - क्यों न पुलिस से सीधा राब्ला कायम किया जाये? वकील को बीच में क्यों डाला जाये? अगर डाला जाये तो किसी नावाक़िफ आदमी को क्यों न डाला जाये? और हवालात भी किसी ऐसे शहर की चुनी जानी चाहिए जहां कोई परिचित न हो। जब परिचित ही नहीं होगा तो पहचानेगा कौन?

वह दिमाग पर जोर देकर अपरिचितों के किसी शहर का नाम खोजने की कोशिश करने लगा। एक नाम ऐसा सुझाई दे भी गया जहां एक भी रिश्तेदार या परिचित नहीं था। उसे बहुत खुशी हुई। उसने वक्त निकाल कर उस शहर में जाने का निश्चय किया और कैलेंडर पर आने वाली किसी छुट्टी की तारीख को ढूंढने में व्यस्त हो गया।

पूरे चौदह वर्ष बाद वह धूप में बैठा अपनी लाइसेंसशुदा पिस्तौल की सफाई कर रहा था। लड़का और लड़की डिग्रियां लेकर आ गये थे और वे कोठी के पिछवाड़े लगे नेट पर बैडमिंटन का खेल खेल रहे थे। उसे उन दोनों की आवाज़ बहुत भली लग रही थी, सर्दी की गुनगुनी धूप से भी कहीं ज्यादा भली। पर उसे एक मलाल भी था कि हथियार घर में होते हुए भी उसे चलाना सीखने के लिए उसे कभी फुर्सत ही नहीं मिली। पत्नी और बच्चों का भविष्य सुरक्षित करने में इस कदर उलझा रहा कि अपनी आत्मा के बोझ को उतारने की तरफ ध्यान ही नहीं दे सका।

इसी समय पत्नी ने आकर याद दिलाया - 'आप इस पिस्तौल का पीछा छोड़ें, ड्राइंग रूम में बैठा आदमी आपका इंतजार कर रहा है।'

'अरे हां, मैं तो भूल ही गया। पता नहीं इस दिमाग को क्या हो गया है, दूसरी बात कहते हुए पहली को भूल जाता हूं कि क्या कहा है।'

'बुढ़ापे में ऐसा ही होता है। मेरी भी लगभग ऐसी ही हालत हो गयी है। अब मत भूल जाना। मैंने उसे चाय और बिस्किट दे दिये हैं, बड़ी देर से बेचारा आपका इंतजार कर रहा है।'

नहीं-नहीं, अब नहीं भूलूंगा। उसने पिस्तौल को चमड़े के केस में संभाला, घुटनों पर हाथ रखकर खड़ा हो गया, फिर पिस्तौल को उठाकर कमरे की दीवार पर टांगा और कमर सीधी करता हुआ ड्राइंग रूम में पहुंच गया।

उसे देखते ही आगंतुक खड़ा हो गया - 'नमस्कार मोहन भाई।'

'नमस्कार जी।... मुआफ करना मैंने आपको...'

'पछाना नहीं सै, जेही ना। मैं जगदीश सूं थारे गाओं रामपुर का।'

'अरे, जगदीश! तुम्हारे बाल तो बिल्कुल सफेद हो गये और दाढ़ी भी इतनी बढ़ाली कि चेहरा पहचान में ही नहीं आ रहा। सब ठीक तो है ना?'

'बिल्कुल ठीक सै। थम अपनी कहो?'

'मैं भी ठीक ही हूं। और गांव की सुनाओ। मैं तो कोशिश करने पर भी वहां नहीं पहुंच सका। दिल बहुत करता है कि अपने बचपन के साथियों से जाकर मिलूं और बचपन की यादें ताज़ा करूं।'

जगदीश, जैसा कि उसका स्वभाव था, एक बार शुरू हुआ तो बस बोलता ही चला गया। पर इस बार गांव की कहानियों को सुनकर उसकी आंखों में खून नहीं उतरा। कुछ चिन्चिनाहट-सी ज़रूर हुई और उस चिन्चिनाहट की गर्माहट में उसने अपने आपको गांव के उस पुल पर खड़ा पाया जहां वह दोस्तों और साथियों के साथ नहर में तैरने का आनंद लेने जाया करता था।

बिरजू पानी से बाहर निकल कर बस कपड़े ही पहनने लगा था कि उसने पिस्तौल की नाली उसकी छाती की तरफ तानकर कहा - 'बा : : : स, अब तेरा खेल खत्म हो गया है भेड़िये! कपड़े नीचे रख दे और अपना कच्छा भी उतार।'

बिरजू ने पहले पिस्तौल को शिनाख्ती नज़रों से देखा और फिर कांपते हाथों से कच्छा उतार दिया।

अब उसका नौ गोली का विदेशी पिस्तौल है और बिरजू का नंगधड़ंग शरीर। बिरजू अपनी बालों से भरी नंगी छाती पर दोनों हाथ बांधे काँप रहा है और गिड़गिड़ा रहा है- 'मोहन, मुझे मत मार। मैं अपनी हवस का शिकार हो गया था, कुएं पर बेइज्जती करने का बदला लेने की नीच भावना में पागल हो गया था। मुझसे बहुत बड़ी गलती हो गयी, चाहे तू मेरा गुप्त अंग काट दे मुझे जान से मत मार।'

धांय, धांय धांय की आवाजों के साथ पिस्तौल की नौ गोलियां एक-एक करके नाली से बाहर निकल गयीं और बिरजू का छलनी हुआ शरीर कटे हुए पेड़ की तरह ज़मीन पर ढेर हो गया।

इधर एक झटके के साथ वह उठ खड़ा हुआ और लगातार बोल रहे जगदीश की आवाज के प्रवाह में कूदकर फड़फड़ाया - 'छोड़ो ये फिज़ूल की बातें, बिरजू के बारे में बताओ, बिरजू के बारे में! बताओ कि उसके कोई नयी कोठी खड़ी की है या कि नहीं। उसका मामा इंस्पेक्टर यादव रिटायर हुआ है या कि नहीं।'

मोहन का यह दौरा पड़ने की तरह सहसा बदला रूप जगदीश की समझ में नहीं आया। वह हक बका गया - 'कौनहू बिरजू?'

'भूल गये! वही, जिसको बचाने के लिए सरपंच की बेटी करमी ने अपनी गवाही का रंग बदल दिया था। जो पाप का घड़ा भर जाने के बाद भी पूरे इलाके में दनदनाता फिरता है। जो बड़ा से बड़ा अपराध करके भी पुलिस के हाथों को धत्ता बता रहा है!'

'अच्छा, वो बिरजू!'

'हां, वो बिरजू, जिसने साबित कर दिया है कि गांव के सब लोग इंसान नहीं गीदड़ हैं, जो अपनी बहू - बेटियों की इज्जत भी नहीं बचा सकते। डूब मरना चाहिए ऐसे गांव वालों को चुल्लू भर पानी में नाक डुबो कर, जो एक गुंडे को भी अब तक ठिकाने नहीं लगा सके।'

जगदीश के दिल में आया कि कठोर शब्दों में पूछे - थम ने क्या कर लिया गुंडे का? पर उसके मुंह से इतना ही निकला - 'गाओं के सरीफ लोगन पर गुस्सा काहे को उतारत हो मोहन बाबू, क्यों सबको फिज़ूल मां कोसत हो, बिरजू इब इस धरती पर कहां सै।'

'क्या कहा? फिर से कहो।' उसके मुर्झाये कपोलों पर चमक उभर आयी।

'हाँ साहिब, बिरजू तो कब का मर - खपके ऊपर की दुनिया मां पहुंच गया सै। सराब घनी पीने तै उसकी आंतें और गुर्दे बुरी तरों खराब हो गये थे। कुछ दिन हासपीटल मां पड़या रिहा अर फेर उहीं उसके प्राण पखेरू उड़ी गये।'

'अरे जगदीश, मेरे प्यारे दोस्त जगदीश, यह बात तुमने मुझे आते ही क्यों नहीं बतायी।'

'थम ने पूछी ही नहीं।'

उसने आगे बढ़कर जगदीश के बदबू से भरे शरीर को आलिंगन में कस लिया - 'भगवान के घर देर ज़रूर है पर अंधेर नहीं है।'

फिर उसने जगदीश को एक झटके के साथ परे हटा दिया और अपनी विजय की कहानी प्यारी पत्नी को सुनाने के लिए खुशी - खुशी अंदर के कमरे की तरफ बढ़ गया।



देवता

-डॉ० प्रदीप शर्मा 'स्नेही'

आधी रात को मुंशी अब्दुरहीम की नींद खुली तो उन्होंने अपने प्रिय शिष्य चन्द्रभान को पैर दबाते पाया। “चन्द्रभान, तू सोयेगा कब? क्या सारी रात मेरे पैर ही दबाता रहेगा पगले! रात बहुत हो गई है। जा अपने घर और सो जा।” मीठी झिड़की देते हुए मुंशी जी ने कहा।

चन्द्रभान को गुरुभक्ति का नशा था। प्रतिदिन रात्रि को पहले वह मुंशी जी का हुक्का ताजा करता। करीने से तम्बाकू जमा कर उनकी कलात्मक चिलम भर कर उनके कामदार हुक्के पर सजाता। फिर रात देर गये तक मुंशी जी के पैर दबाता। मुंशी जी हुक्का गुड़गुड़ाते रहते व साथ-साथ चन्द्रभान को पढ़ाते भी रहते। कभी-कभी उन्हें झपकी आ जाती। पर चन्द्रभान पैर दबाना जारी रखता।

एक दिन वह नित्य की भाँति गुरुजी जी के पैर दबा रहा था कि अचानक वे उठ बैठे और उन्होंने चन्द्रभान को गले लगा लिया। उनकी आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बह निकली। चन्द्रभान को कुछ समझ नहीं आ रहा था कि गुरु जी को क्या हो गया है। मुंशी जी की लम्बी सफेद दाढ़ी आँसुओं से तर हो गयी थी।

“चन्द्रभान, लगता है तुम पर पिछले जन्म का कुछ उधार बाकी है जो मुझे चुकाना है। तू तो अनमोल हीरा है। पढ़ने में भी ज़हीन और गुरुभक्ति में भी तेरा कोई सानी नहीं। इतनी सेवा तो कभी मेरे अपने बेटे ने नहीं की। पढ़ लिख कर तू शिक्षक बनना चाहता है न ! मेरी बात को याद रखना-एक दिन शिक्षक ही नहीं बनेगा तू , एक श्रेष्ठ शिक्षक के रूप में तेरी गणना होगी।” कहते-कहते मुंशी जी ने चन्द्रभान का माथा चूम लिया।

मिडिल स्कूल तक की शिक्षा चन्द्रभान ने मुंशी अब्दुरहीम की ही छत्रछाया में प्राप्त की। एक गरीब परिवार से सम्बन्ध रखने वाले अपने प्रिय शिष्य की मुंशी जी आर्थिक मदद भी कर दिया करते थे।

टीचर ट्रेनिंग में भी दाखिला उसे मुंशी जी की ही बदौलत मिला था। उनका वरदहस्त उस पर सदा बना रहा। अच्छे अंकों से चन्द्रभान ने परीक्षा उत्तीर्ण की।

ट्रेनिंग के कुछ ही महीनों बाद चन्द्रभान की नियुक्ति एक प्रतिष्ठित विद्यालय में हो गयी। नियुक्ति के प्रथम दिन से ही उसने मुंशी जी के स्वप्न को साकार करना आरम्भ कर दिया।

कुछ ही वर्षों में उनकी ख्याति एक समर्पित व कर्मठ शिक्षक के रूप में हो गयी। मास्टर चन्द्रभान विद्यार्थियों के चहेते बन गये। वे सबसे पहले विद्यालय में आते व सबसे देर में जाते। गणित व हिन्दी पर उनका समानाधिकार था। पर गणित उनका प्रिय विषय था। गणित के कठिन से कठिन प्रश्नों को हल करना उनके बायें हाथ का खेल था। आसपास के विद्यालयों के शिक्षक तक अपनी शंकाओं के समाधान के लिए उनके पास आते। रविवार को भी वे बच्चों को बुलाते। नीम के पेड़ों की शीतल व घनी छाया में गणित के प्रश्नों को हल करने में मास्टर जी घण्टों एक कर्मयोगी की मानिंद

लगे रहते। ज्ञानपिपासु विद्यार्थी उनकी एक-एक बात ध्यान से सुनते। कोई भी उनकी कक्षा न छोड़ता। यहाँ तक कि दूसरे सेक्शन के विद्यार्थी रविवार को उनसे पढ़ने में अपना सौभाग्य समझते।

पढ़ाने के साथ, मास्टर जी को लिखावट में महारत हासिल थी। उनकी लिखावट ऐसी थी कि लड़ी में पिरोये मोती भी एकबारगी शरमा जाये। मोटी, पतली, विभिन्न प्रकार की बाँस व सरकण्डों की कलमों का एक अच्छा खासा संग्रह था उनके पास। इन्हीं कलमों से उन्होंने विभिन्न विषयों के कई सौ चार्ट बनाकर विद्यालय को समर्पित कर दिये थे। विद्यालय के निरीक्षण के समय उन्हीं के चार्ट सभी कक्षाओं की शोभा बढ़ाते। उच्चाधिकारी भी उनकी अत्यन्त सुन्दर लिखाई के कायल थे। अपनी इस कला को भी विद्यार्थियों में बाँटने का वे पुरजोर प्रयास करते।

चाहे विद्या दान की बात हो या लेख सुधारने की, सभी विद्यार्थी उनसे कुछ न कुछ प्राप्त करने के लिए लालायित रहते। बदले में वे विद्यार्थियों से कोई अपेक्षा न करते। गन्ने के रस की खीर, बथुए व सरसों के साग से उन्हें विशेष लगाव था। कभी कभार अपने विद्यार्थियों से गन्ने के रस, बथुए और सरसों के साग के अतिरिक्त वे कुछ भी स्वीकार न करते।

खादी का कुर्ता पाजामा उनकी प्रिय पोशाक थी। सर्दियों में जैकेट या बंद गले का कोट उनकी शोभा बढ़ाता। एक नन्हा सा खूबसूरत डंडा, विद्यालय में हमेशा उनके हाथ में रहता। लापरवाह व अनुशासनहीन विद्यार्थियों की वे अच्छी खबर लेते थे।

विक्रमादित्यकालीन प्राचीन सूखे तालाब के किनारे स्थित अपने विद्यालय में, मास्टर जी ने नियुक्ति के प्रारम्भिक वर्षों से ही चार दीवारी के साथ-साथ फलदार वृक्ष लगा दिये थे। कुछ वर्षों बाद वृक्ष फल देने लगे थे। शहतूत व जामुन के पेड़ों की अधिकता थी।

मीठी काली जामुनें व रसीले शहतूत विद्यार्थियों, शिक्षकों व राहगीरों को तृप्त करते। बच्चों को जामुन खाते देख मास्टर जी का हृदय कमल खिल उठता। बिन खाये ही उनका मन परितृप्त हो जाता। छुट्टी वाले दिन विद्यार्थी, जामुन के पेड़ों पर 'काई डंका' खेलते। धीरे-धीरे मास्टर जी विद्यार्थियों के मध्य जामुन वाले मास्टर जी के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

मास्टर व उनके छोटे भाई का परिवार यमुना के किनारे बसे एक छोटे से गाँव में रहता था। दस सदस्यों के परिवार में वे एक मात्र कमाऊ सदस्य थे। छोटा भाई सूरजभान गाँव में सिलाई का काम करता पर परिवार बड़ा होने के कारण वह अभाव में ही रहता। मास्टर जी यथासम्भव भाई की मदद करते। उसके बच्चों को पढ़ाने में दिन - रात एक करते। प्रति रविवार गले-गले पानी में यमुना पार कर वे बच्चों को पढ़ाने गाँव जाते। दोनों भाईयों व उनकी पत्नियों में उत्कट प्रेम पूरे गाँव में चर्चा का विषय रहता। सभी मुक्तकंठ से उनकी सराहना करते।

'सूरजभान', तेरा भाई हीरा है हीरा! ऐसा भाई ढूँढने से भी नहीं मिलेगा, गाँव के सरपंच हल्कू चौधरी अक्सर कहा करते।

'सरपंच साहब, ठीक कहते हो आप, पर मेरा भाई तो हीरे से भी कही बढ़कर है वह तो देवता है - देवता! मैं तो भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि मुझे हर जन्म में ऐसा भाई मिले' कहते-कहते सूरजभान की आँखों से आँसू झरने लगते।

मास्टर साहब की पत्नी फूलवती एकदम अनपढ़ मगर गुणी महिला थी। दोनों भाइयों की पत्नियां सगी बहनें थी। छोटी बहन की मृत्यु के पश्चात् उसके सभी बच्चों को माँ का प्यार देने में वह कभी पीछे नहीं रही। बच्चे भी उन्हें माँ कह कर ही पुकारते।

दस वर्ष की कच्ची उम्र में जब फूलवती ब्याह कर आई तो उसे विवाह का अर्थ ही न पता था। न ही उसे घर का

कोई काम ही आता था। धीरे-धीरे मास्टर जी का उस पर ऐसा रंग चढ़ा कि फूलवती सुबह-शाम प्रभु के भजन गुनगुनाने लगी और अपने हस्ताक्षर तक करना सीख गयी। मास्टर साहब जब बच्चों को पढ़ाते तो वह ध्यान पूर्वक सुनती। गाँव भर में पाले की माँ और गुल्लू की दादी के नाम से जानी जाती मास्टरनी फूलवती को कई कविताएँ भी कंठस्थ हो गई थीं। जब वह कभी बच्चों को कविता सुना रही होती तो मास्टर जी की हँसी रोके न रुकती। पर मन ही मन उन्हें बहुत अच्छा भी लगता। अनपढ़ को जब गाँव की महिलाएँ मास्टरनी कहकर बुलाती तो ओढ़नी का पल्लू मुँह पर रख कर शरमाती पर अन्दर ही अन्दर मुस्कुराती भी।

आज मास्टर चन्द्रभान के चालीस वर्ष के दीर्घ एवम् सफल अध्यापक काल का अंतिम दिन था। आज वे और दिनों की अपेक्षा जल्दी उठ गये थे। दैनिक कार्यों से निवृत्त हो उन्होंने प्रभु अर्चना की। नया कुर्ता-पाजामा और नई जूतियाँ पहन, गले में मफलर और सिर पर गाँधी टोपी लगाई और बरसों से संभाल कर रखी मुंशी अब्दुरहीम द्वारा स्नेहपूर्वक भेंट की गयी जाकेट पहनकर विद्यालय जाने के लिये तैयार हो गये।

मास्टर साहब की पत्नी फूलवती देसी घी के हलवे की बेली लेकर काफी देर से मास्टर जी की इन्तजार में खड़ी थी। 'मुझे आज भूख नहीं है फूलवती आज मेरा मन वैसे ही भरा हुआ है' मास्टर जी ने आँसुओं को किसी तरह ज़ज्ब करते हुए कहा। 'आज मैं आपको यूँ ही नहीं जाने दूँगी। कितनी खुशी का दिन है आज। फिर तुम तो जीवन भर सभी को खुशियाँ बाँटते रहे हो। थोड़ी सी खुशी और आज मुझे दे दो। और तुम्हें तो हलुआ बेहद पसन्द भी है न! थोड़ा सा खा लो' कहते कहते फूलवती भावुक हो उठी। "फूलवती, तू मानेगी थोड़े ही, तेरी पुरानी आदत है न अपनी बात को मनवाने की...." मास्टर जी सोच रहे थे, अनपढ़ फूलवती समय के साथ कितनी समझदारी की बातें करने लगी है।

मास्टर जी ने जल्दी-जल्दी, हलुए के कुछ निवाले गटके और तेज़ कदमों से विद्यालय की ओर चल पड़े। उनकी चाल में भले ही पहले की सी तेज़ी न रही हो, लेकिन चेहरे पर अपूर्व तेज़ व्याप्त था। उनके मन का एक कोना अव्यक्त पीड़ा से आप्लावित था।

मास्टर जी ने अपनी कक्षाएँ अपने चिरपरिचित अंदाज में पूर्ण समर्पण भाव एवम् मुस्तैदी से पढ़ायी। दिन की अंतिम कक्षा में भी ब्लैकबोर्ड पर उसका चाक सरपट दौड़ रहा था। कक्षा समाप्त कर उन्होंने विद्यार्थियों को आशीर्वाद दिया व जाने के लिए कहा। पहली बार विद्यार्थियों ने उनका आदेश नहीं माना था। वे वहीं खड़े रहे। अपने सबसे प्रिय शिक्षक से जुदाई की उन्हें भी कम पीड़ा न थी। वे उनसे बिछुड़ना नहीं चाहते थे। मास्टर जी ने पुनः आशीर्वाद देते हुए एक एक विद्यार्थी को गले लगाया और उनसे विदा ली।

विद्यार्थियों के जाने के बाद मास्टर जी शान्त भाव से कक्षा में रखी कुर्सी पर बैठ गये। अपने चालीस वर्ष के अध्यापकीय जीवन में कक्षा में वे पहली बार कुर्सी पर बैठे थे। वे एकाएक ध्यान मग्न हो गये। आज उन्हें मुंशी अब्दुरहीम की बेसाखा याद आ रही थी। उन्हें लगा कि मुंशी जी साक्षात् सामने खड़े हैं, मानो कह रहे हों, "मैं न कहता था चन्द्रभान, तू एक दिन महान शिक्षक बनेगा। तेरे विद्यार्थियों को तुझ पर गर्व होगा। आज सही अर्थों में तूने मेरे शिष्यत्व को सार्थक किया है।" मास्टर जी की आँखों से झर-झर आँसू बहने लगे।

विद्यालय परिवार के सभी सदस्य, विद्यालय के लगाये गये पंडाल में बैठ मास्टर जी की प्रतीक्षा कर रहे थे। कुछ ही देर बाद उनका विदाई समारोह आरम्भ होने वाला था। विभिन्न क्षेत्रों में उच्चपदों पर कार्यरत उनके अनेक शिष्य भी विशेष रूप से आये थे। जब काफी देर के बाद भी मास्टर जी नहीं आये तो प्रधानाचार्य महोदय ने रामखिलावन माली को उन्हें

बुलाने भेजा।

काफी देर बाद रामखिलावन के खाली लौटने पर प्रधानाचार्य ने कारण पूछा। “बड़े साहब, मास्साब को कुछ हुई गवा लगता है। कछु ओपरे वोपरे का चक्कर लागत है। आँखें बंद किये मास्साब कभी ब्लैकबोर्ड को छू - छू देखत है। कबहूँ जामुन के पेड़वा को बार - बार लिपटत है और चूमत जात है। कबहूँ बागवा की मिट्टी को सिर पर लगावत है” रामखिलावन ने आशंका जताई।

पंडाल में सन्नाटा परस गया था। सभी की आँखें सजल हो उठी थी। किसी को कुछ कहते नहीं सूझ रहा था। तभी सन्नाटे को भंग करते हुए भाव विह्वल होकर मुख्याध्यापक बोले, “तुम नहीं समझोगे रामखिलावन। मास्टर चन्द्रभान ने इस विद्यालय को अपने स्वेद बिंदुओं से सींचा है। यहाँ के पेड़ पौधों, चॉक, ब्लैकबोर्ड, डेस्क, कुर्सियों और यहाँ के विद्यार्थियों में उनकी आत्मा बसती है। वे तो इस विद्यालय के कोहिनूर हैं - जिन पर हमें नाज़ है। वे विदा होकर भी यहीं रहेंगे - जामुनों व शहतूतों की मिठास में, यहाँ के फूलों की सुरभि में और यहाँ के विद्यार्थियों में। उनकी कमी हम कभी पूरी न कर पायेंगे कभी नहीं” कहते - कहते उनका गला रुँध गया था।

पंडाल में उपस्थित सभी जन अश्रुपूरित नेत्रों से मास्साब के आने की चुपचाप प्रतीक्षा करने लगे।



मेरा मनकू

-धर्मपाल साहिल

उस नए मकान में आए हमें एक सप्ताह भी नहीं हुआ था कि पत्नी ने पुनः मकान बदलने की रट लगा दी। वह उस नए माहौल से एकदम परेशान हो उठी थी। पहले ही दिन उसने चिंतित स्वर में कहा- “वो सामने के मकान वालों का 8-10 वर्षीय लड़का मनकू है न, बहुत ही गंदी गालियां निकालता है अपने मां-बाप को। हमारे बच्चों पर भी इसका असर पड़ सकता है। वैसे भी बच्चे बुरी आदतें जल्दी सीख लेते हैं।”

“ठीक है, ऐसे गंदे बच्चे के साथ अपने बच्चों को बिल्कुल न खेलने दो।” मैंने पत्नी को समझाया। दूसरे दिन मैं स्कूल से लौटा ही था कि पत्नी रोष प्रकट करते हुए बोली, “मालूम है आज क्या किया उस मनकू के बच्चे ने?”

“क्या किया?”

“हमारा सोनू जब स्कूल से आ रहा था तो मनकू ने उसके पांव में पत्थर मारा। जब मैंने उसकी मां से शिकायत की तो उसने उसे डांटा तक नहीं, उल्टा उसे चूमने-चाटने लगी।”

मैंने एक कप चाय की इच्छा प्रकट की तो चाय बनाते समय भी पत्नी बड़बड़ाए जा रही थी, “आज मैंने ज़हर का घूंट पी लिया। आइन्दा उसने मेरे बच्चों को कुछ कहा तो मैं उसकी टांग तोड़ दूंगी फिर न कहना मैं लड़ाकी हूँ।”

तीसरी रात लगभग 11 बजे मनकू की मां ने हमें सोते हुए जगाया, “बहन जी, थोड़ी सूजी है तो दे दो। मेरा मनकू हलवा खाने की ज़िद कर रहा है। घर में खत्म है। बाज़ार भी बन्द हो गया। मनकू का बापू कहने लगा, जा मास्टर जी के घर पूछ आ।”

पत्नी ने न चाहते हुए भी कटोरी भर सूजी दे दी मगर उससे कोई बात न की। वह जाती हुई कह गई, “बहन जी, फ्रिक मत करना जल्दी ही लौटा दूंगी।” दरवाजा जोर से बन्द कर पत्नी उबल पड़ी, “देखा आपने, कैसे सिर पर चढ़ा रखा है इन्होंने अपने लाडले को! दूसरों की नींद का भी ख्याल नहीं इन्हें। मेरा बच्चा ऐसी ज़िद करे तो गला दबाकर मार दूं। दूध पीता बच्चा थोड़े ही है मनकू। अच्छा भला है। स्कूल भेजें तो कुछ अक्ल आए उसको।” बड़बड़ाती हुई पत्नी सो गई थी।

एक रविवार मैंने घर पर रहकर देख लिया था कि सचमुच मनकू का व्यवहार बहुत अजीब था। वह खाने के लिए चावल मांगता। चावल बनते-बनते उसकी पसंद बदल जाती। वह पूरी मांगने लगता। मां पूरी बना कर परोसती तो बर्फी मांगने लगता। बस दौड़ पड़ती वह बाज़ार की ओर। कुछ देर होती तो आकाश सिर पर उठा लेता। यह निक्कर नहीं, बन्टी जैसी पैंट चाहिए। यह चप्पल नहीं—जूते, चमड़े के नहीं, कपड़े के... नहीं चूँ-चूँ की आवाजें निकालने वाले। उसकी मां उसकी हर इच्छा पूरी करने में कोई कसर न छोड़ती, लेकिन थोड़ी-सी ही असमर्थता प्रकट करने पर वह बर्तन

पटकने लगता, दरवाजा तोड़ने लगता। अपनी मां के बाल नोच लेता। कर्ण-भेदी स्वर में इतनी भद्दी गालियां निकालता कि धरती फट जाए। कभी दुःखी होकर वह कह बैठती, “तू पैदा होते ही मर जाता तो सब्र कर लेती।” इतनी बात सुनते ही हर समय शराब के नशे में धुत्त रहने वाला मनकू का बाप उस पर पिल पड़ता, “हरामजादी, मेरा मनकू जो कहता है वही कर।” फिर अश्लील गालियां, मारना-पीटना, रोना-चिल्लाना। पुत्र-मोह में तो उसने धृतराष्ट्र को पीछे छोड़ दिया था। मेरा मनकू... मेरा मनकू कहता नहीं थकता था। मनकू को इस हद तक बिगाड़ने में उसकी मां से अधिक उसका बाप दोषी लगता था।

पत्नी इस माहौल से अत्यन्त तंग आ चुकी थी। वह इस मकान में एक पल भी ठहरना नहीं चाहती थी। मैंने पत्नी को समझाना चाहा, “देखो रश्मि, रोज-रोज मकान बदलना हमें शोभा नहीं देता ओर लोग भी तो रह रहे हैं, थोड़ा तुम भी एडजस्टमेंट करके देख लो। मैं तुम्हारे अन्तर्मन की व्यथा को भली-भांति समझता हूँ।” लेकिन पत्नी भी जैसे अपनी ज़िद में मनकू से आगे निकलना चाहती थी।

मात्र सप्ताह भर उस मकान में रहने के बाद ग्रीष्मावकाश के कारण स्कूल दो माह के लिए बन्द हो गए। बच्चे तो गांव जाने के लिए कभी से तैयार बैठे थे। अगली सुबह हम रिक्शे पर सवार होकर रेलवे स्टेशन जा रहे थे कि सामने से आते हुए एक रिक्शे पर बंदरिया की भांति मनकू को छाती से लगाए उसकी मां बैठी थी। एक हाथ में गुब्बारा और दूसरे हाथ में पकड़ा लालीपॉप चूस रहा था। पत्नी ने नाक-भौंह सिकोड़कर कहा, “सुबह ही घूम आई है बाजार, अपने नवाबजादे के साथ। मुझे तो यह सब इसके चोंचले लगते हैं। अपना स्वाद पूरा करने के लिए मनकू का बहाना करती फिरती है।”

गांव में भी रश्मि ने मकान बदलने की रट लगाए रखी। मजबूर होकर मैंने अपने मित्र-अध्यापक रामनाथ को पत्र लिखा कि वह अपने मोहल्ले में हमारे लिए मकान तलाश करें। उस शहर में हमारा यह सातवां गृह-प्रवेश था। तंग आ चुका था, बार-बार इस अदला-बदली से। महानगरों में किराए के मकान की तलाश कितनी विकट समस्या है, यह तो कोई मुझसे पूछे। आकाश छूते किराए, अनोखी शर्तें, कई महीनों का एडवांस, साल-भर से अधिक टिकने नहीं देते। कभी बेटी की शादी का बहाना तो कभी मकान बेचने का। लेकिन इस मकान के साथ ऐसी कोई समस्या नहीं थी। मकान मालिक विदेश चला गया था, आठ-दस साल तक लौटने की संभावना नहीं थी। शहर के बीचोबीच होने के कारण हर सुविधा उपलब्ध थी। यह मकान मिलने पर मैंने चैन की सांस ली थी लेकिन पता नहीं था कि सिर मुंडाते ही ओले पड़ेंगे। दोबारा मकान ढूंढना, सामान शिफ्ट करना, मन झुंझला उठता था यह सोचकर।

जल्दी ही रामनाथ का पत्र आया कि मुनासिब किराए पर मकान ढूंढ लिया है। बरसात शुरू होने वाली है, हो सके तो छुट्टियों में ही मकान देखकर शिफ्ट कर लें। पत्र पढ़कर पत्नी बाग-बाग हो उठी। वह जल्दी मचाने लगी कि कहीं यह मकान हाथ से निकल न जाए। अभी कई रिश्तेदारों से मिलना था।

जल्दी-जल्दी इन सब कामों से सुर्खरू होकर हम स्कूल खुलने से एक सप्ताह भर पहले लौटे तो गली में अपूर्व शांति थी। सूई भी गिरे तो आवाज हो। दोपहर तक सोकर हमने यात्रा की थकान उतारी। शाम को नया मकान देखने का कार्यक्रम बनाया।

हम तैयार होकट गेट तक पहुंचे ही थे कि मनकू की मां आ गई। पत्नी की त्योंरियां चढ़ गई। नमस्ते कर उसने सूजी से भरी कटोरी आगे बढ़ाते हुए कहा, “बहन जी, आपकी सूजी देनी थी।” “रहने दो न बहन जी, मनकू भी तो हमारे सोनू-मोनू जैसा ही है। उसे फिर खिला देना हलवा बनाकर....” सुनते ही वह आर्द्र कंठ व सूजी हुई लाल आँखें भरकर बोली, “बहन जी, किसे खिलाऊंगी, मेरा मनकू तो इस दुनिया से....!”

“बहन जी, उसे कैंसर था। डाक्टरों ने जवाब दे दिया था। आखिरी स्टेज थी, कहते थे कभी भी धोखा दे सकता है, बस इसकी सेवा करो। आपके जाने के एक सप्ताह बाद ही मेरा मनकू.....।”

वह फूट-फूट कर रो पड़ी। पत्नी फटी-फटी आंखों से उसे देख रही थी। मेरे पांव जमीन में धंसते जा रहे थे।



एक बूँद

-डॉ. संतोष सूद

कैद है
बादलों के घेरे में
पानी की एक बूँद
छटपटाती है
मुक्त होने को
धरती पर आने को
फूलों की सुगन्ध से
सुगन्धित हो जाने को
हरियाली का स्पर्श पाने को
धरती की-सी विशालता पाने को
किन्तु

बादल है ज़िद पर अड़ा
कैसे छोड़ दूँ तुम्हें
हूँ अधूरा मैं भी बिन तेरे
तू तो मुझसे अलग हो
धरती पर जा सबको पुष्पित कर,
सुगन्धित कर, आनन्दित कर
होगी अभिनन्दित
पर मेरा क्या ?
भटकता रहूँगा अकेला आकाश में।
पर, तेरी ज़िद है तो जा
स्वच्छंद विचरण कर धरा पर
आग्रह है तुमसे

लौटना अवश्य
इस अपूर्ण को संपूर्ण करने।
हाँ, लौटूंगी तो अवश्य तुम्हारे पास
वाष्प बन कर
लेकिन तुम भी-दो मुझे विशालता,
बनाओ बूंद से समुद्र।
बना दो मुझे भी अपूर्ण से संपूर्ण।



तुम एक बार आना फिर

-डॉ प्रदीप शर्मा 'स्नेही'

निर्भया,
तुम एक बार
आना फिर
मुक्त हो जायेगा
जब यह देश
नारी अस्मिता से
खिलवाड़ करते
खूनी दरिन्दों से
पग - पग पर नारी को
अपमानित करते
नर - पिशाचों से
पत्थर की देवियों को पूजते
हाड़ - माँस की देवियों को नोंचते
वहशी आदमखोरों से
संस्कारों की होली जलाते
वहशियों से
जननी का दूध लजाते कंसों से।
व्यर्थ नहीं जायेगा
तुम्हारा बलिदान
जरूर मुक्त होगा यह देश
पुनः एक बार राक्षसों से
परिणत होगा एक बार पुनः
यह देश गौरवशाली भारत में
जहाँ नारी का सम्मान होगा
उसे बराबरी का हक होगा
तब तुम एक बार
आना फिर।

निर्भया सभी को जगाकर तुम स्वयं सो गयी

-डॉ प्रदीप शर्मा 'स्नेही'

निर्भया

तुम्हें शत् - शत् नमन है

नमन है तुम्हारी

संघर्ष शीलता व जिजीविषा को

सोते हुए समाज को जगाकर

तुम स्वयं सो गयी

गहरी नींद

कभी न उठने के लिए

चली गयी उस दुनिया में

जहाँ बलात्कार नहीं होते

चहुँ ओर नहीं होती जहाँ

अपमानित और तिरस्कृत नारी

न ही आँकी जाती कमतर

श्रेष्ठता सर्वत्र सिद्ध करने पर भी

न ही पाती

दोयम दर्जे का व्यवहार हर ओर

घर के अन्दर और बाहर भी

न ही मारी जाती जहाँ

जन्म से पहले

और जन्म के बाद भी।

वह दुनिया बेहतर है

जहाँ तुम्हें न अपमानित होगा पड़ेगा

न ही परीक्षा देनी होगी पग - पग पर

न भुगतना होगा दंड नारी होने का

तुम वहाँ सो सकोगी चैन की नींद

अनन्त काल तक।

सम्पर्क सूत्र :

- (1) डॉ. विनोद शाही 9, चीमा नगर, एक्सटेंशन, मिट्टापुर रोड, जालन्धर
- (2) डॉ. तरसेम गुजराल 444, ए राजा गार्डन, पोस्ट ऑफिस, बस्ती बावा खेल, जालन्धर 144021
- (3) डॉ. राजेन्द्र टोकी भीष्म प्रकाश पार्क (मेन गेट), पीर खाना रोड, गोकुलपुरी, खन्ना (पंजाब)
- (4) डॉ. पूरनचंद टण्डन हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- (5) डॉ. विनोद कालरा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कन्या महाविद्यालय, जालन्धर
- (6) डॉ. हरीश कुमार सेठी सहायक प्रोफेसर, ब्लॉक-15 सी, अनुवाद अध्ययन एवं प्रशिक्षण विद्यापीठ, इग्नू, मैदानगढ़ी, दिल्ली- 110068
- (7) डॉ. भवानी सिंह शोध अधिकारी, हिमालयन एकीकृत अध्ययन संस्थान, हिमाचल प्रदेश, विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला
- (8) डॉ. संतोष सूद 277/डी, किशनपुरा, जालन्धर
- (9) डॉ. संजीव डावर हिन्दी विभाग, आर.के.आर्य कॉलेज, शहीद भगत सिंह नगर, नवांशहर (दोआबा)
- (10) डॉ. रामनिवास मानव अनुकृति 706, सेक्टर-13, हिसार (हरियाणा) पिनकोड- 125005
- (11) डॉ. सरबजीत कौर राय अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लायलपुर खालसा कॉलेज फॉर विमेन, जालन्धर (पंजाब)
- (12) डॉ. रूपिका भनोट हिन्दी विभाग, कन्या महाविद्यालय, जालन्धर
- (13) डॉ. अनुशोभा हिन्दी विभाग, कन्या महाविद्यालय, जालन्धर
- (14) डॉ. गोपी राम शर्मा डॉ. भीमराव अम्बेदकर राजकीय महाविद्यालय, श्रीगंगानगर (राजस्थान)
- (15) डॉ. लीम चंद राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय-II चण्डीगढ़
- (16) डॉ. नीरू मेहता अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डी.ए.वी. कॉलेज, होशियारपुर
- (17) डॉ. कंचन गोयल हिन्दी विभाग, एस.डी. कॉलेज फॉर विमेन, मोगा (पंजाब)
- (18) डॉ. कंचन कुमारी गाँव पचाहड़ी, डाकघर खड़िहार, तहसील व जिला-कुल्लू (हिमाचल प्रदेश)
- (19) सुत्री तेजिन्दर कौर हिन्दी विभाग, कन्या महाविद्यालय, जालन्धर
- (20) डॉ. अमरदीप द्योल हिन्दी विभाग, लायलपुर खालसा कॉलेज फॉर विमेन, जालन्धर
- (21) डॉ. सुनीता कोहली 705, जालन्धर कुंज, विक्टोरिया पार्क के पास, कपूरथला रोड, जालन्धर 144013
- (22) ऋतु अनमोल चंद हिन्दी विभाग, कन्या महाविद्यालय, जालन्धर
- (23) डॉ. भावना ई.डी. 32 ठन मोहल्ला, खिंगरा गेट, जालन्धर
- (24) निशा चौहान शोधार्थी, हिमाचल प्रदेश, विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला
- (25) कल्पना रानी शोधार्थी, हिन्दी विभाग, हिमाचल प्रदेश, विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला
- (26) प्रकाश चन्द शोधार्थी, हिन्दी विभाग, हिमाचल प्रदेश, विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला
- (27) डॉ. कुसुम 2018, सेक्टर-27 सी, चण्डीगढ़
- (28) राकेश वत्स नवल किशोरी वत्स, 4466/67, सरस्वती कॉलेज, सदर बाजार, अम्बाला छावनी - 133001
- (29) डॉ. प्रदीप शर्मा 'स्नेही' प्राचार्या, एस.ए.जैन कॉलेज, अम्बाला शहर (हरियाणा)
- (30) धर्मपाल साहिल पंचवटी, एकता एन्क्लेव-2 बुल्लोवाड़ी, होशियारपुर (पंजाब)